महारानी कुन्ती की शिक्षाएँ

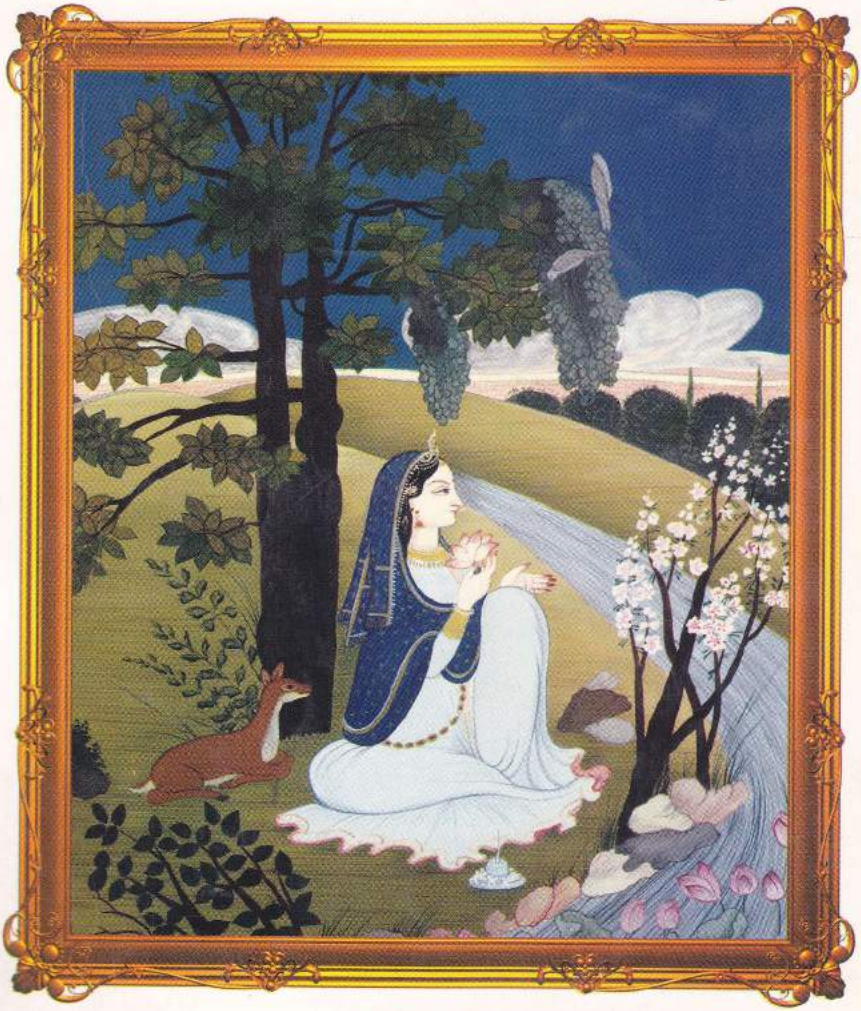

कृष्णकृपामूर्ति
श्री श्रीमद् ए.सी. भक्तिवेदान्त स्वामी प्रभुपाद
संस्थापकाचार्य : अन्तर्राष्ट्रीय कृष्णभावनामृत संघ

VIPUL Ji

महारानी कुन्ती की शिक्षाएँ

विषय-सूची

भूमिका सात-बारह

१. आदि पुरुष १
२. इन्द्रियों से परे ३
३. परम बुद्धिमती महिला ६
४. सर्वव्यापक सत्य, कृष्ण, के पास पहुँचना १३
५. कमलों का दृश्य २५
६. इन्द्रियों के स्वामी अर्थात् हृषीकेश ३१
७. घातक मुठभेड़ें ४०
८. विपदाएँ आती हैं तो आवें ४९
९. माया के ज्वर को कम करना ६०
१०. निर्धन का धन ६९
११. परमशक्ति का स्पर्श ८०
१२. भ्रामक लीलाएँ ८८
१३. विश्वात्मन् ९७
१४. कृष्ण की अद्भुत लीलाएँ १०८
१५. जन्म-मृत्यु से परे ११७

१६. स्वाभाविक चेतना में लौटना १२५
१७. संसार का भार उतारना १३४
१८. अज्ञान तथा कष्ट से मुक्ति १४३
१९. माया के प्रभाव को लाँघ करके आगे १५३
२०. पूर्ण शरणागति १६३
२१. हमारा वास्तविक मूल्य क्या है? १७१
२२. कृष्ण की उपस्थिति में शोभा १७९
२३. प्राकृतिक सम्पदा १८८
२४. स्नेह-बन्धन को काटना १९६
२५. अनन्य भक्ति २०७
२६. कृष्ण की महिमा से सम्मोहन २१८

भूमिका

प्राचीन भारत के इतिहास में विस्फोटक युग में से महारानी कुन्ती का दुखद एवं वीरतापूर्ण व्यक्तित्व उभड़ कर सामने आता है। भारत के भव्य महाकाव्य महाभारत में, जिसमें ११०००० श्लोक हैं, बताया गया है कि कुन्ती पाण्डु की पत्नी तथा पाँच यशस्वी पाण्डवों की माता थीं। इस तरह वे उस विनाशकारी युद्ध के जटिल राजनीतिक अभिनय के प्रधान पात्रों में एक थीं जो कुरुक्षेत्र में ५० शती पूर्व लड़ा गया था जिसने विश्व घटनाओं के प्रवाह को बदल डाला। इस विभीषिका की शुरुआत का वर्णन महाभारत में इस प्रकार हुआ है:—

पाण्डु इसलिए राजा बने, क्योंकि उनका ज्येष्ठ भ्राता धृतराष्ट्र जन्मान्ध था जिसके कारण उसे उत्तराधिकार से वंचित होना पड़ा। पाण्डु के सिंहासनासीन होने के कुछ काल बाद धृतराष्ट्र का विवाह गान्धारी से हुआ जिसके एक सौ पुत्र हुए। यह कौरव वंश का शासक परिवार था जिसमें सबसे ज्येष्ठ दुर्योधन था जो अतीव महत्वाकांक्षी तथा क्रूर था।

इस बीच पाण्डु ने माद्री तथा कुन्ती को अपनी पत्नी बना लिया। कुन्ती का पूर्वनाम पृथा था। वह यशस्वी यदुवंश के प्रधान शूरसेन की पुत्री थीं। *महाभारत* के अनुसार कुन्ती स्वरूपवान तथा चरित्रवान थीं। वे धर्म तथा अपने व्रत की पक्की थीं। उन्हें असामान्य वर प्राप्त थे। अभी कुन्ती छोटी थीं तभी उनके पिता ने अपने निःसन्तान चचेरे भाई तथा घनिष्ठ मित्र कुन्तीभोज को गोद लेने के लिए दे दिया था (इसीलिए कुन्ती नाम पड़ा)। अपने पोष्य पिता के घर में कुन्ती को अतिथियों के सत्कार का काम सौंपा गया था। एक दिन महर्षि तथा योगी दुर्वासा वहाँ आये और कुन्ती की निःस्वार्थ सेवा से प्रसन्न हो गये। अपनी दिव्य-दृष्टि द्वारा दुर्वासा जान गये कि कुन्ती को पुत्र जन्मने में कठिनाई हो सकती है, अतएव उन्होंने यह वर दिया कि वे किसी भी देवता का आवाहन

करके उससे सन्तान प्राप्त कर सकती हैं।

कुन्ती से विवाहित हो जाने के बाद पाण्डु को यह शाप मिल गया कि वे सन्तान उत्पन्न नहीं कर सकते। अतएव, उन्होंने सिंहासन का परित्याग कर दिया और अपनी पत्नियों सहित जंगल में चले गये। वहाँ कुन्ती को मिले विशेष वर से उन्हें तीन यशस्वी पुत्र हुए। सर्वप्रथम उन्होंने धर्मदेव का आवाहन किया। फिर दुर्वासा द्वारा बताई गई विधि से धर्मदेव की पूजा करके उसके साथ संगम किया तो एक बालक उत्पन्न हुआ। तभी आकाशवाणी हुई कि यह बालक युधिष्ठिर कहलायेगा और अत्यन्त गुणी होगा यह भव्य, दृढ़व्रत, त्यागी तथा तीनों जगत में विख्यात होगा।

तब पाण्डु ने कुन्ती से कहा कि वे अत्यन्त हृष्ट-पुष्ट पुत्र उत्पन्न करें। फलतः कुन्ती ने वायु का आवाहन किया जिससे बलशाली भीम उत्पन्न हुआ। भीम के उत्पन्न होने पर दैवी वाणी हुई, "यह बालक समस्त बलशालियों में अग्रगण्य होगा।"

तत्पश्चात् पाण्डु ने जंगल के ऋषियों-मुनियों से परामर्श किया और तब कुन्ती से एक वर्ष की तपस्या का व्रत लेने को कहा। इस अवधि के बीतने पर पाण्डु ने कुन्ती से कहा, "हे सुन्दरी! स्वर्ग का राजा इन्द्र तुम पर प्रसन्न है, अतएव उसका आवाहन करके पुत्र को जन्म दो।" तब कुन्ती ने इन्द्र का आवाहन किया और उससे उन्हें अर्जुन नामक पुत्र उत्पन्न हुआ। इस कुमार के जन्म लेते ही वही आकाशवाणी हुई, "हे कुन्ती! यह बालक कार्तवीर्य तथा शिबि के समान बलशाली होगा और युद्ध में साक्षात् इन्द्र से भी पराजित नहीं होगा। यह तुम्हारे नाम को सर्वत्र फैलायेगा और अपने दैवी हथियार प्राप्त करेगा।" इसके बाद पाण्डु की कनिष्ठा पत्नी माद्री ने नकुल तथा सहदेव नामक दो पुत्रों को जन्म दिया। पाण्डु के ये पाँचों पुत्र (युधिष्ठिर, भीम, अर्जुन, नकुल तथा सहदेव) पाण्डव कहलाये।

चूँकि, पाण्डु सिंहासन त्याग कर जंगल चले गये थे, अतएव जब तक पाण्डु के ज्येष्ठ पुत्र युधिष्ठिर बड़े न हो जायँ तब तक धृतराष्ट्र ने सिंहासन सँभाला। किन्तु इसके पूर्व ही शापवश पाण्डु की मृत्यु हो गई और माद्री उन्हीं के साथ चिता में भस्म हो गईं। इस तरह महारानी कुन्ती की देख-रेख में पाँचों पाण्डव बचे रहे।

पाण्डु की मृत्यु के बाद जंगल में निवास करने वाले ऋषियों-मुनियों ने पाँचों कुमारों तथा कुन्ती को कौरवों के दरबार हस्तिनापुर में पहुँचा दिया। ये पाँचों बालक राजधानी हस्तिनापुर में शाही ढंग से धृतराष्ट्र तथा विदुर के मार्गदर्शन में पले।

यद्यपि पहले धृतराष्ट्र युधिष्ठिर की ओर से राजकाज चलाते रहे, किन्तु बाद में वे अपने ज्येष्ठ पुत्र दुर्योधन के अनुसार चलने लगे। दुर्योधन राज्य का भूखा था और वह युधिष्ठिर के स्थान पर स्वयं सिंहासन पर आरूढ़ होना चाहता था। वह ईर्ष्यावश पाण्डवों के विरुद्ध षडयन्त्र रचने लगा और अशक्त धृतराष्ट्र की सहमति से उनको सताने लगा। उसने हस्तिनापुर में उनके प्राण लेने के कई प्रयास किये और फिर लाक्षागृह में ले जाकर उसमें अग्नि लगवाकर उनकी हत्या करानी चाही। इन पाँचों युवा पाण्डवों के साथ उनकी धैर्यवान माता कुन्ती लगातार रही आईं और अपने प्रिय पुत्रों के साथ दुर्योधन की यातनाएँ सहती रहीं।।

कुन्ती तथा पाण्डव बारम्बार मृत्यु से बचते रहे, क्योंकि वे भगवान् कृष्ण के प्रेमपूर्ण संरक्षण में थे जिन्होंने अपनी पार्थिव लीलाएँ सम्पन्न करने के लिए ही अवतार लिया था। अन्ततोगत्वा, जुआ की बाजी में चतुर राजनीतिज्ञ दुर्योधन ने पाण्डवों से छल द्वारा राज्य ले लिया। इस बाजी के फलस्वरूप द्रौपदी को कौरवों के अपशब्द सुनने पड़े और पाण्डवों को तेरह वर्ष वनवास में बिताने पड़े जिससे कुन्ती को महान शोक हुआ।

जब तेरह वर्ष का वनवास समाप्त हुआ तो पाण्डव अपना राज्य लेने हस्तिनापुर लौटे। किन्तु दुर्योधन ने राज्य देने से इनकार कर दिया। पहले तो युधिष्ठिर ने मनोमालिन्य को शान्त करने का प्रयास किया, किन्तु विफल होने पर उन्होंने कृष्ण को भेजा जिससे शान्तिपूर्ण ढंग से पाण्डवों को उनका राज्य मिल सके। किन्तु दुर्योधन की हठवादिता के कारण यह प्रयत्न भी असफल रहा आया और दोनों पक्ष युद्ध की तैयारी करने लगे। युधिष्ठिर को सिंहासन पर बिठाने या उनका विरोध करने के उद्देश्य से पृथ्वी के सभी कोनों से महान योद्धा एकत्र होने लगे और विनाशकारी विश्वयुद्ध के लिए मंच स्थापित हो गया।

कुरुक्षेत्र के ऐतिहासिक मैदान में अठारह दिनों तक घमासान युद्ध हुआ जिसमें करोड़ों योद्धाओं में से केवल मुट्ठी भर ही बच पाये। केवल भगवान्

कृष्ण, पाँचों पाण्डव तथा कुछ अन्य लोग इस हत्याकाण्ड से बचे रहे। बदले की भावना से कौरवों में से बचे हुए अश्वत्थामा ने द्रौपदी के पाँच सोते हुए पुत्रों की नृशंसतापूर्वक हत्या कर दी। इस तरह महारानी कुन्ती को अन्तिम धक्का लगा—उनके पौत्र जाते रहे।

अश्वत्थामा को जब पशु की तरह बाँध कर घसीटते हुए पाण्डवों के खेमे में लाया गया तो द्रौपदी को उस पर अपार करुणा उमड़ आई जिससे उसे छोड़ दिया गया। किन्तु, इस निर्लज्ज अश्वत्थामा ने पाण्डवों के अन्तिम उत्तराधिकारी को, जो अभी उत्तरा के गर्भ में था, मार डालने के प्रयास में उस पर ब्रह्मास्त्र चलाया। जब उत्तरा ने इस अस्त्र को अपनी ओर आते देखा तो वे दौड़ कर कृष्ण की शरण में चली आईं जो द्वारका के लिए प्रस्थान करने वाले थे। कृष्ण ने पाण्डवों तथा उनकी माता कुन्ती को उस अस्त्र की अनियन्त्रित तपन तथा तेज को अपने सुदर्शन चक्र से रोकर कर आसन्न मृत्यु से बचाया।

इन अन्तिम विपत्ति से पाण्डवों का उद्धार करके तथा अपनी योजनाओं को परिपूर्ण हुआ देखकर कृष्ण पुनः विदा होने के लिए उद्यत हुए। दुर्योधन ने वर्षों से कुन्ती के परिवार को पीड़ित कर रखा था, किन्तु हर बार कृष्ण ने उनकी रक्षा की थी। अब कृष्ण जा रहे थे इसलिए कुन्ती भाव-विभोर थीं और उन्होंने अपने अन्तस्तल से कृष्ण से प्रार्थना की।

कुन्ती कृष्ण की बुआ थीं, किन्तु इस पारिवारिक सम्बन्ध के बावजूद वे कृष्ण के उच्चपद तथा उनके दैवी स्वरूप से परिचित थीं। वे भलीभाँति जानती थीं कि कृष्ण अपने वैकुण्ठ स्थित धाम से पृथ्वी को आसुरी सैन्य शक्ति से मुक्त कराने तथा धर्म की पुनर्स्थापना के लिए अवतरित हुए हैं। महायुद्ध के पूर्व कृष्ण ने उनके पुत्र अर्जुन से सब कुछ बता दिया था और ये शब्द *भगवद्गीता* के रूप में (४.७-८) अमर हैं।

"हे भरतवंशी! जब भी और जहाँ भी धर्म का ह्रास होता है और अधर्म की प्रधानता होती है उस समय मैं अवतार लेता हूँ। साधुजनों का उद्धार करने तथा दुष्टों का संहार करने तथा धर्म की पुनर्स्थापना करने हेतु मैं युग युग में अवतरित होता हूँ।"

कृष्ण ने असाधु कौरवों का विनाश कराकर "दुष्टों के संहार" का उद्देश्य पूरा किया। तत्पश्चात् पाण्डव-शासन स्थापित करने के लिए उन्होंने

युधिष्ठिर को सिंहासन पर आरूढ़ कराया और मारे गये योद्धाओं के कुटुम्बियों को सान्त्वना दिलाई। भगवान् की आसन्न विदाई के दृश्य से महारानी कुन्ती की प्रार्थनाओं की भूमिका तैयार हुई।

जब कुन्ती उनके रथ के पास जाकर उनको सम्बोधित करने लगीं तो उनका अभिप्राय उन्हें हस्तिनापुर में रुकने के लिए तथा यदि कोई पाण्डव शासन से बदला लेना चाहे तो उससे रक्षा करने के लिए राजी करना था।

"हे प्रभु! आज आप हमसे विदा ले रहे हैं। हम आप ही की कृपा पर पूरी तरह आश्रित हैं। अब हमारी रक्षा करने वाला कोई दूसरा नहीं जबकि सारे राजा हमसे शत्रुता रखते हैं।" (*श्रीमद्भागवत* १.८.३७)।

इस विनम्र निवेदन से हमें यह निष्कर्ष निकालने की भूल नहीं करनी चाहिए कुन्ती की प्रार्थनाएँ स्वार्थपरक थीं। यद्यपि उनके कष्ट सामान्य व्यक्ति की सहनशक्ति से अधिक थे फिर भी वे उनसे छुटकारे के लिए याचना नहीं कर रहीं। उल्टे वे उससे भी अधिक कष्ट भोगने के लिए प्रार्थना करती हैं, क्योंकि वे यह तर्क देती हैं कि उनके कष्ट कृष्ण के प्रति उनकी भक्ति को बढ़ायेंगे जिससे उन्हें परम मोक्ष प्राप्त होगा।

"हे कृष्ण! आपने हमें विषाक्त भोजन, दावाग्नि, राक्षसों, दूषित सभा या वनवास के कष्टों तथा महान सेनापतियों द्वारा लड़े जाने वाले युद्ध से बचाया है। मेरी कामना है कि ये विपत्तियाँ बारबार आवें जिससे हम आपका बारम्बार दर्शन कर सकें, क्योंकि आपके दर्शन का अर्थ है कि हम बारम्बार के जन्म-मृत्यु से छूट जायेंगे।" (*भागवत* १.८.२४-२५)

कुन्ती के शब्द एक सरल तथा महान साध्वी की आत्मा से निकले होने से हृदय की गहनतम दिव्य भावनाओं और बुद्धि की अत्यन्त दार्शनिक तथा धर्मपरक अन्तर्दृष्टियों को प्रकट करने वाले हैं। उनके शब्द ज्ञान से सने दैवी प्रेम द्वारा प्रेरित प्रशस्ति हैं—

"हे मधुपति! जिस तरह गंगा नदी बिना किसी अवरोध के निरन्तर समुद्र की ओर प्रवाहित होती है उसी तरह मेरे आकर्षण को इधर-उधर विचलित हुए बिना अपनी ओर बना रहने दें।" (*भागवत* १.८.४२)

कुन्ती द्वारा भगवान् कृष्ण के स्वतःस्फूर्त महिमागान तथा आध्यात्मिक पथ का वर्णन महाभारत तथा *श्रीमद्भागवत* में अमर बन चुका है और

हजारों वर्षों से इनका वाचन, श्रवण तथा गायन ऋषियों तथा दार्शनिकों द्वारा होता आया है।

भागवत के प्रथम स्कन्ध में महारानी कुन्ती की प्रार्थनाएँ २६ श्लोकों में (आठवें अध्याय में श्लोक १८ से ४३ तक) दी हुई हैं और वे उत्कृष्ट दार्शनिक, धार्मिक तथा साहित्यिक रचना मानी जाती हैं।

महारानी कुन्ती की शिक्षाएँ नामक इस पुस्तक में ये प्रेरणादायक श्लोक तथा उन पर भक्तिवेदान्त स्वामी प्रभुपाद द्वारा की गई प्रकाशमान टीका दी गई है। यह टीका पहले पहल १९६२ में लिखी गई थी, किन्तु प्रस्तुत पुस्तक में श्रील प्रभुपाद द्वारा दिये गये भाषणों में व्यक्त व्याख्याओं को भी सम्मिलित कर दिया गया है। उन्होंने १९७३ ई. की वसन्त ऋतु में इस्कान के लास ऐंजिलिस केन्द्र में दिये गये इन भाषणों में इन श्लोकों का विस्तार से विवेचन किया है।

आशा है कि *भक्तिवेदान्त बुक ट्रस्ट* का यह नवीन प्रकाशन जीवन के रहस्यों को गहरे उतर कर समझने में सहायक होगा और पुस्तकालयों में मूल्यवान वृद्धि करेगा। यह एक महान भक्त एवं विद्वान द्वारा लिखित होने से पाठकों को इससे मौलिक ज्ञान तथा आध्यात्मिक प्रकाश पाने की दिशा में अविचल मार्गदर्शन प्राप्त हो सकेगा।

—प्रकाशक

१. आदि पुरुष

कुन्त्युवाच
नमस्ये पुरुषं त्वाद्यमीश्वरं प्रकृतेः परम्।
अलक्ष्यं सर्वभूतानामन्तर्बहिरवस्थितम्॥

श्रीमती कुन्ती ने कहा : मैं आपको नमस्कार करती हूँ क्योंकि आप आदि पुरुष हैं और इस भौतिक जगत के गुणों से निःसंग रहते हैं। आप समस्त वस्तुओं के भीतर तथा बाहर स्थित रहते हुए भी सबों द्वारा अलक्ष्य हैं।

—(*श्रीमद्भागवत १.८.१८*)

श्रीमती कुन्ती देवी को यह भलीभाँति ज्ञात था कि कृष्ण आदि भगवान् हैं भले ही पद में वे उनके भतीजे लगते थे। ऐसी प्रबुद्ध महिला अपने भतीजे को नमस्कार करने की गलती नहीं कर सकती थी। इसलिए उन्होंने उन्हें भौतिक जगत से परे आदि पुरुष के रूप में सम्बोधित किया। यद्यपि सारे जीव भी दिव्य हैं, किन्तु वे न तो आदि जीव हैं, न अच्युत हैं। वे भौतिक प्रकृति के चंगुल में आकर नीचे गिर सकते हैं, किन्तु भगवान् कभी नहीं गिरते। इसीलिए वेदों में उन्हें समस्त जीवों में *प्रधान* कहा गया है (*नित्यो नित्यानाम् चेतनश्चेतनानाम्*)। तत्पश्चात् पुनः उन्हें ईश्वर या नियन्ता के रूप में सम्बोधित किया गया है। चाहे जीव हों या सूर्य, चन्द्र जैसे देवता हों, कुछ हद तक वे भी ईश्वर हैं, लेकिन इनमें से कोई भी परमेश्वर नहीं है। कृष्ण *परमेश्वर* या परमात्मा

हैं। वे अन्तः तथा बाह्य दोनों में विद्यमान रहते हैं। यद्यपि वे श्रीमती कुन्ती के समक्ष उनके भतीजे के रूप में उपस्थित थे किन्तु वे उनके और अन्य सबों के अन्तर में भी विद्यमान थे। भगवान् *भगवद्गीता* में (१५.१५) कहते हैं "मैं हरेक के हृदय में स्थित हूँ और मेरे ही कारण जीव मेरा स्मरण करता है, विस्मरण करता है, मुझसे अवगत होता है आदि आदि। समस्त वेदों के माध्यम से मैं जाना जाने योग्य हूँ क्योंकि मैं ही समस्त वेदों का रचयिता हूँ और वेदान्त का शिक्षक हूँ।" महारानी कुन्ती इसकी पुष्टि कर रही हैं कि समस्त जीवों के भीतर और बाहर स्थित रहते हुए भी भगवान् अलक्ष्य हैं। कहने का भाव यह है कि भगवान् सामान्य व्यक्ति के लिए पहेली तुल्य हैं। महारानी कुन्ती ने स्वयं अनुभव किया कि भगवान् कृष्ण ने उनके समक्ष उपस्थित होते हुए भी उत्तरा के गर्भ में प्रविष्ट होकर अश्वत्थामा के ब्रह्मास्त्र-आक्रमण से भ्रूण की रक्षा की। वे स्वयं इस दुविधा में पड़ी हुई थीं कि कृष्ण सर्वव्यापी हैं या अन्तर्यामी। वस्तुतः वे दोनों हैं किन्तु उन्हें छूट है कि जो लोग उनके शरणागत नहीं हैं उनके समक्ष वे प्रकट न हों। यह अवरोधक पर्दा परमेश्वर की *माया* शक्ति कहलाता है और उपद्रवी जीव की संकुचित दृष्टि को नियन्त्रित करने वाली यही है। उसकी व्याख्या अध्याय २ में की गई है।

२. इन्द्रियों से परे

माया जवनिकाच्छन्नमज्ञाधोक्षजमव्ययम्।
न लक्ष्यसे मूढदृशा नटो नाट्यधरो यथा॥

सीमित इन्द्रिय-ज्ञान से परे होने के कारण आप ठगिनी शक्ति (माया) के पर्दे से ढके रहने वाले शाश्वत अविनाशी तत्व हैं। आप मूर्ख दर्शक के लिए उसी तरह अलक्ष्य रहते हैं जिस तरह अभिनेता की वेशभूषा बना लेने पर नट (कलाकार) पहचान में नहीं आता।

—(*श्रीमद्भागवत* १.८.१९)

भगवद्गीता में भगवान् श्रीकृष्ण इसकी पुष्टि करते हैं कि अल्पज्ञ व्यक्ति उन्हें अपने जैसा सामान्य व्यक्ति समझने की भूल कर बैठते हैं और इस तरह वे उनका उपहास करते हैं। श्रीमती कुन्ती ने भी इसी की पुष्टि यहाँ की है। अल्पज्ञ व्यक्ति वे हैं जो भगवान् की सत्ता के विरुद्ध उपद्रव मचाते हैं। ऐसे व्यक्ति *असुर* कहलाते हैं। जब भगवान् हम लोगों के बीच राम, नृसिंह, वराह या अपने आदि कृष्ण रूप में प्रकट होते हैं तो वे ऐसे अनेक अद्भुत कार्य करते हैं जो मनुष्यों के लिए असम्भव हैं। जैसा कि हम *श्रीमद्भागवत* के दशम स्कन्ध में देखेंगे, भगवान् श्रीकृष्ण मानवमात्र के लिए असम्भव कार्यों को तभी से करने लगे थे जब वे अपनी माता की गोद में लेटे रहते थे। उन्होंने उस पूतना चुड़ैल

का वध किया जो कि उन्हें मार डालने के लिए अपने स्तनों में विष लगाकर आयी थी। भगवान् ने बालक की तरह उसका स्तन-पान किया और उसके प्राण तक चूस लिए। इसी तरह उन्होंने गोवर्धन पर्वत को उठा लिया जैसे कोई बच्चा कुकुरमुत्ता को उखाड़ ले। वे वृन्दावन के वासियों को शरण देने के लिए सात दिनों तक पर्वत उठाये खड़े रहे। भगवान् के इन गिने-चुने अमानवीय कार्यकलापों का वर्णन पुराणों, इतिहासों तथा उपनिषदों में हुआ है। उन्होंने *भगवद्गीता* के रूप में अद्भुत उपदेश दिया है। उन्होंने एक नायक, एक गृहस्थ, एक शिक्षक तथा एक त्यागी के रूप में अद्भुत क्षमताओं का प्रदर्शन किया है। व्यास, देवल, असित, नारद, मध्व, शंकर, रामानुज, श्रीचैतन्य महाप्रभु, जीव गोस्वामी, विश्वनाथ चक्रवर्ती, भक्तिसिद्धान्त सरस्वती तथा उस परम्परा के अन्य प्रामाणिक पुरुषों ने उन्हें भगवान् के रूप में स्वीकार किया है। स्वयं भी उन्होंने प्रामाणिक साहित्य में अनेक स्थलों पर अपने को भगवान् घोषित किया है। फिर भी आसुरी मनोवृत्ति वाला एक ऐसा वर्ग है जो उन्हें परब्रह्म परमेश्वर के रूप में मानने से हिचकिचाता है। ऐसा कुछ तो उनकी अल्पज्ञता के कारण है तो कुछ उनकी घोर मूढता के कारण है जो उनके विगत तथा वर्तमान दुष्कर्मों से उत्पन्न होती है। ऐसे लोग श्रीकृष्ण को तब भी नहीं पहचान पाये जब वे उनके समक्ष उपस्थित थे। दूसरी कठिनाई यह है कि जो लोग अपनी पूर्ण इन्द्रियों पर अधिक निर्भर रहते हैं वे उन्हें परमेश्वर के रूप में अनुभव नहीं कर पाते। ऐसे व्यक्ति आधुनिक विज्ञानियों जैसे हैं जो अपने प्रयोगात्मक ज्ञान से हर बात को जानना चाहते हैं। किन्तु अपूर्ण प्रयोगात्मक ज्ञान से परम पुरुष को जान पाना असम्भव है। यहाँ पर उन्हें अधोक्षज अर्थात् प्रयोगात्मक ज्ञान की परिधि से परे बतलाया गया है। हमारी सारी इन्द्रियाँ अपूर्ण हैं। भले ही हम यह दावा करते रहें कि हम हर किसी वस्तु को देख सकते हैं किन्तु हमें यह स्वीकार करना होगा कि हम वस्तुओं को किन्हीं ऐसी परिस्थितियों में ही देख सकते हैं जो हमारे वश में नहीं होतीं। भगवान् इन्द्रिय-अनुभूति द्वारा देखे जाने से परे हैं। महारानी कुन्ती बद्धजीव की और विशेष रूप से अल्पज्ञ स्त्री जाति की इस न्यूनता को स्वीकार करती हैं। अल्पज्ञ लोगों के लिए

मन्दिर, मसजिद या गिरजाघरों की आवश्यकता होती है जिससे भगवान् की सत्ता को पहचानें और ऐसे पवित्र स्थलों में जाकर भगवान् के विषय में अधिकारियों से श्रवण कर सकें। अल्पज्ञों के लिए आध्यात्मिक जीवन की यह शुरुआत आवश्यक है। केवल मूर्ख लोग ही इन पूजास्थलों की, जिनकी आवश्यकता जनता में आध्यात्मिक गुणों के स्तर को ऊपर उठाने के लिए होती है, स्थापना करने का विरोध करते हैं। अल्पज्ञों के लिए मन्दिरों, मसजिदों या गिरिजाघरों में जाकर भगवान् की सत्ता के समक्ष नतमस्तक होना उतना ही लाभप्रद है जितना कि भागवतों के लिए सक्रिय सेवा द्वारा भगवान् का ध्यान करना।

३. परम बुद्धिमती महिला

तथा परमहंसानां मुनीनाममलात्मनाम्।
भक्तियोगविधानार्थं कथं पश्येम हि स्त्रियः॥

—(श्रीमद्भागवत १.८.२०)

आप उन्नत अध्यात्मवादियों तथा आत्मा और पदार्थ में अन्तर करने में सक्षम विचारकों के हृदयों में भक्ति के दिव्य विज्ञान का प्रसार करने के लिए स्वयं अवतार लेते हैं। तो भला फिर हम स्त्रियाँ आपको किस तरह पूर्णरूपेण जान सकती हैं?

बड़े बड़े तत्वज्ञानी तक भगवान् के धाम तक नहीं पहुँच पाते। उपनिषदों में कहा गया है कि परम सत्य परब्रह्म बड़े से बड़े दार्शनिक की भी चिन्तन-शक्ति से परे हैं। उन्हें बड़ी से बड़ी विद्या, बड़े से बड़े मस्तिष्क द्वारा भी नहीं जाना जा सकता। उन्हें वही जान पाता है जिसे उनकी कृपा प्राप्त हो। अन्य लोग वर्षों तक चिन्तन करने के बाद भी उन्हें नहीं जान पाते। इस तथ्य की पुष्टि महारानी कुन्ती द्वारा की जा रही है जो एक अबोध महिला की भूमिका अदा कर रही हैं। सामान्य स्त्रियाँ दार्शनिकों की तरह चिन्तन नहीं कर पातीं किन्तु उन्हें भगवान् से आशीष प्राप्त रहता है, क्योंकि वे भगवान् की श्रेष्ठता तथा सर्वशक्तिमत्ता पर तुरन्त विश्वास कर लेती हैं और बिना किसी अनुभव के उन्हें नमस्कार करती हैं। भगवान् इतने दयालु हैं कि वे केवल ऐसे व्यक्ति पर कृपा

नहीं करते तो बहुत बड़ा दार्शनिक होता है। वे प्रयोजन की निष्ठा को जानते हैं। यही कारण है कि किसी भी धार्मिक उत्सव के अवसर पर महिलाएँ बड़ी तादाद में एकत्र होती हैं। प्रत्येक देश के प्रत्येक धार्मिक सम्प्रदाय में स्त्रियों की रुचि पुरुषों की अपेक्षा अधिक दीखती है। भगवान् की सत्ता की स्वीकृति की यह सरलता निष्ठाविहीन धार्मिक दिखावे से कहीं अधिक प्रभावोत्पादक है।

कुन्तीदेवी ने बहुत ही विनीत भाव से भगवान् की प्रार्थना की जो कि एक वैष्णव का लक्षण है। भगवान् कृष्ण तो कुन्तीदेवी के चरणों की धूल लेकर उनके प्रति आदर जताने आये थे। चूँकि कृष्ण कुन्तीदेवी को अपनी बुआ मानते थे, अतएव वे उनका चरण स्पर्श किया करते थे। यद्यपि कुन्तीदेवी कृष्ण की माता यशोदा तुल्य पूजनीय थीं, किन्तु महान भक्त होने के कारण वे इतनी विनीत थीं कि उन्होंने प्रार्थना की, "हे कृष्ण! तुम तो परमहंसों द्वारा ज्ञेय हो। मैं तो एक अबला (स्त्री) हूँ। तो भला मैं आपका दर्शन कैसे कर सकती हूँ?"

वैदिक प्रणाली के अनुसार चार सामाजिक विभाग (वर्ण) हैं (*चातुर्वण्यं मया सृष्टम्*)। सामाजिक वर्णों में *ब्राह्मण* सर्वोपरि हैं, क्योंकि वे सर्वाधिक बुद्धिमान हैं। उसके बाद *क्षत्रिय* (सैनिक वर्ग तथा राजन्य), फिर *वैश्य* (कृषक तथा व्यापारी) और अन्त में *शूद्र* (सामान्य मजदूर) आते हैं। इस प्रणाली में मनुष्य के गुण तथा कर्म (गुण-कर्म) के अनुसार उसका स्थान निर्धारित होता है। *भगवद्गीता* में *स्त्रियो वैश्यास्तथा शूद्राः* और *श्रीमद्भागवत* में *स्त्रीशूद्रद्विजबन्धूनाम्* का उल्लेख आया है। इन निर्देशों के अनुसार स्त्रियाँ, शूद्र तथा द्विजबन्धु एक ही श्रेणी में आते हैं। *द्विजबन्धु* उस व्यक्ति का सूचक है जो उच्च ब्राह्मण या क्षत्रिय कुल में उत्पन्न तो होता है, किन्तु उसमें उसके अपने गुण नहीं पाये जाते। वैदिक प्रणाली के अनुसार मनुष्य का सामाजिक स्थान उसके गुण द्वारा निर्धारित होता है। यह अत्यन्त व्यावहारिक है। मान लीजिये कि कोई व्यक्ति उच्च न्यायालय के न्यायाधीश के पुत्र रूप में जन्म लेता है तो इसका अर्थ यह नहीं होता कि वह भी उच्च न्यायलय का न्यायाधीश है। फिर भी यदि कोई ब्राह्मण-कुल में उत्पन्न होता है और उसमें कोई गुण नहीं पाये जाते और

वह पहले दर्जे का धूर्त होता है तो भी वह अपने को ब्राह्मण कहलवाता है। उसके गुण शूद्र से भी न्यून होते हुए भी लोग उसे ब्राह्मण मानते हैं। इससे वैदिक सभ्यता का पतन हुआ है। भारत में ब्राह्मण लोग कभी कभी मेरे आन्दोलन का विरोध करते हैं, क्योंकि मैं यूरोप तथा अमरीका के लोगों को प्रशिक्षित करता तथा उन्हें *ब्राह्मण* मानता हूँ। किन्तु हम न तो उनके तर्कों की परवाह करते हैं, न ही कोई भी विवेकयुक्त व्यक्ति करेगा।

पृथिवीते आछे यत नगरादि ग्राम।
सर्वत्र प्रचार हैबे मोर नाम॥

विश्व के प्रत्येक नगर, प्रत्येक शहर तथा प्रत्येक गाँव में कृष्णभावनामृत आन्दोलन का प्रचार होगा। तो भला यह कैसे हो सकता है कि यूरोपवासी तथा अमरीकावासी ब्राह्मण नहीं बनेंगे? वस्तुत: जो व्यक्ति कृष्णभावनामृत अंगीकर करता है वह पहले ही ब्राह्मणत्व से आगे बढ़ चुका होता है। जैसा कि *भगवद्गीता* में कहा गया है—

मां च योऽव्याभिचारेण भक्तियोगेन सेवते।
स गुणान् समतीत्यैतान् ब्रह्मभूयाय कल्पते॥

"जो भक्तियोग स्वीकार करता है वह प्रकृति के गुणों को पार कर जाता है और तुरन्त ही दिव्य पद (*ब्रह्मभूत*) को प्राप्त होता है।" ब्राह्मण बनने की बात क्या, ऐसा व्यक्ति परम पद को प्राप्त होता है।

इस अन्धविश्वास ने, कि ब्राह्मण कुल में उत्पन्न व्यक्ति ही ब्राह्मण बन सकता हैं, वैदिक सभ्यता को मार डाला है, किन्तु अब हम इस विचार को पुनरुज्जीवित कर रहे हैं कि प्रत्येक व्यक्ति सिद्धि प्राप्त कर सकता है। *भगवद्गीता* में (९.३२) भगवान् कृष्ण कहते हैं—

मां हि पार्थ व्यपाश्रित्य येऽपि स्यु: पापयोनय:।
स्त्रियो वैश्यास्तथा शूद्रास्तेऽपि यान्ति परां गतिम्॥

"हे पृथापुत्र! जिन लोगों ने मेरी शरण ग्रहण कर रखी है वे भले ही निम्नजन्मा, स्त्रियाँ या शूद्र क्यों न हों, परमधाम तक पहुँच सकते

हैं।'' इस तरह यद्यपि स्त्रियाँ, शूद्र तथा वैश्य सामान्य रूप से निम्न वर्ग के माने जाते हैं किन्तु भक्त हो जाने पर वह चाहे स्त्री हो या पुरुष, ऐसी उपाधियों से परे चले जाते हैं। सामान्यतया स्त्रियों, शूद्रों तथा वैश्यों को अल्पज्ञ माना जाता है, किन्तु यदि कोई कृष्णभावनामृत अंगीकार करता है तो वह सर्वाधिक बुद्धिमान (चतुर) बन जाता है जैसा कि *श्रीचैतन्य-चरितामृत* में कहा गया है (*कृष्ण येइ भजे सेइ बड़ चतुर*)। चैतन्य महाप्रभु कहते हैं—

एइ रूपे ब्रह्माण्ड भ्रमित कोन भाग्यवान् जीव।
गुरु-कृष्ण-प्रसादे पाय भक्ति-लता-बीज॥

''ब्रह्माण्ड भर में विचरण करने वाले समस्त जीवों में जो परम भाग्यशाली होता है वही गुरू तथा कृष्ण की कृपा से भक्ति का बीज प्राप्त करता है।'' (*श्रीचैतन्य-चरितामृत* मध्य १९.१५१)। कृष्णभावनामृत आन्दोलन में अभागे व्यक्ति नहीं रहते। इसमें तो परम भाग्यशाली लोग आते हैं। जो व्यक्ति कृष्णभावनामृत अंगीकार कर लेता है उसे परम भाग्यशाली समझना चाहिए, क्योंकि उसे कर्म करने की वह विधि प्राप्त हो चुकी होती है जिससे उसका जीवन पूर्ण हो सकेगा। जो व्यक्ति कृष्णभावनाभावित है और अपने कर्त्तव्यों को सुचारु रूप से करता है वह परम भाग्यशाली तथा परम पूर्ण है। यहाँ पर कुन्तीदेवी विनीत भाव से यही कह रही हैं।

यद्यपि कुन्ती का शरीर स्त्री का था किन्तु वे भक्त थीं। अत: वे सामान्य बुद्धिविहीन स्त्री जैसी नहीं थीं। उल्टे वे सर्वाधिक बुद्धिमान थीं क्योंकि वे कृष्ण को भगवान् के रूप में पहचान चुकी थीं, ''यद्यपि वे मेरे भतीजे के रूप में मुझे प्रणाम करने आये हैं, किन्तु वे हैं भगवान्।'' इसीलिए उन्होंने पिछले श्लोक में कहा है—*अलक्ष्यं सर्वभूताना मन्तर्बहिरवस्थितम्*—यद्यपि आप सर्वत्र, भीतर-बाहर हैं किन्तु सामान्य व्यक्ति आपको नहीं देख पाते। अन्य श्लोक में भी उन्होंने कहा है *न लक्ष्यते मूढदृशा*—मूर्ख तथा धूर्त आपको नहीं देख पाते। इससे सूचित होता है कि कुन्ती ने उनको देखा। यदि वे कृष्ण को यथारूप में न देखे होतीं तो वे यह कैसे कह सकतीं—*न लक्ष्यते मूढदृशा*? उन्होंने यह भी

कहा—प्रकृतेःपरम्—आप इस भौतिक सृष्टि से परे हैं।

इस श्लोक में भी कुन्ती विनीत होकर अपनी बात कहती हैं। यह विनयशीलता भक्ति में अतीव उत्तम मानी जाती है। इसीलिए श्रीचैतन्य महाप्रभु हमें शिक्षा देते हैं—*तृणादपि सुनीचेन तरोरपि सहिष्णुना*— आध्यत्मिक जीवन में प्रगति करने के लिए मनुष्य को वृक्ष से भी अधिक सहिष्णु तथा घास से भी अधिक विनीत होना चाहिए। यह आवश्यक है क्योंकि इस भौतिक जगत में रहने वाले व्यक्ति के समक्ष अनेक उपद्रव आते रहते हैं जिस तरह समुद्र में यात्रा करने वाले के समक्ष आते हैं। समुद्र में शान्त वातावरण की आशा व्यर्थ है क्योंकि बड़ा से बड़ा जहाज भी डगमगा सकता है और किसी भी क्षण शोर करती तरंगें ऊपर उठ सकती हैं। इसी प्रकार इस भौतिक जगत में भी हमें सदैव संकट की आशा करनी चाहिए। इस भौतिक जगत में रहते हुए शान्त जीवन बिताने की आशा नहीं की जा सकती। शास्त्र का कथन है *पदं पदं यद् विपदाम्* (भागवत १०.१४.५८)— प्रत्येक पग पर विपत्ति है। किन्तु यदि मनुष्य भक्त बन जाता है तो वह विपत्तियों से बच जाता है (*मायामेतां तरन्ति ते*)।

यदि कोई व्यक्ति कृष्णभावनामृत अंगीकार करता है तो प्रारम्भ में माया द्वारा अनेक उत्पात खड़े किये जाते हैं। माया हमारी परीक्षा लेती है कि हम कृष्णभावनामृत में कितने दृढ हैं। चूँकि माया कृष्ण की दूती भी है, अतएव वह किसी को भी कृष्ण को विचलित करने की स्वतन्त्रता प्रदान नहीं करती। अतएव, वह यह देखने के लिए कठिन परीक्षा लेती रहती है कि हमने कहीं कृष्ण को विचलित करने के लिए तो कृष्णभावनामृत ग्रहण नहीं किया है या वास्तव में हम उसके प्रति गम्भीर हैं। अतः प्रारम्भ में माया हमारी परीक्षा लेगी ही और कृष्णभावनामृत की दिशा में प्रगति करते समय हमें अनेक उत्पातों का अनुभव होगा ही। किन्तु यदि हम विधि-विधानों का पालन करें तथा नियमित रूप से कीर्तन करते रहें तो हम दृढ हो सकेंगे। यदि हम इन नियमों की उपेक्षा करेंगे तो माया तुरन्त ही हमें बन्दी बना लेगी। माया सदैव सन्नद्ध रहती है। हम तो सागर में हैं और किसी भी क्षण विचलित किये जा सकते हैं। इसलिए, जो

तनिक भी विचलित नहीं होता वह *परमहंस* कहलाता है।

इसीलिए कुन्तीदेवी कहती हैं—*तथा परमहंसानाम्*—आप तो परमहंसों द्वारा ज्ञेय हैं। *परम्* का अर्थ है "चरम" तथा *हंस* का अर्थ है "हंस पक्षी"। अत: *परमहंस* का अर्थ हुआ "पूर्ण हंस"। यदि हम हंस को जलमिश्रित दूध दें तो वह दूध ग्रहण कर लेगा और पानी को छोड़ देगा। इसी तरह यह भौतिक जगत दो प्रकृतियों से बना है—अपरा प्रकृति तथा परा प्रकृति। परा प्रकृति का अर्थ है आध्यात्मिक जीवन और अपरा प्रकृति का अर्थ है भौतिक जीवन। अत: जो व्यक्ति इस संसार के भौतिक अंश को त्याग देता है और केवल आध्यत्मिक अंश को ग्रहण करता है वही *परमहंस* है।

मनुष्य को यह जान लेना चाहिए कि इस शरीर के सारे कार्यकलाप शरीर के भीतर स्थित आत्मा के कारण सम्पन्न होते हैं। यह सचाई है। शरीर तो बाहरी आवरण है। इसी तरह मनुष्य को यह भी जानना चाहिए कि समस्त कार्यकलापों के केन्द्रबिन्दु श्रीकृष्ण हैं और जो इसे जानता है वह *परमहंस* है। अत: भक्तियोग तो परहंस के लिए है। *भगवद्गीता* में कृष्ण कहते हैं—*अहं सर्वस्य प्रभवो मत्त: सर्व प्रवर्तते*—मैं हरवस्तु का उद्गम हूँ और प्रत्येक वस्तु मुझसे उद्भूत होती है। अत: जो सिद्धान्त के रूप में नहीं अपितु व्यावहारिक रूप में यह जान लेता है कि कृष्ण ही समस्त कारणों के कारण हैं और जो इस बारे में आश्वस्त हो जाता है वह *परमहंस* है।

कुन्तीदेवी कहती हैं "आप परमहंसों के लिए हैं, धूर्तों तथा मूर्खों के लिए नहीं हैं। आप परमहंसों तथा मुनियों के निमित्त हैं।" *मुनीनाम्* शब्द *विचारवान या ज्ञानियों का द्योतक है तथा अमलात्मनाम्* शब्द उस व्यक्ति का सूचक है जिसके हृदय में कोई गन्दगी नहीं रहती है। यह गंदगी क्या है? काम तथा लोभ। सारे भौतिकवादी व्यक्ति कामी तथा लोभी होते हैं, अतएव उनके हृदय गंदी वस्तुओं से पूरित रहते हैं, किन्तु *अमलात्मनाम्* उनका सूचक है जो इन दो कलुषों से मुक्त होते हैं।

भक्तियोग उन लोगों के लिए है जिनके हृदय विमल हैं। यह लोभी तथा कामी व्यक्तियों के लिए नहीं है। हाँ, जो लोग कामी तथा लोभी

हैं वे आगे बढ़ने का प्रयास कर सकते हैं और धीरे धीरे सफल हो सकते हैं, किन्तु एक बार भक्तियोग पद प्राप्त कर लेने पर लोभ या काम नहीं रह जाता। *विरक्तिरन्यत्र च* (भागवत् ११.२.४२)। यही परीक्षा है। जब मनुष्य कामेच्छाओं तथा लोभ से मुक्त हो जाता है तो वह भक्तियोग पद को प्राप्त होता है और वास्तव में परहंस है। कुन्तीदेवी विनीतभाव से कहती हैं, "आप तो परमहंसों तथा मुनियों के लिए हैं जिनके हृदय विमल हैं और जो भक्तियोग में संलग्न हैं लेकिन हम क्या हैं? हम तो अबला मात्र हैं। हम निम्नवर्ग की हैं। भला हम आपको कैसे समझ सकती हैं?" यद्यपि वे हर बात समझती थीं फिर भी वे सामान्य स्त्री की भाँति कहती हैं, "भला मैं आपको कैसे समझ सकती हूँ?" यही विनयशीलता या दीनता है।

४. सर्वव्यापक सत्य, कृष्ण, के पास पहुँचना

कृष्णाय वासुदेवाय देवकीनन्दनाय च।
नन्दगोपकुमाराय गोविन्दाय नमो नमः॥

अतः मैं उन भगवान् को सादर नमस्कार करती हूँ जो वसुदेव के पुत्र, देवकी के लाड़ले, नन्द तथा वृन्दावन के अन्य ग्वालों के बालक (लाल) एवं गौवों तथा इन्द्रियों के प्राण बन कर आये हैं।

—(*श्रीमद्भागवत १.८.२१*)

इस प्रकार अपने अनन्य भक्तों पर विशेष अनुग्रह दिखाने तथा देवकी के लाड़ले के उपद्रवों को शान्त करने के लिए अपनी असीम अहैतुकी कृपा से इस पृथ्वी पर अवतरित होकर भगवान् किसी भी भौतिक सम्पत्ति द्वारा प्राप्त नहीं किये जा सकते। महारानी कुन्ती अन्य अवतारों की अपेक्षा कृष्ण के अवतरण की विशेष रूप से पूजा करती हैं, क्योंकि वे इसी रूप में सरलता से प्राप्त किये जा सकते हैं। राम-अवतार में वे बचपन से ही राजा के पुत्र रह आये, लेकिन कृष्ण अवतार में राजा के पुत्र होते हुए भी उन्होंने अपने असली माता-पिता (राजा वसुदेव तथा महारानी देवकी) को जन्मते ही त्याग दिया और यशोदा माई की गोद में चले गये जिससे वृन्दावन की पुण्यभूमि में सामान्य ग्वाल-बाल का अभिनय कर सकें। अतएव भगवान् कृष्ण भगवान् राम की अपेक्षा अधिक दयालु हैं। वे कुन्ती के भाई वसुदेव तथा उनके परिवार के प्रति विशेष

रूप से अधिक दयालु थे। यदि वे वसुदेव तथा देवकी पुत्र के रूप में न जन्म लेते तो महारानी कुन्ती उन्हें अपना भतीजा मानकर इतनी वात्सलता से सम्बोधित न करतीं। किन्तु अधिक भाग्यशाली तो नन्द-यशोदा हैं जिन्होंने भगवान् की बाललीलाओं का रस लूटा, जो अन्य लीलाओं से अधिक मनोहर हैं। व्रजभूमि में प्रकट उनकी बाललीलाओं की कोई समता नहीं हो सकती, क्योंकि वे मूल कृष्ण-लोक में उनकी शाश्वत लीलाओं की आदि-रूप हैं जिनका वर्णन *ब्रह्म-संहिता* में *चिन्तामणि धाम* के रूप में हुआ है। श्रीकृष्ण स्वयं व्रजभूमि में अपने दिव्य पार्षदों तथा साज-सामग्री के साथ अवतरित हुए थे। श्रीचैतन्य महाप्रभु ने पुष्टि की है कि व्रजभूमि के वासियों के समान अन्य कोई भाग्यशाली नहीं है। उनमें भी गोपियाँ विशेष भाग्यशालिनी हैं, क्योंकि उन्होंने भगवान् की प्रसन्नता के लिए अपना सर्वस्व न्यौछावर कर दिया। वे नन्द तथा यशोदा के साथ, ग्वालों के साथ तथा ग्वालबालों और गौवों के साथ अपनी चित्र-विचित्र लीलाओं के कारण गोविन्द कहलाए। गोविन्द रूप में भगवान कृष्ण ब्राह्मणों तथा गौवों के प्रति विशेष दयालु हैं जिसका अर्थ है कि मानवीय सम्पन्नता बहुत कुछ इन्हीं दो बातों पर निर्भर करती है—एक तो ब्राह्मण संस्कृति पर और दूसरे गोरक्षा पर। जहाँ इन दोनों बातों का अभाव रहता है वहाँ कृष्ण प्रसन्न नहीं होते।

कुन्तीदेवी ने स्तुति के प्रारम्भ में *नमस्ये पुरुषं त्वाद्यमीश्वरं प्रकृतेः परम्* कहा अर्थात् मैं उस पुरुष को नमस्कार करती हूँ जो *प्रकृतेः परम्* है अर्थात् इस भौतिक जगत से परे है। इस तरह कुन्तीदेवी ने प्रारम्भ में ही हमें यह बता दिया कि ईश्वर परम पुरुष हैं। वे निराकार या निर्विशेष नहीं हैं। वे पुरुष हैं, किन्तु इस जगत या इस सृष्टि के पुरुष नहीं है और न ही उनके भौतिक शरीर होता है। इसे समझ लेना चाहिए। निर्विशेषवादियों का अल्पज्ञान उन्हें यह बता पाने में अक्षम रहता है कि परब्रह्म किस तरह पुरुष हो सकता है क्योंकि जब भी वे पुरुष के विषय में सोचते हैं तो इस भौतिक जगत के पुरुष को सोचते हैं। यही उनका दोष है। ईश्वर को इस जगत का पुरुष क्यों होना चाहिए? इसीलिए कुन्तीदेवी ने प्रारम्भ में ही इस भ्रम को यह कहकर दूर कर दिया है कि ईश्वर

प्रकृतेः परम् हैं अर्थात् इस जगत से परे हैं। फिर भी वे पुरुष हैं और अब कुन्ती की कृपा से हम समझ सकते हैं कि यद्यपि यह परम पुरुष *अलक्ष्यम्* अर्थात् अदृश्य रहता है किन्तु अब वह कृष्ण रूप में दृष्टिगोचर हुआ है।

कुन्तीदेवी *कृष्णाय वासुदेवाय* कहती हैं। कभी कभी *वासुदेव* शब्द का अर्थ "सर्वव्यापी" लगाया जाता है। निर्विशेषवादियों को वासुदेव की यही धारणा है, इसीलिए कुन्तीदेवी इंगित करती हैं, "वह सर्वव्यापी वासुदेव कृष्ण है"। *ईश्वरः सर्वभूतानां हृद्देशेऽर्जुन तिष्ठति*—परमेश्वर कृष्ण सबों के हृदय में विद्यमान हैं। इस तरह वे सर्वव्यापक हैं।

आदि पुरुष कृष्ण तीन रूपों में विद्यमान रहते हैं—परमेश्वर के रूप में, सर्वव्यापी परमात्मा के रूप में तथा निर्विशेष ब्रह्मज्योति के रूप में। जिन लोगों की रुचि भक्तियोग में होती है वे ब्रह्मज्योति में रुचि नहीं लेते क्योंकि यह सामान्य लोगों के लिए है। यदि कोई सूर्य का निवासी है तो सूर्यप्रकाश में उसकी रुचि कैसी? उसके लिए यह नगण्य है। इसी तरह जो लोग आध्यात्मिक जीवन में बढ़े-चढ़े हैं वे निर्विशेष ब्रह्मज्योति में रुचि नहीं दिखाते प्रत्युत वे *पुरुष*, परम पुरुष वासुदेव में रुचि रखते है। जैसा कि *भगवद्गीता* में कहा गया है, परमपुरुष की यह अनुभूति अनेकानेक जन्मों के पश्चात् होती है (*बहूनां जन्मनामन्ते*)। *ज्ञानी* या कि निर्विशेषवादी जिनकी अनुरक्ति ब्रह्मज्योति में होती है वे अपने ज्ञान के बल पर परब्रह्म को समझने का प्रयास करते हैं, किन्तु शायद वे यह नहीं जानते कि उनका ज्ञान अपूर्ण है जबकि कृष्ण या परब्रह्म असीम हैं। हम अपने सीमित ज्ञान से असीम तक नहीं पहुँच सकते। ऐसा सम्भव नहीं।

हम कुन्तीदेवी जैसे भक्तों की कृपा से यह समझ सकते हैं कि सर्वव्यापी परब्रह्म परमात्मा कृष्ण रूप में विद्यमान हैं (*कृष्णाय वासुदेवाय*)। निर्विशेषवादियों को वासुदेव की यह अनुभूति आसानी से नहीं हो पाती। *भगवद्गीता* में (७.१९) कृष्ण कहते हैं—

बहूनां जन्मनामन्ते ज्ञानवान्मां प्रपद्यते।
वासुदेवः सर्वमिति स महात्मा सुदुर्लभः॥

"अनेक जन्म-जन्मान्तर के बाद जिसे सचमुच ज्ञान होता है वह मुझको समस्त कारणों का कारण जान कर मेरी शरण में आता है। ऐसा महात्मा अत्यन्त दुर्लभ होता है।"

कृष्ण को समझने की विधि है *सेवोन्मुखे हि जिह्वादौ*। वासुदेव की अनुभूति जीभ से प्रारम्भ होने वाली सेवा के द्वारा सम्भव है। जीभ के दो कार्य हैं—उच्चारण करना तथा स्वाद लेना। अतएव यदि कोई बारम्बार हरे कृष्ण मन्त्र सुनता है और उसका उच्चारण करता है एवं कृष्ण को अर्पित भोजन अर्थात् *प्रसाद* का आस्वाद करता है तो वह इस सरल विधि से वासुदेव कृष्ण की अनुभूति करता है। कृष्ण स्वयं प्रकट होंगे। ऐसा नहीं है कि अपने प्रयास से ही हम कृष्ण को समझ सकते हैं। प्रेमाभक्ति के लिए किये गये प्रयास से हम योग्य बनेंगे और तब कृष्ण स्वयं प्रकट होंगे (*स्वयमेव स्फुरत्यदः*)।

हमें भगवद्धाम ले जाने के लिए कृष्ण अत्यधिक उत्सुक रहते हैं, किन्तु हम बड़े जिद्दी हैं। हम जाना ही नहीं चाहते इसलिए वे ऐसे अवसर की ताक में रहते हैं कि हमें वापस ले जावें। वे वत्सल पिता के तुल्य हैं। जब कोई धूर्त पुत्र अपने पिता को त्याग कर सड़कों की खाक छानता फिरता है और जब उसे न तो भोजन, न ही कोई आश्रय मिलता है तो पिता अपने पुत्र को इस तरह कष्ट झेलते देख कर उसे अपने घर वापस लाने के लिए उत्सुक रहता है। इसी तरह कृष्ण परम पिता हैं और इस भौतिक जगत् के भीतर सारे जीव धनी व्यक्ति की उन दिग्भ्रमित सन्तानों की तरह हैं जिन्होंने सड़कों पर इधर-उधर घूमते रहने के लिए अपना घर छोड़ रखे हैं। अतएव अपने सहगामी मनुष्यों के ऊपर जो सबसे बड़ा उपकार किया जा सकता है वह है उन्हें कृष्णभावनामृत प्रदान करना। जीव को कोई भी भौतिक लाभ तुष्ट नहीं कर पाएगा, किन्तु यदि उसे कृष्णभावनामृत प्रदान किया जा सके तो वह सचमुच तुष्ट हो सकेगा। सड़कों की खाक छानते मोहग्रस्त बालक को स्मरण दिलाया जा सकता है, "हे बालक! तू इतना कष्ट क्यों उठा रहा है? तू तो ऐसे धनी व्यक्ति का पुत्र है जिसके पास प्रभूत धन है। तू इस तरह सड़क में क्यों मारा फिरता है?" और यदि उसके समझ होती है कि "हाँ, मैं धनी व्यक्ति

का पुत्र हूँ। मैं सड़क में क्यों मारा फिरूँ?'' तब वह अपने घर लौट सकता है। इसलिए सबसे उत्तम सेवा होगी कि जो लोग कृष्ण को भूल चुके हैं उन्हें यह बताया जाय कि ''तुम कृष्ण के भिन्नांश हो। तुम इस भौतिक जगत में क्यों सड़ रहे हो?'' यही सबसे बड़ी सेवा है। *माया* अत्यन्त प्रबल है, किन्तु हर भक्त का यह कर्तव्य है कि वह हर एक को कृष्णभावनामृत से प्रकाशित करे। उदाहरणार्थ, कुन्तीदेवी ने सर्वप्रथम यह कहा कि, यद्यपि परमपुरुष कृष्ण भीतर तथा बाहर हैं, किन्तु धूर्तों तथा मूर्खों से वे अदृश्य रहते हैं। इसीलिए वे इंगित करती हैं ये रहे भगवान् कृष्ण।''

''कृष्ण सर्वव्यापक भगवान् हैं (*कृष्णाय वासुदेवाय*), किन्तु वे देवकी के पुत्र बनने में अत्यन्त प्रसन्न होते हैं (*देवकीनन्दनाय*)। देवकीनन्दन का उल्लेख *अथर्ववेद* में भी हुआ है। कृष्ण देवकीनन्दन के रूप में आते हैं और उनके पिता नन्दगोप या नन्दमहाराज हैं। कृष्ण को यह पसन्द है कि उनके भक्त उनके माता-पिता के रूप में हों। यद्यपि हम इस भौतिक जगत में परमेश्वर को पिता मान कर उनसे सम्बन्ध स्थापित करना चाहते हैं, किन्तु कृष्ण पुत्र बनना चाहते हैं। वे अपने भक्त का पुत्र बनने में हर्ष का अनुभव करते हैं। सामान्य लोग ईश्वर को अपने पिता के रूप में चाहते हैं, किन्तु यह कृष्ण को रास नहीं आता, क्योंकि पुत्र पिता को सदैव तंग कर सकता है कि मुझे यह दीजिये, वह दीजिये।

निस्सन्देह कृष्ण में महती शक्तियाँ होती हैं जिनसे वे हर किसी को जितनी इच्छा हो उतना दे सकते हैं। *एको बहूनां यो विदधाति कामान्*। वे हाथी को भोजन देते हैं और चींटी को भी देते हैं तो फिर मनुष्य को क्यों नहीं देंगे? किन्तु ये धूर्त इसे नहीं जानते। वे रोजी कमाने के लिए रात-दिन गधे की तरह परिश्रम करते हैं और यदि वे गिरजाघर जाते हैं तो वहाँ भी वे प्रार्थना करते हैं कि ''हे प्रभु मुझे रोटी दें''। उन्हें एकमात्र रोटी की समस्या सताती है।

यद्यपि जीव सबसे धनी तथा ऐश्वर्यवान् पुरुष का पुत्र है, किन्तु वह रोटी की समस्या से त्रस्त रहता है। यह अज्ञान कहलाता है। वह सोचता है, ''यदि मैं रोटी की समस्या नहीं सुलझाता, यदि मैं रात दिन ट्रक

नहीं चलाता तो मैं कैसे जीवित रह सकता हूँ?'' हमारी आधुनिक समस्या का यही बेढंगापन है। आखिर रोटी की समस्या है कहाँ? कृष्ण अपरिमित मात्रा में रोटी दे सकते हैं। अफ्रीका में हाथी हैं और कृष्ण उन सबों को भोजन देते हैं। अतएव यदि वे हाथियों को भोजन दे सकते हैं तो मनुष्यों को क्यों नहीं दे सकते? इसीलिए *भागवत* में कहा गया है—''इस रोटी समस्या में अपना समय मत गँवाओ''

तस्यैव हेतोः प्रयतेत कोविदो।
न लभ्यते यद् भ्रमतामुपर्यधः॥

हमें आर्थिक समस्याओं को सुलझाने में अपना समय नहीं गँवाना चाहिए। आर्थिक विकास निरर्थक है। हाँ, यह प्रस्ताव अत्यन्त क्रान्तिकारी है और इसके लिए लोग मुझसे घृणा कर सकते हैं, वे प्रश्न कर सकते हैं, ''स्वामीजी! यह क्या बक रहे हैं?'' किन्तु है यह यथार्थ। यह आर्थिक विकास पागलपन है। मान लीजिये कि किसी का पिता धनी है और उसके पास पर्याप्त भोजन है। मान लीजिये कि वह जानता है कि ''मेरा पिता शहर का सबसे धनी व्यक्ति है''। तो फिर कहाँ है कोई आर्थिक समस्या? वस्तुतः हमारी स्थिति यही है। हमारे समक्ष कोई आर्थिक समस्या नहीं है। हमें हर वस्तु पूरी तरह से प्रदान की हुई है। हम जल चाहते हैं। उसके लिए जल के सागर हैं। किन्तु हमें चाहिए शुद्ध जल। तब सागर में इतना जल होने पर भी उसका टोटा होने पर हमें कृष्ण की सहायता लेनी होगी जो जल को भाप बना कर बादल में परिणत करके जब फिर से वर्षा करेंगे तो जो जल मिलेगा वह मीठा होगा। अन्यथा हम उसे पी नहीं सकते।

हर वस्तु नियन्त्रण में है और हर वस्तु—जल, प्रकाश, उष्मा इत्यादि—पूर्ण है।

ॐ पूर्णमदः पूर्णमिदं पूर्णात् पूर्णमुदच्यते।
पूर्णस्य पूर्णमादाय पूर्णमेवावशिष्यते॥

''भगवान् पूर्ण हैं और पूर्ण होने से उनसे उद्भूत सारी वस्तुएँ—जैसे

कि कारणस्वरूप जगत—पूर्ण रूप में हैं। पूर्ण से जो भी उत्पन्न होता है वह भी अपने में पूर्ण है। चूँकि वे पूर्ण हैं अत: उनसे अनेक पूर्ण इकाइयाँ उद्भूत होती हैं तो भी वे पूर्ण बने रहते हैं। (*ईशोपनिषद*)। कृष्ण का भण्डार कभी नहीं चुकता। हमें केवल उनकी आज्ञा का पालन करना है और हर वस्तु प्राप्त होती रहेगी। इसलिए कृष्णभावनाभावित व्यक्ति के समक्ष कोई समस्या नहीं रहती। हर वस्तु पर्याप्त मात्रा में कृष्ण द्वारा पूरी की जाती है। लास ऐंजिलिस में हमारे मन्दिर के पड़ोसी कभी कभी अधिक ईर्ष्यालु रहते हैं। वे हमारे भक्तों से कहते हैं, "तुम काम नहीं करते। तुम्हें कोई चिन्ता नहीं है। तुम्हारे पास चार मोटरकारें हैं। तुम इतना अच्छा भोजन करते हो। यह सब क्या है?" वस्तुत: वे ठीक कहते हैं। हम किसी न किसी तरह अपनी आवश्यकता की वस्तुएँ पा ही लेते हैं और हमारे समक्ष कोई समस्या नहीं है क्योंकि कृष्ण का निष्ठावान दास बन लेने पर हर वस्तु प्राप्त हो जाती है। क्यों नहीं आकर हममें मिल जाते? यह वे नहीं करेंगे। हम कहते हैं, "हमारे साथ रहो, हरे कृष्ण का कीर्तन करो।" "नहीं, नहीं, नहीं। मैं यह नहीं कर सकता"। "तो फिर ट्रक चलाओ।" उन्होंने ट्रकों तथा मोटरकारों से बँध कर अपने जीवन को संकटमय बना लिया है और अन्यों के लिए भी संकट उत्पन्न कर दिया है। किसी भी क्षण दुर्घटना हो सकती है। किन्तु उनका कहना है कि यह तो सभ्यता है। यह सभ्यता नहीं। सभ्यता का अर्थ है शान्ति तथा सम्पन्नता। शान्ति तथा सम्पन्नता में मनुष्य को सदैव कृष्णभावनाभावित रहना चाहिए।

लोग थोड़े से भोजन के लिए अहर्निश कठोर श्रम करते हैं। उन्हें यह ज्ञात नहीं है कि उनका भोजन पहले ही दिया जा चुका है। *अविद्या कर्मसंज्ञान्या तृतीया शक्तिरिष्यते* (*विष्णुपुराण* ६.७.६१)। यह भौतिक जगत *अविद्या* या अज्ञान से पूर्ण है, अतएव हमारा प्रयास यही होना चाहिए कि इस अविद्या से हम छुटकारा पा सकें। इसीलिए हमें अविद्या से बाहर निकल आने के लिए कर्म करना चाहिए। हम तो यही सोचते रहते हैं, "मैं यह भौतिक शरीर हूँ। मुझे दिन-रात काम करना चाहिए जिससे मैं भोजन पा सकूँ और जीवित रह सकूँ।" यह अविद्या है। हम इस अविद्या

के जीवन को मनुष्येतर रूपों में भी जी चुके हैं। हम पक्षी, पशु आदि का जीवन बिता चुके हैं, किन्तु अब इस जीवन में हमें शान्ति तथा सुख से रहना चाहिए और एकमात्र परब्रह्म के विषय में जिज्ञासा करनी चाहिए (*जीवस्य तत्त्वजिज्ञासा, अथातो ब्रह्म जिज्ञासा*)। यह मनुष्य का कार्य होना चाहिए।

हम बैठकर कृष्ण के विषय में जिज्ञासा कर रहे हैं और यही मनुष्य को करना भी चाहिए। यही जीवन है। मनुष्य दिन-रात गधे की तरह क्यों खटे? यह किस तरह का जीवन है? यह जीवन नहीं है। इसलिए जो बुद्धिमान (*कोविद*) है उससे *भागवत* का कहना है "तुम अपना जीवन परब्रह्म को समझने में लगाओ।" तब मेरी आर्थिक समस्या कैसे हल हो पावेगी? इसका उत्तर यही है कि आर्थिक विकास से जिस सुख की कामना की जा रही है वह समय के साथ स्वतः पूरी होगी। *तल्लभ्यते दुःखवेदन्यत:* (भागवत १.५.१८)। हम सुख की तलाश में रहते हैं। क्या आप दुख की तलाश में हैं? "नहीं महोदय"। तो फिर आपको दुख क्यों मिलता है? यदि आप विपत्तियों तथा दुखों के लिए उत्सुक नहीं हैं तो फिर वे क्योंकर आते हैं? हमारे कर्म के अनुसार, हमारे जीवन में कुछ अंश सुख का है और कुछ दुख का। अतएव यदि दुख बिना बुलाये आता है तो सुख भी बिना बुलाये आवेगा।

हमारे भाग्य में पहले से कुछ सुख तथा कुछ दुख लिखा हुआ है जिसे हम बदल नहीं सकते। अतएव हमें जो परिवर्तन करना चाहिए वह है इस भौतिक जीवन से छुटकार पाने का। हमारा यही एकमात्र कार्य होना चाहिए। अपने कर्म के अनुसार कभी हम स्वर्गलोक में देवताओं के रूप में जन्म लेते हैं तो कभी कुत्ते-बिल्ली या मलभक्षी सूकर के रूप में जन्म धारण करते हैं। इसीलिए चेतन्य महाप्रभु ने कहा है—

एइ रूपे ब्रह्माण्ड भ्रमिते कोन भाग्यवान् जीव।
गुरु-कृष्ण-प्रसादे पाय भक्ति-लता-बीज॥

"सारे जीव अपने कर्मों के अनुसार सम्पूर्ण ब्रह्माण्ड में घूमते फिरते हैं। उनमें से कुछ तो स्वर्गलोक को और कुछ अधोलोक में जाते हैं।

करोड़ों भ्रमण कर रहे जीवों में जो अत्यन्त भाग्यशाली होता है वह कृष्ण की कृपा से गुरु का सान्निध्य प्राप्त कर पाता है। ऐसा व्यक्ति कृष्ण तथा गुरु दोनों ही की कृपा से भक्ति रूपी लता का बीज प्राप्त करता है। (*श्रीचैतन्य-चरितामृत*,मध्य १९.१५१)। केवल भाग्यशाली जीव ही कृष्ण तथा कृष्ण की भक्ति का बीज अर्थात् हरे कृष्ण मन्त्र का कीर्तन प्राप्त करता है। तब उसका जीवन उदात्त बन जाता है।

इसीलिए कुन्ती देवी हमारा ध्यान परम पुरुष कृष्ण की ओर लक्षित कर रही हैं जो *अलक्ष्य* हैं। वह अलक्ष्य पुरुष कौन है? यहाँ पर वह कृष्ण है। कोई कह सकता है, "अरे! कृष्ण! कृष्ण तो कई हैं। इसीलिए कुन्तीदेवी कहती हैं, "नहीं! *नन्दगोपकुमाराय*—मैं महाराजनन्द के पोष्य पुत्र की स्तुति कर रही हूँ।" इस तरह वे तीन बार कहती हैं—कृष्ण यहाँ हैं, कृष्ण यहाँ हैं, कृष्ण यहाँ हैं।

कृष्ण अधिकारिक रूप से देवकी तथा वसुदेव के पुत्र रूप में जन्म लेते हैं किन्तु अपने बाल्यकाल में वे माता यशोदा तथा नन्द महाराज की संगति का आनन्द लूटते हैं। यह कृष्ण की लीला है। *आनन्दलीलामय विग्रहाय*—कृष्ण की समस्त लीलाएँ आनन्दमय हैं। *आनन्दमयोऽभ्यासात्* (वेदान्त सूत्र १.१.१२)—वे स्वभाव से आनन्दमय हैं। हम कृष्ण को कभी अप्रसन्न नहीं पावेंगे। वे सदैव प्रसन्न रहते हैं और जो भी उनकी संगति करता है वह भी प्रसन्न रहता है। इसीलिए वे गोविन्द कहलाते है। *गो* का अर्थ है "इन्द्रियाँ"। हम इन्द्रियतृप्ति की ताक में रहते हैं और यदि हम कृष्ण की संगति करें तो हम इन्द्रियों का भरपूर आनन्द उसी तरह उठा सकते हैं, जिस तरह कृष्ण के साथ नृत्य करने वाली गोपियाँ। इस तरह इन्द्रियतृप्ति की कमी नहीं है, किन्तु कृष्ण की संगति में होने वाली इन्द्रियतृप्ति स्थूल इन्द्रियतृप्ति नहीं प्रत्युत आध्यत्मिक जगत में भोगी हुई आध्यात्मिक इन्द्रियतृप्ति होती है। *आनन्दचिन्मयसदुज्जवल विग्रहस्य*। *आनन्द* घटिया किस्म का आनन्द नहीं जिसे हम अपने शारीरिक इन्द्रियों से भोगते हैं। ऐसा शारीरिक भोग *आनन्द* नहीं अपितु मोह है। हम सोचते रहते हैं कि "मैं भोग रहा हूँ" किन्तु वह आनन्द वास्तविक नहीं क्योंकि भौतिक आनन्द दीर्घस्थायी नहीं होता। हर एक को इसका अनुभव है कि इस

भौतिक आनन्द का अन्त होता है। किन्तु आध्यत्मिक आनन्द का अन्त नहीं है प्रत्युत यह बढ़ता जाता है। यही अन्तर है। *आनन्दचिन्मयसदुज्जवलविग्रहस्य गोविन्दमादिपुरुषं तमहं भजामि* (*ब्रह्म-संहिता*५.३२)। इसलिए हमें गोविन्द की संगति करनी है।

यहाँ पर *गोविन्दाय नमोनमः* भी कहा गया है अर्थात् मैं गोविन्द को नमस्कार करती हूँ। कृष्णभावनामृत आन्दोलन इतना उदात्त है कि यह मनुष्य को गोविन्द के सम्पर्क में ला देता है। मन्दिर में कृष्ण के अर्चाविग्रह की पूजा भी गोविन्द के साथ सीधा सम्पर्क है। *श्रीविग्रहाराधननित्यनाना-शृंगारतन्मन्दिरमार्जनादौ* (श्री गुर्वष्टक ३)। *विग्रह* अर्थात् कृष्ण का अर्चाविग्रह कृष्ण की कृपा से प्रकट होता है। चूँकि कृष्ण *अलक्ष्य* हैं अतएव अपना दर्शन देने के लिए वे दृष्टिगोचर होते हैं। ऐसा नहीं है कि कृष्ण पत्थर, काष्ठ या धातु हैं। कृष्ण तो सदैव कृष्ण रहते हैं, किन्तु हम काष्ठ, पत्थर तथा धातु जैसे भौतिक तत्वों के परे कुछ देख ही नहीं सकते अतएव वे इन्हीं तत्वों से बने रूपों में प्रकट होते हैं। किन्तु वे न तो काष्ठ हैं, न पत्थर, न ही धातु। जब हम अर्चाविग्रह की संगति करते हैं तो हम साक्षात् कृष्ण की संगति करते हैं। चूँकि कृष्ण *अलक्ष्य* हैं अतएव वे ऐसा स्वरूप धारण करते हैं जो हमारे लिए लक्ष्य या दृश्य होता है। यह कृष्ण की कृपा है। आप यह न सोचें कि "अरे! ये तो पत्थर या धातु के रूप में कृष्ण हैं।" कृष्ण सर्वस्व हैं, अतएव वे पत्थर भी हैं किन्तु वे ऐसे पत्थर नहीं जो कार्य न करता हो। पत्थर या धातु के रूप में भी कृष्ण की ही तरह कार्य करते हैं और जो अर्चाविग्रह की पूजा करता है वह इसका अनुभव करता है। *स्वयमेव स्फुरत्यदः*। ऊपर से पत्थर दिखने वाला अर्चाविग्रह भक्त से बात कर सकता है। ऐसे अनेक दृष्टान्त हैं जिनमें ऐसा हुआ है।

इसलिए जब मेरे शिष्य अर्चाविग्रह को सुन्दर वस्त्र पहनाते हैं, उसे अच्छा भोजन अर्पित करते हैं और मन्दिर को खूब स्वच्छ रखते हैं तो मुझे अत्यधिक प्रसन्नता होती है। *श्रीमन्दिरमार्जनादौ*। *मार्जन* का अर्थ है "माँजना, साफ करना"। कोई चाहे कृष्ण को सुन्दर वस्त्र पहनावे या मन्दिर साफ करे—इससे मिलने वाला आध्यात्मिक लाभ एक-सा होता

है। ऐसा कभी न सोचें कि मैं तो एकमात्र झाड़ू-बुहारू लगाने वाला हूँ और वह वस्त्र पहनाने वाला है। अर्चाविग्रह को वस्त्र पहनाने वाला तथा मन्दिर को झाड़ने-बुहारने वाला दोनों व्यक्ति एक ही हैं क्योंकि कृष्ण परम हैं। इसलिए मनुष्य को किसी न किसी रूप में कृष्ण की सेवा करनी चाहिए और तभी उसका जीवन सफल होगा। यही कृष्णभावनामृत आन्दोलन है।

कुन्तीदेवी की कृपा से हम समझ सकते हैं कि वासुदेव कृष्ण भगवान् हैं। *वासुदेव* शब्द से यह भी इंगित होता है कि जब कोई व्यक्ति शुद्धसत्त्व को प्राप्त होता है तो भगवान् समझ में आते हैं जिन्हे *वसुदेव* या *विशुद्ध सत्त्व* कहते हैं। *सत्त्वम् विशुद्धं वसुदेव शब्दितम्* (भागवत ४.३.२३)। भगवान् को समझने के लिए हमें सर्वप्रथम *सत्त्व* पद को प्राप्त करना होता है, किन्तु इस भौतिक जगत में कभी कभी यह सत्त्व तमो तथा रजो गुणों से दूषित हुआ रहता है। किन्तु कृष्ण के विषय में श्रवण करने से मनुष्य शुद्धसत्त्व को प्राप्त होता है। *शृंण्वतां स्वकथाः कृष्णः पुण्यश्रवणकीर्तनः*। हमें चौबीसों घण्टे कृष्ण के विषय में श्रवण तथा कीर्तन करना चाहिए। इस तरह से हमारे हृदयों का मैल धुल सकेगा। इसका अर्थ यह नही है कि कोई व्यक्ति *भागवत सप्ताह* में सम्मिलित हो। यह दुरुपयोग है। *भागवत* में कहा गया है—*नष्ट प्रायेष्वभद्रेषु नित्यं भागवतसेवया*। *नित्यम्* का अर्थ है "प्रतिदिन या चौबीसों घण्टे"। मनुष्य को चाहिए कि *श्रीमद्भागवत* का सदैव पाठ करे और गुरु के आदेश का पालन करे। *भागवत* शब्द गुरु अथवा *श्रीमद्भागवत* दोनों के लिए प्रयुक्त हो सकता है। मनुष्य को चाहिए कि वह सदैव *भागवत* व्यक्ति की और *भागवत* ग्रन्थ की सेवा करे। *भगवत्युत्तमश्लोके भक्तिर्भवति नैष्ठिकी*। तब मनुष्य भगवान् की भक्ति में स्थिर हो जावेगा (*नैष्ठिकी*)।

इस तरह संस्तुत आध्यात्मिक विधि द्वारा कृष्णभावनामृत आन्दोलन के लाभों का अनुभव करना चाहिए और इन लोगों को चाहिए कि अन्य लोगों में वितरित करने का प्रयास करें। अन्यों की सुप्त कृष्ण चेतना को जागृत करना इस जगत में सबसे बड़ा कल्याण कार्य है। हम देख सकते हैं कि चार या पाँच वर्ष पूर्व जो भक्त कृष्णभावनाभावित नहीं थे वे अब

कृष्णभक्त हैं। इसी तरह अन्यों को भी जागृत किया जा सकता है। इसमें कोई कठिनाई नहीं। विधि वही है।

कुन्ती जैसे भक्त के पदचिन्हों का अनुसरण करते हुए हम कृष्ण की पहचान कर सकेंगे। उदाहरणार्थ, हम किसी व्यक्ति की पहचान के लिए उससे पूछ सकते हैं, "तुम्हारे पिता का क्या नाम है?" अतएव *श्रीमद्भागवत* ईश्वर को उनके पिता के नाम, उनकी माता के नाम तथा उनके पते के सहित प्रस्तुत करता है। हम वे निर्विशेषवादी नहीं हैं जिन्हें ईश्वर का अस्पष्ट भान होता है। यदि कोई व्यक्ति कृष्णभावनामृत आन्दोलन का लाभ उठावे तो वह ईश्वर को पूरी तरह से समझ सकता है।

५. कमलों का दृश्य

नमः पंकजनाभाय नमः पंकजमालिने।
नमः पंकजनेत्राय नमस्ते पंकजाङ्घ्रये॥

जिनके उदर के मध्य में कमल पुष्प के सदृश गर्त है, जो सदैव कमलपुष्प की माला धारण करते हैं, जिनकी चितवन कमलपुष्प के समान शीतल है और जिनके चरणों (के तलवों) में कमल अंकित हैं ऐसे भगवान् को मैं सादर नमस्कार करती हूँ।

—(*श्रीमद्भागवत १.८.२२*)

भगवान् के दिव्य शरीर में कुछ विशिष्ट चिन्ह होते हैं जिनसे उनका शरीर अन्य व्यक्तियों के शरीर से भिन्न लगता है। ये भगवान् के शरीर के विशिष्ट चिन्ह हैं। भले ही भगवान् हम जैसे प्रतीत हों, लेकिन वे अपने शारीरिक लक्षणों के कारण सर्वदा भिन्न रहते हैं। श्रीमती कुन्ती अपने आपको भगवान् का दर्शन कर पाने में अक्षम मानती हैं, क्योंकि वे स्त्री हैं। ऐसा माना जाता है कि स्त्रियाँ, शूद्र (श्रमिक वर्ग) तथा द्विजबन्धु (तीनों द्विजातियों की दुष्ट सन्तानें) परम सत्य के नाम, यश, लक्षण, रूप आदि से सम्बन्धित दिव्य विषय को समझ पाने में अक्षम होते हैं। यद्यपि ऐसे व्यक्ति भगवान् की लीलाओं को समझ पाने में अक्षम होते हैं तो भी वे भगवान् को अर्चाविग्रह के रूप में देख सकते हैं जो उपर्युक्त स्त्रियों, शूद्रों तथा द्विजबन्धुओं—समस्त पतितात्माओं पर दया करने के उद्देश्य से

भौतिक जगत में आवतार ग्रहण करते हैं। चूँकि ऐसे लोग पदार्थ से परे कुछ भी नहीं देख पाते अतः भगवान् गर्भोदकशायी विष्णु के रूप में असंख्य ब्रह्माण्डों में प्रविष्ट होने को तत्पर हुए जिनके दिव्य उदर के मध्य के कमलवत् गड्ढे (नाभि) से कमल-नाल फूटती है और इस ब्रह्माण्ड के प्रथम जीव ब्रह्मा का जन्म होता है। इसीलिए भगवान् को *पंकज-नाभि* कहा जाता है। ये पंकज-नाभि भगवान् अनेक तत्वों से बने *अर्चाविग्रह* के रूप को स्वीकार करते हैं—यथा मानसिक रूप, काष्ठ का रूप, पार्थिव रूप, धातु रूप, रत्न रूप, रंग रूप, बालुका रूप। भगवान् के इन सारे रूपों को कमल की मालाओं से सजाया जाता है। पूजा-मन्दिर में ऐसा शान्तिमय वातावरण होना चाहिए जिससे भौतिक कार्यों में निरन्तर लगे रहने वाले अभक्तगण उस ओर आकृष्ट हों। ध्यानी लोग मन के भीतर पूजा करते हैं, अतएव भगवान् स्त्रियों, शूद्रों तथा द्विजबन्धुओं पर भी दयालु होते हैं बशर्ते कि वे पूजा-मन्दिरों में जाना स्वीकार करें। ऐसे मन्दिर जाने वाले मूर्तिपूजक नहीं होते, जैसा कि कुछ अल्पज्ञ कहते हैं। बड़े बड़े आचार्यों ने अल्पज्ञों पर दया दिखाने के लिए सर्वत्र ऐसे पूजा-मन्दिरों की स्थापना की है। अतएव किसी को यह दिखावा नहीं करना चाहिए कि उसने मन्दिर की अवस्था पार कर ली है जबकि वह वास्तव में शूद्रों तथा स्त्रियों या उनसे भी निम्न श्रेणी में होता है। मनुष्य को चाहिए कि भगवान् का दर्शन कर उनके चरणकमलों से प्रारम्भ करके क्रमशः जाँघों, कमर, वक्षस्थल तथा मुख तक पहुँचे। उसे भगवान् के चरणकमलों के दर्शन का अभ्यास किये बिना भगवान् के मुख का दर्शन करने का प्रयत्न नहीं करना चाहिए। भगवान् की बुआ होने के कारण श्रीमती कुन्ती ने भगवान् का दर्शन चरणकमलों से प्रारम्भ नहीं किया, क्योंकि इससे भगवान् लज्जित होते। अतएव इस स्थिति से बचने के लिए उन्होंने भगवान् के चरणकमलों से ऊपर के भाग अर्थात् कमर से धीरे धीरे ऊपर की ओर उठते हुए मुख का और फिर चरणकमलों का दर्शन किया, क्योंकि गोले में प्रत्येक वस्तु क्रम से आती है।

कमल फूल को देखने पर तुरन्त ही कृष्ण का स्मरण हो सकता है। उदाहरणार्थ, यदि कोई अपने बच्चे को प्यार करता है और उसके कपड़े

या जूते या फिर किसी खिलौने को देखता है तो उसे तुरन्त अपने बच्चे का स्मरण हो आता है, "अरे, ये मेरे शिशु के जूते हैं। ये उसके खिलौने हैं। यह उसका कपड़ा है।" प्रेम का यही स्वभाव है। अतएव यदि कोई ईश्वर अर्थात् कृष्ण से प्रेम करता है तो वह उनका सदैव स्मरण कर सकता है।

कृष्ण को स्मरण करना कठिन नहीं है। यहाँ पर कुन्तीदेवी कृष्ण का वर्णन कमलपुष्पों के सन्दर्भ में कर रही हैं। इसी तरह जब कृष्ण *भगवद्गीता* में अपना वर्णन स्वयं करते हैं तो वे कहते हैं—*रसोऽहमप्सु कौन्तेय*—मैं तरल पदार्थों का स्वाद हूँ। यदि कोई सुरापान करते हुए भी सोचता है कि इस पेय का स्वाद कृष्ण है तो एक न एक दिन वह महान सन्त बन जाएगा। इसलिए मैं शराबियों तक को कृष्णभावनाभावित होने के लिए अनुरोध कर सकता हूँ, अन्यों की जाने दें, क्योंकि कृष्ण कहते हैं—*रसोऽहमप्सु कौन्तेय*—मैं पेयों का स्वाद हूँ। सामान्यतः इस सन्दर्भ में "पेय" का अर्थ जल लिया जाता है। किन्तु शराब भी पेय है। इसमें चीनी तथा शीरा और अन्य मेल को सड़ा कर आसव बना लिया जाता है। हाँ, यह बुरा होता है, क्योंकि नशा लाता है। यद्यपि एक अर्थ में कोई भी वस्तु बुरी नहीं है, किन्तु शराब बुरी है, क्योंकि इसका प्रभाव बुरा होता है। अमरीका में शराबियों की कमी नहीं। मैं शराबियों से भी अनुरोध करूँगा, "जब शराब पियो तो स्मरण करो कि यह शराब कृष्ण है। इस तरह से शुरू करने पर एक दिन तुम सन्त बन सकोगे। कृष्णभावनाभावित हो जाओगे॥"

अतएव यदि आप कृष्ण को पकड़ना चाहें तो वे हर स्थिति में उपलब्ध हैं। *भगवद्गीता* में (१०.१०) कृष्ण कहते हैं—

तेषां सततयुक्तानां भजतां प्रीतिपूर्वकम्।
ददामि बुद्धियोगं तं येन मामुपयान्ति ते॥

"जो प्रेमपूर्वक मेरी सेवा करने में निरन्तर लगे रहते हैं, उन्हें मैं ज्ञान प्रदान करता हूँ, जिसके द्वारा वे मुझ तक आ सकते हैं।" यदि कृष्ण को गम्भीरतापूर्वक ढूँढा जाय तो वे सर्वत्र हैं। *अण्डान्तरस्थपरमाणुचयान्तरस्थं*

गोविन्दमादि पुरुषं तमहं भजामि। (*ब्रह्म-संहिता* ५.३५)। कृष्ण ब्रह्माण्ड के भीतर, हमारे हृदयों के भीतर, यहाँ तक कि हर परमाणु के भीतर उपस्थित हैं। अतएव उन्हें ढूँढ पाना कठिन नहीं है, किन्तु ऐसा करने की विधि ज्ञात होनी चाहिए। यह विधि अत्यन्त सरल है और श्रीचैतन्य महाप्रभु की कृपा से हम इस विधि को नि:शुल्क ही हरएक को वितरित कर रहे हैं। यह विधि है हरे कृष्ण का कीर्तन करना। ज्योंही कोई हरे कृष्ण का कीर्तन करता है तुरन्त ही कृष्ण उसकी समझ में आ जाते हैं।

इसी तरह *श्रीमद्भागवत* को सुनकर या उसके श्लोक पढ़कर मनुष्य शुद्ध बन सकता है। *श्रीमद्भागवत* में विश्व का सारा ज्ञान प्राप्त है। इसके अन्तर्गत साहित्य, काव्य, ज्योतिष, दर्शन, धर्म तथा भगवत्प्रेम आते हैं। *श्रीमद्भागवतं प्रमाणममलम्*। एकमात्र *श्रीमद्भागवत* पढ़ कर सर्वोच्च शिक्षा प्राप्त की जा सकती है क्योंकि *श्रीमद्भागवत* पढ़ने से मनुष्य हर विषय में पारंगत बन जावेगा। यहाँ तक कि *श्रीमद्भागवत* के मन्त्रों के एक भी शब्द को न समझ पाने पर भी, उनकी ध्वनि में ऐसा शक्ति रहती है कि मात्र कीर्तन करने से वह शुद्ध हो जावेगा। *शृण्वतां स्वकथा: कृष्ण: पुण्यश्रवणकीर्तन:*। जो भी *श्रीमद्भागवत* के श्लोकों का उच्चारण करता है या सुनता है वह स्वत: पवित्र बन जाता है। पवित्र बनने के लिए सामान्यतया पर्याप्त प्रयास करना होता है, किन्तु मनुष्य *श्रीमद्भागवत* या *भगवद्गीता* के श्लोकों को सुना करके ही स्वत: पवित्र बन जाता है। इसलिए हमारे कृष्णभावनामृत आन्दोलन के प्रत्येक मन्दिर का यह कठोर नियम है कि प्रतिदिन श्रवण तथा कीर्तन की कक्षा लगे। हमारे आन्दोलन का उद्देश्य आध्यात्मिक नेताओं को प्रशिक्षित करना है, किन्तु श्रवण तथा कीर्तन के बिना नेता बन पाना असम्भव है। हाँ, इस भौतिक जगत में सम्भव हो भी, किन्तु आध्यात्मिक जगत में सम्भव नहीं है।

माली हञा सेइ बीज करे आरोपण।
श्रवण-कीर्तन-जले करये सेचन॥

(*चैतन्य चरितामृत*, मध्य १९.१५२)

श्रवण तथा कीर्तन भक्ति के बीज को सींचते हैं जिससे मनुष्य की आदि चेतना उत्पन्न होती है।

इस तरह परभक्त कुन्तीदेवी इन स्तुतियों द्वारा हमें अवसर प्रदान कर रही हैं कि हम *पंकज* अर्थात् कमल पर अपना ध्यान एकाग्र करके कृष्णभावनाभावित बनें। *पंक* का अर्थ हे "कीचड़" और *ज* का अर्थ है "उत्पन्न करना"। यद्यपि कमल का फूल कीचड़ से उत्पन्न होता है, किन्तु यह सबसे महत्वपूर्ण फूल है और कृष्ण को सर्वाधिक प्रिय है। इसीलिए कुन्तीदेवी कृष्ण के शरीर के सारे अंगों का वर्णन कमल के फूल के सन्दर्भ में करती हैं जिससे कमल के देखते ही हमें तुरन्त कृष्ण का विचार होने लगे, "ओह! कृष्ण की नाभि कमल के समान है। कृष्ण की नाभि से कमलनाल निकली जिसपर इस ब्रह्माण्ड के स्रष्टा ब्रह्मा उत्पन्न हुए। इस ब्रह्माण्ड में अनेकानेक लोक, समुद्र, पर्वत तथा मोटरकारों एवं अन्य साज-सामानों से युक्त शहर हैं किन्तु सम्पूर्ण ब्रह्माण्ड इसी कमल से शुरू हुआ।"

नमः पंकजमालिने। कृष्ण से वह अद्भुत कमल का फूल निकलता है जिसमें समग्र ब्रह्माण्ड का बीज निहित रहता है। किन्तु कृष्ण ऐसे किसी एक फूल के स्रोत नहीं। कृष्ण इतने दरिद्र नहीं कि एक ही फूल उत्पन्न करके समाप्त हो जायँ। जिस तरह माला में अनेक फूल रहते हैं उसी तरह कृष्ण असंख्य ब्रह्माण्डों के स्रोत हैं जिनकी उपमा कमल की विशाल माला से दी जा सकती है। यही ईश्वर हैं। *यस्यैकनिश्वसितकालमथावलम्ब्य। जीवन्ति लोमविलजा जगदण्डनाथाः* (*ब्रह्म-संहिता* ५.४८)। कृष्ण असीम हैं। हमें केवल इस एक लोक की चिन्ता रहती है, किन्तु कृष्ण की सृष्टि में असंख्य लोक हैं। हम इन लोकों की गणना नहीं कर सकते जिस तरह कि सिर के बालों की गणना नहीं की जा सकती। कृष्ण की सृष्टि का स्वभाव ऐसा ही है। अब दूसरा उदाहरण लें। एक वृक्ष में असंख्य पत्तियाँ होती हैं। इसी तरह लोक अनन्त हैं और ब्रह्माण्ड भी अनन्त हैं। अतएव, कृष्ण अनन्त हैं।

कृष्ण की नाभि कमल के समान है, उनके गले में कमलों की माला है और उनके नेत्रों की उपमा भी कमल की पंखडियों से दी गई है।

(*आलोल चन्द्रकलसद्वनमाल्यवंशी, ब्रह्म-संहिता* ५.३१)। अतएव यदि हम केवल इसी एक श्लोक का मनन करें, जिसमें कृष्ण के शरीर का वर्णन कमल के सन्दर्भ में किया गया है तो हम अपने सारे जीवन का ध्यान कर सकते हैं कि कृष्ण कितने सुन्दर हैं, कितने ज्ञानी हैं और वे किस तरह सृष्टि रचाते हैं। यह ध्यान कृष्ण का मनन या चिन्तन है। *ध्यानावस्थित तद् गतेन मनसा पश्यन्तिऽयं योगिन:*। योगी वह है जो सदैव कृष्ण का चिन्तन करता है।

जो लोग किसी निर्विशेष का चिन्तन करते हैं वो योगी नहीं हैं। उन्हें ध्यान में अधिकाधिक श्रम करना पड़ता है (*क्लेशोऽधिकरस्तेषामव्यक्तासक्त चेतसाम्*) किन्तु उन्हें कुछ महत्वपूर्ण उपलब्धि नहीं होती। अतएव ध्यान के बाद वे कहते हैं, "मुझे एक सिगरेट दीजिये। मेरा गला सूख रहा है। मुझे एक सिगरेट दीजिये।" यह कोई ध्यान नहीं। ध्यान का अर्थ है निरन्तर कृष्ण-चिन्तन (*सततं चिन्तयन्तो माम्*) तथा दृढ व्रत के साथ कृष्णभावनामृत की ओर अग्रसर होने का प्रयास (*यतन्तश्च दृढव्रता:*)।

हमें पवित्र बनना होगा। *परं ब्रह्म परं धाम पवित्रं परमं भवान्*। चूँकि कृष्ण पवित्र हैं, अतएव अशुद्ध रह कर हम कृष्ण तक नहीं पहुँच सकते। किन्तु यदि हम सदैव कृष्ण का चिन्तन और ध्यान करें तो हम पवित्र हो सकेंगे। *पुण्य श्रवण कीर्तन:*। यह ध्यान श्रवण तथा कीर्तन द्वारा ही सम्भव है और तब कृष्ण का चिन्तन स्वत: होने लगेगा। कृष्णभावनामृत की यही विधि है। *श्रवणं कीर्तन विष्णो: स्मरणं*। *स्मरण* का अर्थ है "स्मरण करना"। यदि हम श्रवण तथा कीर्तन करें तो स्मरण अपने आप होने लगेगा और तब हम कृष्ण के चरणकमलों की पूजा (*सेवनम्*) में लग सकेंगे। तब हम मन्दिर पूजा (*अर्चनम्*) एवं स्तवन (*वन्दनम्*) में अपने को लगा सकेंगे। तब हम अपने को कृष्ण के सेवक के रूप में (*दास्यम्*) लगा सकेंगे, कृष्ण के मित्र बन सकेंगे (*सख्यम्*) और हरवस्तु कृष्ण को अर्पित कर सकेंगे (*आत्म-निवेदनम्*)। कृष्णभावनामृत की यही विधि है।

६. इन्द्रियों के स्वामी अर्थात् हृषीकेश

कुन्त्युवाच
यथा हृषीकेश खलेन देवकी कंसेन रुद्धातिचिरं शुचार्पिता।
विमोचिताहं च सहात्मजा विभो त्वयैव नाथेन मुहुर्विपद्गणात्॥

हे हृषीकेश, हे इन्द्रियों के स्वामी तथा देवों के देव! आपने दीर्घकाल तक बन्दीगृह में बन्दिनी और दुष्ट राजा कंस द्वारा सताई जाती अपनी माता देवकी को तथा निरन्तर विपत्तियों से घिरी मुझको मेरे पुत्रों समेत मुक्त किया है।

—(*श्रीमद्भागवत १.८.२३*)

कृष्ण की माता तथा कंस की बहन देवकी को उसके पति सहित बन्दीगृह में रख दिया गया था क्योंकि दुष्ण राजा कंस को भय था कि वह देवकी के आठवें पुत्र (कृष्ण) द्वारा मारा जाएगा। उसने कृष्ण के पूर्व देवकी के सारे बच्चों का वध कर दिया था, किन्तु कृष्ण का वध नहीं हो पाया, क्योंकि वे नन्द महाराज के घर पहुँचा दिये गये थे। कुन्तीदेवी भी अपने पुत्रों समेत अनेक कष्टों से बचाई जाती रहीं। लेकिन भगवान कृष्ण ने कुन्तीदेवी पर कुछ अधिक ही अनुग्रह किया था, क्योंकि वे देवकी के अन्य पुत्रों की रक्षा नहीं कर पाये थे जबकि कुन्ती विधवा थीं और कृष्ण के अतिरिक्त उनका कोई अन्य रक्षक न था। निष्कर्ष यह निकला कि कृष्ण उस भक्त पर अधिक अनुग्रह करते हैं जो महान

संकट में रहता है। कभी कभी वे जानबूझ कर शुद्ध भक्तों को ऐसे संकटों में डालते रहते हैं, क्योंकि ऐसी असहायावस्था में भक्त भगवान् के प्रति अधिक अनुरक्त होता है। भगवान् के प्रति जितनी ही अनुरक्ति होगी, भक्त को उतनी ही अधिक सफलता प्राप्त होगी।

भक्त देवकी, जो बाद में कृष्ण की माता बनीं, कोई सामान्य महिला न थीं। आखिर भगवान् की माता कौन बन सकती है? कृष्ण सबसे बड़े भक्त का ही पुत्र बनना स्वीकार करते हैं। अपने पूर्वजन्मों में देवकी तथा उनके पति ने कठोर तपस्या की थी, अतएव जब कृष्ण वर देने के लिए उनके समक्ष प्रकट हुए तो उन्होंने ईश्वर जैसे पुत्र की इच्छा जताई। किन्तु ईश्वर के तुल्य दूसरा व्यक्ति कहाँ हो सकता है? यह सम्भव नहीं। ईश्वर *असमौर्ध्व* हैं—अर्थात् न तो कोई उनके तुल्य है, न उनसे बढ़ कर। किसी प्रकार की प्रतियोगिता सम्भव नहीं। कोई यह नहीं कह सकता, "मैं ईश्वर हूँ, तुम ईश्वर हो, वह ईश्वर है, हम सभी ईश्वर हैं।" जो ऐसा कहता है वह ईश्वर नहीं कुत्ता है। (अंग्रेजी में गाड शब्द को उलटने पर डाग बनता है जिसका अर्थ कुत्ता होता है) क्योंकि ईश्वर महान है और उसका कोई प्रतियोगी नहीं है। कोई भी उनके तुल्य नहीं। सभी उनसे निम्नतर हैं। *एकले ईश्वर कृष्ण आर सब भृत्य*—कृष्ण ही एकमात्र स्वामी हैं और सभी उनके सेवक हैं, जिसमें ब्रह्मा, विष्णु तथा शिव जैसे महान देवता तक आते हैं, अन्यों की जाने दें। *शिवविरिञ्चि नुतम्*। शास्त्र में कहा गया है कि शिव तथा ब्रह्मा जैसे सर्वोच्च देवता भी कृष्ण का आदर करते हैं।

मनुष्यों के ऊपर देवता हैं। जिस तरह हम मनुष्य निम्नतर पशुओं के ऊपर हैं उसी तरह हमारे ऊपर देवता हैं जिनमें से ब्रह्मा तथा शिव अत्यन्त महत्वपूर्ण हैं। ब्रह्मा इस ब्रह्माण्ड के स्रष्टा हैं, शिव इसके संहारकर्ता तथा विष्णु जो कि साक्षात् कृष्ण हैं, इसके पालनकर्ता हैं। इस भौतिक जगत को धारण करने के लिए तीन गुण हैं—सत्त्वगुण, रजोगुण तथा तमोगुण। विष्णु, ब्रह्मा तथा शिव ने इन गुणों में से एक एक का भार ले रखा है—विष्णु ने सत्त्वगुण का, ब्रह्मा ने रजो गुण का तथा शिव ने तमोगुण का। फिर भी ये तीनों नियन्त्रक इन गुणों के अधीन नहीं हैं। जिस तरह

बन्दीगृह पर्यवेक्षक (सुपरिटेंडेंट) कैदी न होकर नियन्त्रण अधिकारी होता है, उसी तरह ये तीनों देवता इन तीनों गुणों को नियन्त्रित करते हैं और इन गुणों के अधीन नहीं होते।

किन्तु सबों के ऊपर परम नियन्ता तो कृष्ण हैं जो हृषीकेश के रूप में जाने जाते हैं। हृषीक शब्द का अर्थ है इन्द्रियाँ। हम अपनी इन्द्रियों का भोग करते हैं, किन्तु इन इन्द्रियों के परम नियन्ता कृष्ण हैं। उदाहरणार्थ, मेरे हाथ को लें। मैं कहता हूँ कि "यह मेरा हाथ है। मैं आपसे अच्छी मुक्केबाजी कर सकता हूँ।" मुझे इसका काफी घमंड हैं। किन्तु नियन्ता मैं नहीं हूँ। नियन्ता तो कृष्ण हैं, क्योंकि यदि वे मेरे हाथ की काम करने की शक्ति को वापस ले ले तो हाथ शून्य पड़ जावेगा। यद्यपि मैं दावा करता हूँ कि "यह मेरा हाथ है और मैं इसे काम में लाऊँगा" किन्तु जब यह शून्य पड़ जाता है तो मैं कुछ भी नहीं कर सकता। अतएव, मुझे समझना चाहिए कि यद्यपि कृष्ण की दया से मेरे हाथ हैं किन्तु इसका नियिन्ता मैं नहीं हूँ। यही कृष्णभावनामृत है।

बुद्धिमान व्यक्ति कहेगा, "यदि अन्ततोगत्वा इस हाथ के नियन्ता कृष्ण हैं तो यह कृष्ण के निमित्त है। यह सामान्य समझ की बात है। मैं दावा करता हूँ कि "यह मेरा हाथ है, यह मेरा पाँव है, यह मेरा कान है।" यहाँ तक कि बच्चा भी ऐसा ही कहेगा। यदि हम बच्चे से पूछें कि "यह क्या है?" तो वह कहेगा, "यह मेरा हाथ है।" किन्तु हम चाहे दावा जैसा भी करें, वास्तव में यह हमारा हाथ नहीं है। यह हमें प्रदान किया गया है। चूँकि मैं इसे अनेकानेक प्रकार से इस्तेमाल करना चाहता हूँ, इसलिए कृष्ण ने मुझे इसे दिया है "लो! इस हाथ का इस्तेमाल करो।" अतएव यह कृष्ण से मिला उपहार है इसलिए बुद्धिमान व्यक्ति सदैव सचेत होकर सोचता है "मेरे पास का यह शरीर तथा इन्द्रियाँ वास्तव में मेरी नहीं हैं। ये मुझे उपयोग करने के लिए दी गई हैं और यदि सारी वस्तुएँ अन्ततः कृष्ण की हैं तो फिर सारी वस्तुओं का उपयोग कृष्ण के लिए क्यों नहीं किया जाता? यही बुद्धि है और यही कृष्णभावनामृत है।

सारे जीव कृष्ण के अंश हैं (*ममैवांशो जीवलोके जीवभूताः*) अतएव

सारे जीवों की इन्द्रियाँ भी कृष्णकी हैं। जब हम इन इन्द्रियों को कृष्ण की सेवा में लगाते हैं तो हमें जीवन-सिद्धि प्राप्त होती है। इसीलिए *हृषीकेण हृषीकेशसेवनमं भक्तिरुच्यते*—जब हम अपनी इन्द्रियों से (*हृषीकेण*) इन्द्रियों के असली स्वामी हृषीकेश की सेवा करते हैं तो यह सेवा *भक्ति* कहलाती है। भक्ति की यह सीधी सादी परिभाषा है। *हृषीकेशसेवनं* न कि *हृषीकसेवनं*—अर्थात् इन्द्रियों के स्वामी की सेवा न कि स्वयं इन्द्रियों की सेवा! जब हम अपनी इन्द्रियों का उपयोग इन्द्रिय-तृप्ति के लिए करते हैं तो हम माया में होते हैं, किन्तु जब इनका उपयोग इन्द्रियों के स्वामी के लिए करते हैं तो वह सेवा *भक्ति कहलाती है।*

इस भौतिक जगत में सारे लोग अपनी इन्द्रियों का उपयोग इन्द्रिय-तृप्ति के लिए करते हैं। यह माया है और हमारे बन्धन का कारण यही है। किन्तु, जब कोई व्यक्ति कृष्णभावनामृत को प्राप्त होता है, जब वह शुद्ध हो जाता है और यह समझने लगता है कि ये इन्द्रियाँ वस्तुतः कृष्ण की तृप्ति के लिए होते हैं तो वह मुक्त पुरुष बन जाता है।

ईहा यस्य हरेर्दास्ये कर्मणा मनसा गिरा।
निखिलाष्वप्यवस्थासु जीवन्मुक्तः स उच्यते॥

"जो व्यक्ति मनसा वाचा कर्मणा कृष्ण की सेवा करता है वह इस जगत में होते हुए भी मुक्त पुरुष है।" मनुष्य को यह समझना होगा कि "मेरी इन्द्रियों का स्वामी हरएक के हृदय के भीतर आसीन है।" *भगवद्गीता* में (१५.१५) कृष्ण कहते हैं—*सर्वस्य चाहं हृदि सन्निविष्टो*—मैं हर एक के हृदय में आसीन हूँ। *मत्तःस्मृतिर्ज्ञानमपोहनं च*—और मुझी से स्मृति, ज्ञान तथा विस्मृति उत्पन्न हैं।

कृष्ण इतने दयालु हैं कि यदि हम अपनी इन्द्रियों को किसी निश्चित प्रकार से इस्तेमाल करना चाहते हैं तो वे ऐसा करने के लिए हमें अवसर प्रदान करते हैं। ये इन्द्रियाँ हमारी नहीं हैं, ये कृष्ण की हैं किन्तु, कृष्ण हमें अपनी इच्छानुसार उनको प्रयोग में लाने का अवसर प्रदान करते हैं। उदाहरणार्थ, हम सबों के जीभ है और मान लीजिये कि हम मल-भक्षण करना चाहते हैं। यदि हम कहें कि "हे कृष्ण! मैं मल-भक्षण करना

चाहता हूँ।'' तो कृष्ण यही कहेंगे, ''हाँ, तुम यह सूकर शरीर ग्रहण करो और मल का भक्षण करो।'' स्वामी तो कृष्ण हैं। वे हमें उपयुक्त शरीर देते हैं और याद दिलाते हैं ''मेरे जीव! तुम मल-भक्षण करना चाहते थे। लो, अब तुम्हें सही शरीर मिला है जिसमें तुम वैसा कर सकते हो।'' इसी तरह यदि कोई देवता बनना चाहता है तो वे उसे वैसा भी करने का अवसर देंगे। कुल चौरासी लाख योनियाँ है और यदि कोई व्यक्ति किसी विशेष प्रकार के शरीर में अपनी इन्द्रियों को लगाना चाहता है तो कृष्ण उसे अवसर प्रदान करेंगे ''आओ! तुम जो शरीर चाह रहे हो वह यह है। इसे लो।'' किन्तु अन्ततः वह व्यक्ति अपनी इन्द्रियों का उपयोग करके क्षुब्ध हो जाता है। अन्त में वह इन्द्रियविहीन हो जाएगा। इसीलिए कृष्ण कहते हैं—*सर्वधर्मान्परित्यज्य मामेकं शरणं व्रज*—तुम इस तरह कार्य मत करो। तुम्हारी इन्द्रियाँ मेरी सेवा करने के लिए हैं। तुम अपनी इन्द्रियों का दुरुपयोग कर रहे हो, इसीलिए विभिन्न प्रकार के शरीरों में पाशबद्ध होते हो। इसलिए एक शरीर छोडकर दूसरा, तीसरा, चौथा शरीर ग्रहण करने की झंझट से छुटकारा पाने के लिए इन्द्रियतृप्ति की इस विधि को त्याग दो और मेरी शरण में आओ। तब तुम बच सकोगे।'' यह है कृष्णभावनामृत।

सम्प्रति हमारी इन्द्रियाँ कल्मषग्रस्त हैं। मैं सोचता हूँ कि ''मैं अमरीकी हूँ, अतएव मेरी इन्द्रियों का उपयोग मेरे देश, मेरे समाज, मेरे राष्ट्र की सेवा के लिए होना चाहिए।'' या फिर मैं सोचता हूँ कि ''मैं भारतीय हूँ, मेरी इन्द्रियाँ भारतीय हैं, अतएव इनका उपयोग भारत के लिए होना चाहिए।'' अविद्या में मनुष्य यह नहीं जानता कि उसकी इन्द्रियाँ कृष्ण की होती हैं। बल्कि वह यह सोचता है कि उसकी इन्द्रियाँ अमरीकी, भारतीय या अफ्रीकी हैं। यह माया कहलाती है। भौतिक जीवन में इन्द्रियाँ ऐसी उपाधियों से — यथा अमरीकी, भारतीय तथा अफ्रीकी से — प्रच्छन्न रहती हैं किन्तु जब हमारी इन्द्रियाँ इन समस्त उपाधियों से कल्मषग्रस्त नहीं होतीं (*सर्वोपाधिविर्मुक्तं*) तो भक्ति प्रारम्भ होती है।

यह सोचना कि ''मैं अमरिकी हूँ, मैं कृष्णभावनामृत को क्यों अपनाऊँ और एक हिन्दू देव की पूजा क्यों करूँ?'' मूर्खता है। यदि कोई यह

सोचता है कि "मैं मुसलमान हूँ, मैं हिन्दू हूँ या कि ईसाई हूँ" तो वह माया में है। उसे चाहिए कि वह अपनी इन्द्रियों को पवित्र बनाए जिससे वह समझ सके कि "मैं आत्मा हूँ और कृष्ण परमात्मा हैं। मैं कृष्ण का अंश हूँ, अतएव कृष्ण की सेवा करना मेरा कर्तव्य है।" जब कोई इस तरह सोचता है तो वह तुरन्त मुक्त हो जाता है। उस समय कोई न तो अमरीकी रह जाता है, न भारतीय, न अफ्रीकी। उस समय वह कृष्णमय अर्थात् कृष्णभावनाभावित हो जाता है। यही चाहिए भी। इसीलिए कुन्तीदेवी कहती हैं, "हे कृष्ण! हे हृषीकेश! आप इन्द्रियों के स्वामी हैं।"

इन्द्रिय-तृप्ति के लिए हम इस भौतिक दशा को प्राप्त हुए हैं और नाना प्रकार के जीवन का भोग कर रहे हैं। चूँकि यह भौतिक जगत है इसलिए कृष्ण की माता तक को कष्ट उठाना पड़ा। देवकी इतनी अग्रसर थीं कि वे कृष्ण की माता बनीं, किन्तु फिर भी उन्हें उनके ही भाई कंस ने कष्ट में डाल दिया। इस भौतिक जगत का यही स्वभाव है। इस जगत में जीव इतने ईर्ष्यालु हैं कि यदि किसी के हित में बाधा उत्पन्न होती है तो वह तुरन्त ही अन्यों को कष्ट देने के लिए उठ खड़ा होगा, यहाँ तक कि अपने निकटतम सम्बन्धियों को भी।

खल शब्द का अर्थ है "ईर्ष्यालु"। यह भौतिक जगत ईर्ष्या-द्वेष का संसार है। मैं तुमसे ईर्ष्या करता हूँ और तुम मुझसे ईर्ष्या करते हो। किन्तु कृष्णभावनामृत आन्दोनल तो ऐसे व्यक्ति के लिए है जो ईर्ष्यालु या द्वेषपूर्ण नहीं हैं। ईर्ष्या-द्वेष से मुक्त होने पर मनुष्य पूर्ण मानव बन जाता है। *धर्म:प्रोज्झितकैतवोऽत्र परमो निर्मत्सराणां सताम्* (भागवत १.१.२)। जो लोग ईर्ष्या-द्वेष से मुक्त हैं वे इस लोक में और जो नहीं हैं वे आध्यात्मिक जगत में होते हैं। हम आध्यात्मिक रूप से बढ़े-चढ़े हैं या नहीं इसके विषय में सन्देह करने की कोई आवश्यकता नहीं है। हम स्वयं ही परीक्षा कर सकते हैं। *भक्ति:परेशानुभवो विरक्तिरन्यत्र च* (भागवत ११.२.४२)। जब हम खाते हैं तो स्वयं जान सकते हैं कि हमारी भूख शान्त हुई कि नहीं, हमें अन्यों से प्रमाणपत्र लेने की आवश्यकता नहीं रहती। इसी तरह हम स्वयं परीक्षा कर सकते हैं कि हम भौतिक जगत में हैं या

आध्यत्मिक जगत में। यदि हम ईर्ष्या-द्वेष से युक्त हैं तो हम भौतिक जगत में होते हैं और यदि हम ऐसे नहीं हैं तो हम आध्यत्मिक जगत में होते हैं।

यदि कोई ईर्ष्यालु नहीं है तो वह कृष्ण की सेवा अच्छी तरह से कर सकता है क्योंकि ईर्ष्या-द्वेष की शुरुआत कृष्ण से ईर्ष्या करने पर होती है। उदाहरणार्थ, कुछ दार्शनिक सोचते हैं, "कृष्ण क्यों ईश्वर होंगे? मैं भी ईश्वर हूँ।" कृष्ण से ईर्ष्या करना ही भौतिक जीवन की शुरुआत है। वे सोचते हैं, "कृष्ण ही क्यों भोक्ता हों? मैं भी भोक्ता होऊँगा। कृष्ण ही गोपियों के साथ क्यों विहार करें? मैं कृष्ण बनूँगा और गोपियों की मंडली बना कर विहार करूँगा।" यह माया है। कृष्ण के अतिरिक्त कोई अन्य भोक्ता नहीं हो सकता। इसीलिए *भगवद्गीता* में कृष्ण कहते हैं—*भोक्तारं यज्ञ*—मैं ही एकमात्र भोक्ता हूँ। यदि हम कृष्ण को भोग की वस्तुएँ प्रदान करते हैं तो हमें जीवन सिद्धि-प्राप्त होती है। किन्तु यदि हम यह सोचकर कि "मैं ईश्वर बनकर उन्हीं की तरह विलास करूँगा" कृष्ण का अनुकरण करना चाहते हैं तो हम माया में हैं। हमारी स्वाभाविक स्थिति कृष्ण के भोग की पूर्ति करना है। उदाहरणार्थ, आध्यात्मिक जगत में कृष्ण भोग करते हैं और गोपियाँ कृष्ण को भोग की वस्तुओं की पूर्ति करती है। यह भक्ति है।

भक्ति स्वामी तथा दास के मध्य का सम्बन्ध है। दास का कर्तव्य स्वामी की सेवा करना है और स्वामी दास की सारी आवश्यकताएँ पूरी करता है।

नित्यो नित्यानां चेतनश्चेतनानाम्।
एको बहूनां यो विदधाति कामान्॥

(कठ उपनिषद् २.२.१३)

वैदिक ग्रंथ बतलाते हैं कि कृष्ण मनुष्य के जीवन की सारी आवश्यकताओं की पूर्ति कर सकते हैं। तब न तो अभाव रहता है न कोई आर्थिक समस्या। हमें केवल कृष्ण की सेवा करनी है। तब हर काम पूरा हो जावेगा।

यदि कृष्ण चाहें तो प्रचुर सामग्री मिल सकती है। उदाहरणार्थ, अमरीका में हर आवश्यक वस्तु की प्रचुरता है, यद्यपि अन्य देशों में ऐसा नहीं है। उदाहरणार्थ, जब मैं स्विटजरलैंड गया तो मैंने देखा कि वहाँ सारी वस्तुएँ आयातित हैं। केवल हिम (बर्फ) की स्थानीय पूर्ति होती है। यह सब कृष्ण के नियन्त्रण में है। यदि कोई भक्त बन जाता है तो उसे ठीक से भोजन मिलेगा, किन्तु यदि वह भक्त नहीं बनता तो हिम से आच्छादित हो जावेगा। हर वस्तु कृष्ण के नियन्त्रण में है, अतएव किसी वस्तु का अभाव नहीं है। यदि अभाव है तो कृष्णभावनामृत का है।

निस्सन्देह यह जगत संकटों से परिपूरित है। किन्तु कुन्तीदेवी कहती हैं, "चूँकि देवकी आपकी भक्त है इसलिए आपने उनके भाई द्वारा ढाये जा रहे कष्टों से उनको बचा लिया।" जैसे ही देवकी के भाई ने यह सुना कि उसकी बहन का आठवाँ पुत्र उसका वध करेगा वैसे ही वह देवकी को मार डालने के लिए तत्पर हो उठा। किन्तु देवकी के पति ने उसे शान्त किया। पति का कर्तव्य है कि अपनी पत्नी की रक्षा करे अत: देवकी के पति ने कहा, "मेरे साले! तुम अपनी बहन से इतनी ईर्ष्या क्यों करते हो? तुम्हारी बहन तो तुम्हें मारने नहीं जा रही, वह तो उसका पुत्र होगा जो तुम्हें मारेगा। इसलिए मैं उसके सारे पुत्र लाकर तुम्हें दे दिया करूँगा और तब तुम जो चाहे सो उनके साथ करना। तुम इस निर्दोष, नवविवाहिता को क्यों मारते हो? यह तुम्हारी छोटी बहन है। तुम्हें अपनी पुत्री के ही समान इसकी रक्षा करनी चाहिए। तुम इसे क्यों मारोगे?" उन्होंने इस तरह कंस को फुसलाया। उसने वसुदेव के इन शब्दों पर विश्वास कर लिया कि वह सारे पुत्रों को कंस के पास ले आएगा। वसुदेव ने सोचा "वर्तमान परिस्थिति से निपट लूँ। बाद में हो सकता है कि कंस को जब उसका भांजा मिले तो वह इस ईर्ष्या को भूल जाय।" किन्तु कंस कभी नहीं भूला। उसने दीर्घकाल तक (*अतिचिरम्*) देवकी तथा वसुदेव को बन्दीगृह में रखा और उनके सारे पुत्रों को मार डाला। अन्त में कृष्ण प्रकट हुए जिन्होंने वसुदेव तथा देवकी को बचाया।

इसलिए हमें देवकी तथा कुन्ती की ही तरह कृष्ण पर आश्रित रहना चाहिए। कुन्ती के विधवा होने के बाद ईर्ष्यालु धृतराष्ट्र उनके पाँचों पुत्र

पाण्डवों को मार डालने की सदैव योजना बनाता रहता था। उसने सोचा कि भाग्यवश मैं जन्मान्ध हूँ जिससे मैं राज्य सिंहासन का उत्तराधिकारी नहीं बन पाया, उल्टे मेरे छोटे भाई को यह अधिकार मिला। अब वह मृत है तो यह सिंहासन मेरे पुत्रों को मिलना चाहिए। यह भौतिकतावादी लालसा है। मनुष्य सोचता है, "मैं सुखी होऊँगा, मेरे पुत्र सुखी रहेंगे, मेरी जाति सुखी रहेगी, मेरा राष्ट्र सुखी होगा। यह शब्दशः स्वार्थ है। जब कोई भी व्यक्ति कृष्ण का चिन्तन नहीं कर रहा तो कृष्ण कैसे सुखी हो सकते हैं?" हर व्यक्ति अपने ही सुख के विषय में सोच रहा है "मैं कैसे सुखी हो सकूँगा? मेरे बच्चे, मेरी जाति, मेरा समाज तथा मेरा राष्ट्र कैसे सुखी होगा?" हमें यही सर्वत्र मिलेगा। हरव्यक्ति अपने अस्तित्व के लिए संघर्ष कर रहा है। वह यह नहीं सोचता कि कृष्ण किस तरह सुखी होंगे। कृष्णभावनामृत अत्यन्त उदात्त है। हमें *श्रीमद्भागवत* तथा *भगवद्गीता* से समझना चाहिए और अपनी इन्द्रियों को इन्द्रियों के स्वामी की सेवा में लगाने का प्रयास करना चाहिए (*हृषीकेण हृषीकेशसेवनम्*)। तभी हम वास्तव में सुखी हो सकेंगे।

७. घातक मुठभेड़ें

कुन्त्युवाच

विषान्महाग्ने: पुरुषाददर्शनादसत्सभाया वनवासकृच्छ्रत:।
मृधे मृधेऽनेकमहारथास्त्रतो द्रौण्यस्त्रतश्चास्म हरेऽभिरक्षिता:॥

हे कृष्ण! आपने हमें विषमय भोजन से, महान अग्निकाण्ड से, मनुष्य-भक्षकों से, दूषित सभा से, वनवास काल के कष्टों से तथा महारथियों द्वारा लड़े गये युद्ध से बचाया है। और अब आपने हमें अश्वत्थामा के अस्त्र से बचा लिया है।

—(*श्रीमद्भागवत १.८.२४*)

यहाँ पर घातक मुठभेड़ों की सूची प्रस्तुत की गई है। देवकी को तो एक ही बार अपने दुष्ट भाई के कारण कष्ट मिला अन्यथा वे कुशलपूर्वक रहीं, किन्तु कुन्तीदेवी तथा उनके पुत्रों को वर्षों लगातार एक के बाद एक कष्ट उठाने पड़े। उन्हें राज्य के लिए दुर्योधन तथा उसके पक्ष के लोग मुसीबतों में डालते रहे और हर बार कृष्ण ने कुन्ती-पुत्रों की रक्षा की। एक बार भीम को विष खिला दिया गया। एक बार उन्हें लाक्षाग्रह में रखकर उसमें आग लगा दी गई तथा एक बार द्रौपदी का चीर-हरण किया गया और दुष्ट कौरवों की सभा में उन्हें नंगी करने का प्रयास किया गया। भगवान् ने द्रौपदी के वस्त्रों को इतना बढ़ा दिया कि दुर्योधन का दल उन्हें नंगी होते न देख सका। इसी प्रकार जब पाँचो पांडव वनवास में थे तो भीम को मनुष्यभक्षक राक्षस हिडिम्ब से लड़ना

पड़ा। तब भगवान् ने भीम की रक्षा की। किन्तु खेल यहीं नहीं समाप्त हुआ। इन सब कष्टों के बाद महान कुरुक्षेत्र का युद्ध हुआ और अर्जुन को द्रोण, भीष्म तथा कर्ण जैसे महाबली महारथियों का सामना करना पड़ा। और जब सब समाप्त हो गया तो द्रोणाचार्य के पुत्र ने उत्तरा के गर्भस्थ शिशु को मारने के लिए ब्रह्मास्त्र छोडा, तो भगवान् को कुरुवंश की एकमात्र जीवित सन्तान महाराज परीक्षित की रक्षा करनी पड़ी।

यहाँ पर कुन्ती उस सारे संकटों का स्मरण करती हैं जो पाण्डवों को उनका राज्य फिर से प्राप्त होने तक सहने पड़े। *भगवद्गीता* में भगवान् कृष्ण कहते हैं—*कौन्तेय प्रतिजानीहि न मे भक्त: प्रणश्यति*—हे अर्जुन! तुम दुनिया के सामने यह घोषित कर दो कि मेरा भक्त कभी विनष्ट नहीं होता। पाण्डु के पुत्र भगवान् कृष्ण के महान भक्त थे, किन्तु भौतिक जगत के लोगों की रुचि भौतिक वस्तुओं में होती है इसलिए उन्हें नाना प्रकार के संकट झेलने पड़े। उनका भौतिकतावादी ताऊ उन्हें मार डालने तथा अपने पुत्रों के लिए उनकां राज्य हड़प जाने की सदैव योजना बनाया करता था। यह आदि से उसकी नीति रही है।

एक बार धृतराष्ट्र ने लाख का घर बनवाया जो इतना ज्वलनशील था कि दियासलाई की सलाई छुवाते ही लपटों का रूप धारण कर सकता था। तब उसने अपने भतीजों एवं अपनी अनुजबधू कुन्ती से कहा, "मैंने तुम लोगों के लिए बहुत सुन्दर घर बनवाया है। तुम लोग वहाँ जाकर कुछ दिन ठहरो।" किन्तु धृतराष्ट्र के भाई विदुर ने उन्हें धृतराष्ट्र की सारी कूटनीति की सूचना दे दी कि "वह तुम लोगों को उस घर में इसीलिए भेजना चाहता है जिससे तुम लोग भस्म हो जाओ।" जब दुर्योधन को पता चला कि विदुर ने पाण्डवों को इस तरह सूचित कर दिया है तो वह उन पर अत्यधिक क्रुद्ध हुआ। राजनीति ऐसी ही होती है। यद्यपि पाण्डव जान गये थे कि उनके ताऊ की योजना हमें उस घर में भेजने और उसमें आग लगाने की है तो भी उन्होंने वहाँ जाना अंगीकार कर लिया। आखिर धृतराष्ट्र उनका अभिभावक था और वे वयोवृद्ध के आदेश की अवज्ञा नहीं करना चाहते थे। किन्तु उन्होंने इस घर के नीचे नीचे एक सुरंग खोद ली और जब घर में आग लगा दी गई तो वे भाग

निकले।

दूसरी बार जब पाण्डव घर पर थे तो धृतराष्ट्र ने उन्हें जहरीली रोटियाँ दीं किन्तु वे विष से बच गये। तब *पुरुषाद-दर्शनात्*—उन्हें मानवभक्षी हिडिम्बा राक्षस मिला, किन्तु भीम ने उसे युद्ध में मार डाला।

एक अन्य अवसर पर कुरुओं के राजदरबार में पाण्डवों को पाँसा के खेल में धोखा दिया गया। उसमें धृतराष्ट्र, भीष्मदेव, द्रोणाचार्य तथा अन्य गुरुजन उपस्थित थे और पाण्डवों की पत्नी द्रौपदी को दाँव पर लगाया गया। कुरुओं ने पाण्डवों से कहा, "अब द्रौपदी तुम लोगों की पत्नी नहीं रही।" अतएव जब पाण्डव जुए में हार गये तो कर्ण तथा दुःशासन ने द्रौपदी को पकड़ लिया। उन्होंने उससे कहा, "तुम अब अपने पतियों की नहीं रही। तुम हमारी सम्पत्ति हो। हम जैसा चाहें तुम्हारे साथ बर्ताव करें।"

इसके पूर्व द्रौपदी-स्वयम्बर में कर्ण को अपमानित होना पड़ा था। उन दिनों अत्यन्त योग्य राजकुमारी स्वयम्वर समारोह में अपना पति चुना करती थी। हाँ, आधुनिक अमरीका में कोई भी लड़की इच्छा से अपना पति चुन सकती है, यद्यपि सामान्य लड़की के लिए यह शोभनीय नहीं है। किन्तु उस काल में भी असामान्य एवं अत्यधिक योग्य लड़की अच्छा पति चुनना जानती थीं और उसे चुनाव करने का अवसर प्रदान किया जाता था। उदाहरणार्थ, द्रौपदी के पिता ने एक मछली टँगवा दी थी और ऐसी शर्त रखी थी कि उसकी पुत्री से विवाह करने के लिए राजकुमार को मछली देखे बिना, फर्श पर रखे जल पात्र में उसकी परछाईं को देख कर, उस मछली की आँख को तीर द्वारा बेधना होगा। जब इन शर्तों की घोषणा की गई तो तमाम राजकुमार स्पर्धा के लिए आगे आये क्योंकि चुनौती स्वीकार करना क्षत्रिय-सिद्धान्त था।

द्रौपदी के स्वयम्वर की सभा में कर्ण उपस्थित था। द्रौपदी का असली प्रयोजन पति रूप में अर्जुन को वरण करना था, किन्तु कर्ण भी वहाँ उपस्थित था और वह जानती थी कि यदि उसने प्रतियोगिता में भाग लिया तो अर्जुन सफल नहीं हो सकेगा। उस समय यह ज्ञात नहीं था कि कर्ण क्षत्रिय है। वह कुन्ती की कोख से उनके विवाह के पूर्व ही

जन्मा था, किन्तु इसे गुप्त रखा गया था। कर्ण का पालन-पोषण एक बढ़ई ने किया था, अतएव वह शूद्र के रूप में विख्यात था। द्रौपदी ने यह कहकर इसका लाभ उठाया कि इस सभा में केवल क्षत्रिय ही भाग ले सकते हैं। मैं नहीं चाहती कि कोई बढ़ई यहाँ आकर इस प्रतियोगिता में भाग ले। इस तरह कर्ण का पत्ता कट गया।

कर्ण ने इसे बहुत बड़ा अपमान समझा, अतएव जब पाण्डव जुएँ में द्रौपदी को हार गये तो सबसे पहले कर्ण ही आगे बढ़ा। वह दुर्योधन का प्रगाढ़ मित्र था। उसने कहा, "अब हम द्रौपदी का नग्न सौन्दर्य देखना चाहते हैं। उस सभा में धृतराष्ट्र, भीष्म तथा द्रोणाचार्य जैसे वृद्धपुरुष उपस्थित थे, किन्तु उन्होंने इसका विरोध नहीं किया। उन्होंने यह नहीं कहा कि यह क्या हो रहा है? तुम एक स्त्री को इस सभा में नंगा क्यों करने जा रहे हो? चूँकि उन्होंने इसका विरोध नहीं किया इसीलिए उन्हें *असत् सभाया:*—असभ्य पुरुषों की सभा कहा गया है। केवल असभ्य व्यक्ति ही स्त्री को नंगी देखना चाहता है, यद्यपि आजकल यह फैशन बन चुका है। वैदिक संस्कृति के अनुसार, स्त्री से यह उम्मीद नहीं की जाती कि वह अपने पति के अतिरिक्त अन्य किसी के समक्ष नंगी हो। चूँकि इन लोगों ने उस विशाल सभा में द्रौपदी को नंगी देखना चाहा था, इसलिए वे सभी धूर्त थे। *सत्* शब्द का अर्थ है 'नेक' या भद्र और *असत्* का अर्थ है अभद्र या असभ्य। इसीलिए कुन्तीदेवी कृष्ण से प्रार्थना करती हैं, "आपने अभद्रों की उस सभा में द्रौपदी की रक्षा की।" जब कुरुगण उसे नंगी देखने के लिए उसकी साड़ी उतार रहे थे तो कृष्ण ने साड़ी को बढ़ाया था जिससे वे लोग उसका अन्त नहीं पा सके। जब सभा में वस्त्र का ढेर लग गया तो वे थक गये और उन्हें अनुभव हुआ कि वह कभी भी नंगी नहीं हो पावेगी। वे समझ गये कि यह असम्भव है।

पहले तो द्रौपदी अपनी साड़ी पकड़े रहीं, किन्तु आखिर वे क्या कर सकती थीं? वे स्त्री थीं और कुरुगण उन्हें नंगा करने पर तुले थे। अतएव उन्होंने चिल्लाकर कृष्ण से प्रार्थना की, "मेरी लाज की रक्षा कीजिये, किन्तु अपनी साड़ी पकड़े रह कर उन्होंने अपनी रक्षा करने की कोशिश भी की। तब उन्होंने सोचा कि इस तरह अपनी लाज की रक्षा कर पाना

असम्भव है, इसलिए उन्होंने दोनों हाथ उठाकर प्रार्थना की, "हे कृष्ण! चाहें तो आप मुझे बचा सकते हैं।" इस तरह कृष्ण ने उनकी प्रार्थना सुन ली।

इसलिए अपने को बचाने का प्रयास करना बहुत अच्छा नहीं होता। प्रत्युत उसे एकमात्र कृष्ण पर निर्भर रहना चाहिए, "हे कृष्ण! यदि आप मुझे बचाते हैं तो बहुत अच्छा। अन्यथा मुझे मार डालिये। आप जैसा चाहें करें।" भक्ति विनोद ठाकुर कहते हैं—

मानस, देह, गेह—जो किछु मोर।
अर्पिलुँ तुया पदे, नन्दकिशोर॥

"हे प्रभु! मेरे पास जो कुछ भी है उसे मैं आपको अर्पित करता हूँ। और मेरे पास है ही क्या? मेरे पास यह शरीर तथा मन है, मेरे पास छोटा सा घर है तथा मेरी पत्नी और बच्चे हैं किन्तु मेरे पास जो कुछ भी है वह मैं आपको न्यौछावर करता हूँ।" यह है पूर्ण समर्पण या शरणागति।

कृष्णभक्त बिना हिचक के अपने को कृष्ण को समर्पित कर देता है, इसीलिए वह *अकिञ्चन* कहलाता है। *किञ्चन* का अर्थ है थोड़ा बहुत जिसे अपने लिये बचाया जाय और *अकिञ्चन* का अर्थ है अपने लिए कुछ भी न रख छोड़ना। यद्यपि, वास्तविकता तो यह है कि मनुष्य को इसी तरह समर्पण करना चाहिए, किन्तु इस भौतिक जगत में उसे उनकी नकल नहीं करनी चाहिए जो पूर्णरूपेण समर्पित हैं। रूपगोस्वामी ने जो दृष्टान्त प्रस्तुत किया है उसके अनुसार मनुष्य को अपनी सम्पत्ति का पचास प्रतिशत कृष्ण के लिए तथा पचीस प्रतिशत अपने उन सम्बन्धियों के लिए, जो उससे आशा रखते हैं, दे देना चाहिए और पचीस प्रतिशत अपनी निजी आवश्यकता के लिए रखना चाहिए। रूपगोस्वामी ने अवकाश प्राप्त करने के पूर्व अपना धन इस प्रकार से वितरित कर दिया, यद्यपि बाद में जब उनका भाई सनातन गोस्वामी, जो कि महान भक्त था, बन्दी बनाया गया तो रूपगोस्वामी ने सब कुछ व्यय कर दिया। यह पूर्ण समर्पण है। इसी तरह द्रौपदी ने अपनी रक्षा स्वयं करने का प्रयास किये बिना कृष्ण

को समर्पण कर दिया। तब अमाप्य वस्त्र की पूर्ति हो गई और कुरुगण उन्हें नंगी न देख सके।

किन्तु इसके बाद जुएँ के खेल में यह शर्त लगाई गई कि यदि पाण्डव जुएँ में हार जाएँगे तो उन्हें बारह वर्ष के लिए जंगल में जाना होगा। इसके बाद एक वर्ष तक अज्ञातवास करेंगे और यदि पहचान लिये गये तो पुन: बारह वर्षों तक जंगल में रहना पड़ेगा। पांडव इस बार भी हार गये, अतएव उन्होंने बारह वर्षों तक वनवास तथा एक वर्ष अज्ञातवास किया। जब अज्ञातवास कर रहे थे तभी अर्जुन ने उत्तरा को जीता था।

ये सारी घटनाएँ '*महाभारत*' नामक ग्रंथ में अंकित हैं। *महा* का अर्थ है 'विशाल' और *भारत* सूचक है इंडिया या भारत का। इस तरह *महाभारत* विशाल भारत का इतिहास है। कभी कभी लोग इन विवरणों को कहानियाँ या पौराणिक कथाएँ मानते हैं, किन्तु यह व्यर्थ की बात है। *महाभारत* तथा सारे पुराण इतिहास हैं, यद्यपि ये तिथिवार नहीं हैं। यदि इतने विस्तृत काल का इतिहास तिथिवार अंकित किया जाता तो न जाने कितने पृष्ठ घेरता? अतएव सबसे महत्वपूर्ण घटनाएँ चुनकर उनका वर्णन *महाभारत* में किया गया।

कुन्ती कृष्ण की स्तुति यह वर्णन करते हुए करती हैं कि उन्होंने कुरुक्षेत्र के युद्धस्थल में पाण्डवों की किस तरह से रक्षा की। *मृधे मृधेऽनेकमहारथास्त्रत:*। कुरुक्षेत्र युद्धस्थल में बड़े बड़े योद्धा थे जो महारथ कहलाते थे। जिस तरह आधुनिक समय में सैनिकों को लेफ्टीनैंट, कप्तान, कमांडर तथा कमांडर-इन-चीफ की पदवियाँ दी जाती हैं उसी तरह प्राचीन काल में *एकरथ, अतिरथ* तथा *महारथ* की पदवियाँ प्रदान की जाती थीं। यदि कोई योद्धा एक रथ के विरुद्ध लडता था तो वह *एकरथ* कहलाता था। कुरुक्षेत्र युद्धस्थल के सारे कमाण्डर *महारथ* थे। इनमें से अनेक का उल्लेख *भगवद्गीता* में हुआ है। भीष्म, कर्ण तथा द्रोणाचार्य विशेष रूप मे महान कमांडर थे। वे इतने शक्तिशाली योद्धा थे कि अर्जुन महारथ होते हुए भी उनके सामने नगण्य था। किन्तु कृष्ण की कृपा से वह कर्ण, भीष्म, द्रोणाचार्य तथा अन्यों का बध करने एवं विजयी होने में समर्थ हो सका। शुकदेव गोस्वामी से बोलते हुए महाराज परीक्षित ने इसका भी उल्लेख

किया है। उन्होंने कहा, "कुरुक्षेत्र का युद्धस्थल सागर के समान था और सारे योद्धा अनेकानेक हिंस्र जलचरों के तुल्य थे। किन्तु कृष्ण-कृपा से मेरे पितामह अर्जुन ने सरलता से इस सागर को पार कर लिया।"

यह अत्यन्त महत्वपूर्ण बात है। भले ही अनेक अत्यन्त शक्तिशाली योद्धा हमारे शत्रु के रूप में हों, किन्तु यदि हम कृष्ण के संरक्षण में रह जावें तो हमें कोई भी व्यक्ति क्षति नहीं पहुँचा सकता। *रखे कृष्ण मारे के मारे कृष्ण रखे के*—जिसकी कृष्ण रक्षा करते हैं उसे कोई नहीं मार सकता, किन्तु यदि कृष्ण ही मारना चाहें तो उसे कोई संरक्षण प्रदान नहीं कर सकता। उदाहरणार्थ, कोई धनवान व्यक्ति किसी रोग से पीड़ित है। भले ही उसे उत्तम कोटि का वैद्य, औषधि तथा अस्पताल उपलब्ध क्यों न हों तो भी वह मर सकता है। इसका अर्थ है कि कृष्ण ने चाहा कि इस व्यक्ति को मरना चाहिए। अतः यदि कृष्ण नहीं चाहते कि हम जीवित रहें तो हमारे द्वारा ईजाद किये गये तथाकथित सुरक्षात्मक उपाय व्यर्थ होंगे। रावण असुर अत्यन्त बलशाली था, किन्तु जब भगवान् रामचन्द्र के रूप में कृष्ण ने उसे मार डालना चाहा तो कोई भी उसकी रक्षा नहीं कर सका। रावण शिवजी का महान भक्त था और वह उनसे प्रार्थना कर रहा था, "कृपया आकर इस संकट से मेरी रक्षा कीजिये।" किन्तु शिवजी नहीं आये। तब शिवपत्नी पार्वती ने शिव से पूछा "यह क्या है? वह इतना बड़ा भक्त है और उसने आपकी इतनी सेवा की है। इस समय वह संकट में है और आपसे सहायता माँग रहा है। आप उसकी सहायता करने क्यों नहीं जाते?" तब शिवजी ने उत्तर दिया, "हे पार्वती! मैं क्या करूँ? मैं उसे संरक्षण नहीं दे सकता। यह असम्भव है। मैं क्योंकर जाऊँ?" इसलिए यदि ईश्वर किसी को मारना ही चाहते हैं तो उसे कोई भी संरक्षण नहीं दे सकता। किन्तु यदि ईश्वर किसी की रक्षा करना चाहते हैं तो उसे कोई नहीं मार सकता। *रखे कृष्ण मारे के मारे कृष्ण रखे के*।

इस तरह कुन्ती स्मरण कर रही हैं कि किस तरह एक के बाद एक कृष्ण ने उन्हें तथा उनके पुत्रों को बचाया। यह *स्मरणम्* है अर्थात् कृष्ण का चिन्तन, "हे कृष्ण! आप हम पर इतने कृपालु हैं कि आपने हमें

अनेक महान संकटों से बचाया। आपके बिना कोई आशा न थी।''

अन्तिम संकट था *द्रौण्यस्त्र का*—द्रोण पुत्र अश्वत्थामा के हथियार का। अश्वत्थामा ने पाण्डवों के पाँचों पुत्रों का बध करके सबसे घृणित कार्य किया। कुरुक्षेत्र के युद्ध में दोनों ही पक्ष के लोग एक ही वंश के थे और एक तरह से सारे लोग मारे जा चुके थे किन्तु पाण्डवों के पाँच पुत्र बच रहे थे। अतएव अश्वत्थामा ने सोचा, ''यदि मैं पाण्डवों के इन पाँचों पुत्रों को मार कर इनके सिर दुर्योधन को भेंट कर दूँ तो वह अत्यन्त प्रसन्न होगा।'' अतएव जब ये पाँचों पुत्र सो रहे थे तो उसने उनके सिर काट लिए और ले जाकर दुर्योधन को भेंट कर दिया। दुर्योधन की सारी शक्ति जाती रही। उसकी रीढ टूट गई और वह हिल-डुल न सका। अश्वत्थामा ने कहा, ''हे दुर्योधन! मैं पाँचों पाण्डवों के सिर ले आया हूँ।'' सर्वप्रथम दुर्योधन अत्यन्त हर्षित हुआ किन्तु वह जानता था कि इन सिरों की परीक्षा कैसे की जाय कि ये असली हैं या नकली। जब उसने सिरों को दबाया तो वे पिचक गये अत: दुर्योधन ने कहा, ''ओह! ये पाण्डवों के सिर नहीं हैं। ये अवश्य ही उनके पुत्रों के सिर होंगे।'' जब अश्वत्थामा ने स्वीकार किया कि बात ऐसी ही है तो दुर्योधन मूर्छित हो गया और जब होश आया तो उसने कहा, ''तुमने तो हमारी सारी आशाओं पर पानी फेर दिया। मैंने आशा की थी कि कम से कम ये पाँच पुत्र हमारे वंश में बचे रहेंगे किन्तु तुमने उनको मार डाला।'' इस तरह वह शोक से मर गया।

बाद में अर्जुन ने अश्वत्थामा को बन्दी बना लिया और उसे मारने जा रहा था। वस्तुत: कृष्ण ने ही आदेश दिया, ''इसे मार डालो। यह ब्राह्मण नहीं, यह शूद्र से भी बदतर है।'' किन्तु तभी द्रौपदी ने कहा, ''मैं अपने पुत्रों की मृत्यु के कारण कष्ट पा रही हूँ और यह धूर्त हमारे गुरु महाराज द्रोणाचार्य का पुत्र है जिन्होंने हमारे लिए बहुत किया है। यदि अश्वत्थामा मरता है तो द्रोणाचार्य की पत्नी, हमारी गुरुमाता, अत्यन्त दुखी होंगी, इसलिए इसे छोड़ दें।'' इस तरह अर्जुन ने अश्वत्थामा को छोड़ दिया। किन्तु अपमानित होने के कारण अश्वत्थामा ने ब्रह्मास्त्र छोड़ कर बदला ले लिया। ब्रह्मास्त्र नाभिकीय हथियार जैसी वस्तु है। यह शत्रु

के पास, जहाँ कहीं भी वह हो, जा सकता है और उसका बध कर सकता है। अश्वत्थामा जानता था कि "कुरुवंश का अन्तिम वंशज अभिमन्युपुत्र परीक्षित है। वह उत्तरा के गर्भ में है, अतएव यदि मैं उसका भी बध कर दूँ तो सारा वंश समाप्त हो जावेगा।"

जब ब्रह्मास्त्र छोड़ा गया तो परीक्षित महाराज की माता उत्तरा को लगा कि उसे गर्भपात होने वाला है, अतएव वह यह कहती हुई कृष्ण के पास पहुँची, "कृपया मुझे बचाइये।" अत: कृष्ण अपनी योगशक्ति से उत्तरा के गर्भ में प्रविष्ट हो गये और शिशु को बचा लिया। कुरुक्षेत्र के युद्ध के बाद अपनी माता के गर्भ में स्थित परीक्षित महाराज ही पाण्डवों की अन्तिम बची हुई सन्तान थे और जब वे उत्पन्न हुए तो एकमात्र उनके पितामह ही जीवित थे। परीक्षित महाराज अभिमन्यु के पुत्र थे, जो कृष्ण की बहन सुभद्रा के गर्भ से उत्पन्न अर्जुन के पुत्र थे। जब अभिमन्यु सोलह वर्ष के थे तो युद्ध करने गये और वहाँ सात बड़े बड़े कमांडरों ने मिलकर उनका बध कर दिया। सुभद्रा के केवल एक पौत्र परीक्षित महाराज थे। जब वे बड़े हो गये तो पाण्डवों ने सारा साम्राज्य उन्हें सौंप दिया और स्वयं घर छोड़कर हिमालय चले गये। यह कथा *महाभारत* में वर्णित है। पाण्डवों पर अनेक विपत्तियाँ आईं किन्तु सभी परिस्थितियों में वे कृष्ण पर ही निर्भर रहे जिन्होंने सदैव उनकी रक्षा की। इन विपत्तियों के प्रति कुन्ती की प्रतिक्रिया का अंकन अगले श्लोक में हुआ है।

८. विपदाएँ आती हैं तो आएँ

विपदः सन्तु ताः शश्वत तत्र तत्र जगद्गुरो।
भवतो दर्शनं यत् स्यादपुनर्भवदर्शनम्॥

मैं चाहती हूँ कि ये सारी विपत्तियाँ फिर फिर आयें जिससे हम आपका पुनः दर्शन कर सकें क्योंकि आपके दर्शन का यह अर्थ है कि हमें बारबार जन्म-मृत्यु नहीं देखना पड़ेगा।

—(*श्रीमद्भागवत १.८.२५*)

सामान्यतया आर्त, जरुरतमन्द, बुद्धिमान तथा जिज्ञासु लोग, जिन्होंने कुछ पुण्यकर्म किये हैं, भगवान् की पूजा करते हैं या पूजा करना प्रारम्भ करते हैं। अन्य लोग, जो दुष्कर्म से ही फूलते-फलते हैं, चाहे वे जिस स्तर के हों, माया द्वारा भ्रमित होने के कारण भगवान् के पास फटकते भी नहीं। अतएव पुण्यात्मा के लिए विपत्ति आने पर भगवान् के चरणकमलों में शरण लेने के अतिरिक्त और कोई विकल्प नहीं बचता। भगवान् के चरणकमलों का निरन्तर स्मरण करना जन्म-मृत्यु से छूटने की तैयारी करना है। अतः भले ही तथाकथित विपदाएँ आयें, उनका स्वागत करना होगा, क्योंकि वे भगवान् के स्मरण का अवसर प्रदान करती हैं जिसका अर्थ है मुक्ति।

जिसने भगवान् के चरणकमलों की शरण ले ली है, जो अविद्या के सागर को पार करने के लिए सर्वोत्तम नाव के तुल्य है, वह उतनी ही

के लिए भी यही सच है। इसलिए जब शरीर विनष्ट हो जाता है तो आत्मा रहा आता है। किन्तु जब मैं अपने पुत्र को या अपने पितामह को मरता हुआ देखता हूँ और यह देखता हूँ कि मैं बध कर रहा हूँ तो केवल यह जानकर कि वे मर नहीं रहे अपितु उनके शरीर बदल रहे हैं मैं किस तरह धैर्य धारण करूँ? मैं शरीर के रूप में स्नेहपूर्वक उनके विषय में सोचने का अभ्यस्त हूँ अत: शोक तथा कष्ट होना ही चाहिए।

कृष्ण ने अर्जुन के कहे हुए से इनकार किया। उन्होंने उत्तर दिया, "हाँ, यह तथ्य है। चूँकि तुममें देहात्मबुद्धि है, इसलिए कष्ट तो होगा ही। अतएव तुम्हें सहन करना होगा। इसके अतिरिक्त कोई चारा नहीं है।" जैसा कि *भगवद्गीता* में उल्लेख हुआ है (२.१४) कृष्ण ने अर्जुन से कहा—

मात्रास्पर्शास्तु कौन्तेय शीतोष्णसुखदु:खदा:।
आगमापायिनोऽनित्यास्तांस्तितिक्षस्व भारत॥

"हे कुन्तीपुत्र! सुख तथा दुख का क्षणिक उदय तथा कालक्रम में उनका अन्तर्धान होना सर्दी तथा गर्मी की ऋतुओं के आने-जाने के समान है। हे भरतवंशी! वे इन्द्रियबोध से उत्पन्न होते हैं और मनुष्य को चाहिए कि अविचल भाव से उनको सहन करना सीखे।"

कभी कभी अमरीका में प्रात:काल काफी ठंड पड़ सकती है जिससे प्रात:कालीन स्नान कर सकना कुछ कठिन पड़ सकता है। किन्तु क्या इसका अर्थ यह है कि जो भक्त हैं वे अपना प्रात:कालीन नियत स्नान करना बन्द कर देंगे? नहीं। ठंड भले ही क्यों न हो, उन्हें नियमित स्नान करना चाहिए। कर्तव्य को पूरा करना चाहिए, भले ही उसमें कुछ कष्ट क्यों न उठाना पड़े। यह *तपस्या* कहलाती है। तपस्या का अर्थ है कि इस जगत के संकटों तथा विपदाओं के बावजूद हमें कृष्णभावनामृत के कार्य में अग्रसर होते रहें। यह तपस्या अथवा जीवन की कठिनाइयों को स्वेच्छा से अंगीकार करना है।

कभी कभी तपस्या का कठोर व्रत धारण करने वाले लोग अपने चारों ओर अग्नि जलाकर बैठते हैं तथा गर्मी की झुलसाने वाली धूप में भी

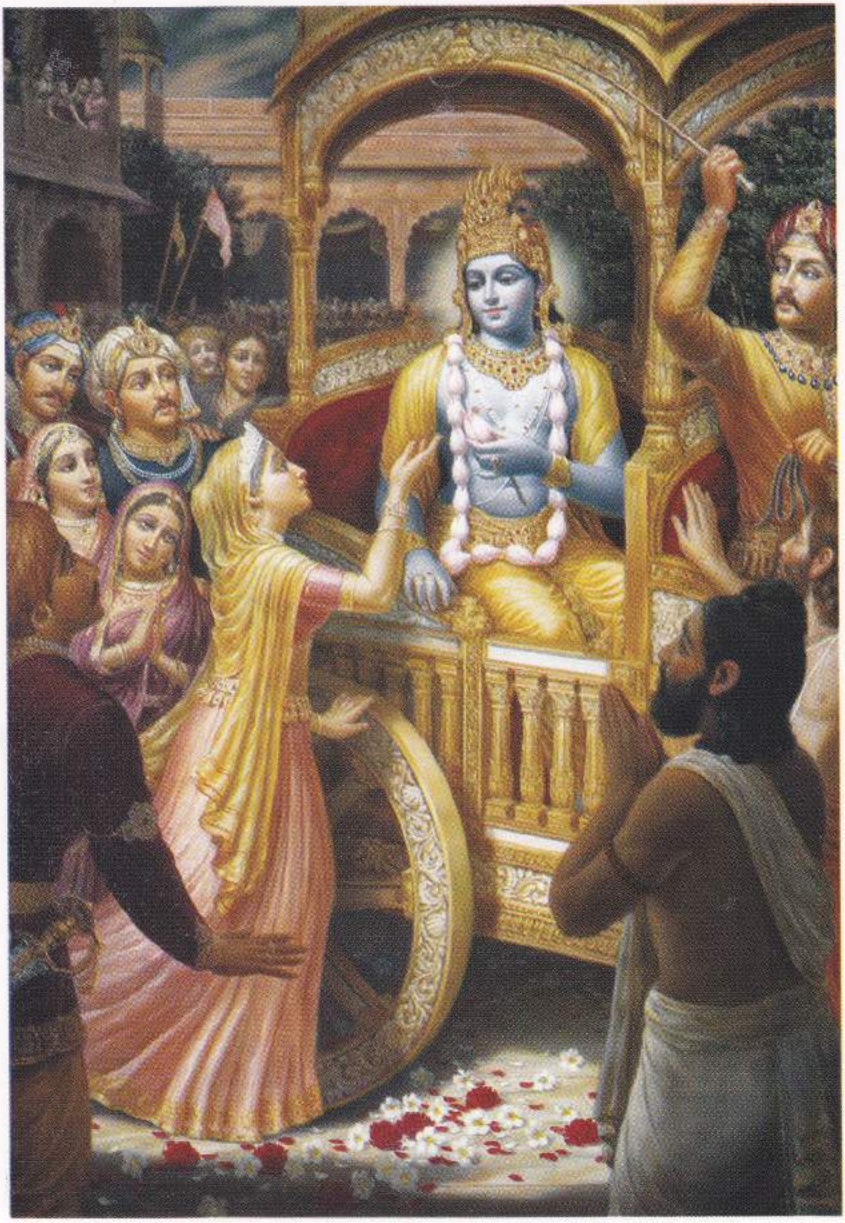

महारानी कुन्ती पूर्ण पुरुषोत्तम भगवान् श्रीकृष्ण से प्रार्थना कर रही हैं, "हे भगवान्, ये सब विपत्तियाँ बार-बार आती रहें, क्योंकि जब संकट आते हैं, तब मैं आपको ही याद करती हूँ।" (पृष्ठ ५५)

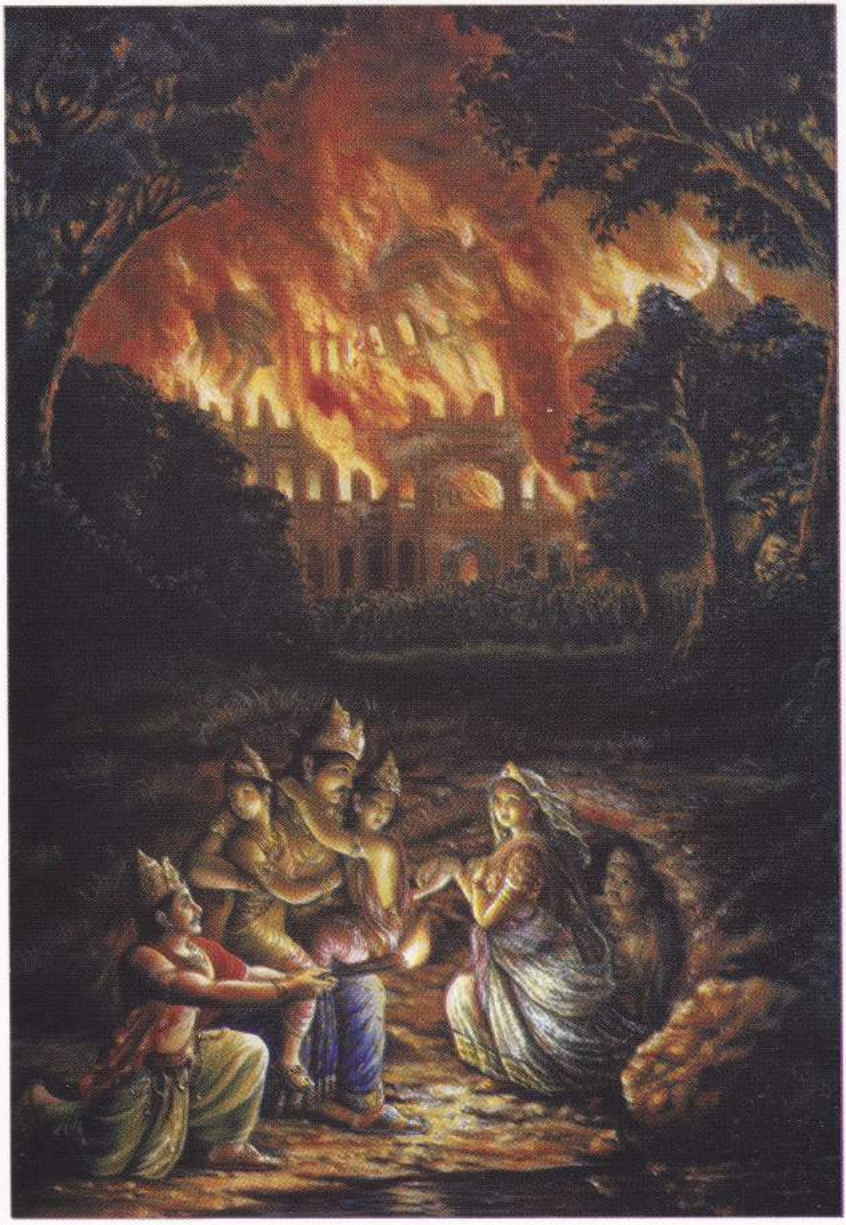

भगवद्गीता में भगवान् कृष्ण कहते हैं, "प्रिय अर्जुन, तुम यह घोषित करो कि मेरे भक्तों का कभी भी विनाश नही होता।" कुन्ती महारानी याद कर रही हैं, भगवान् कृष्ण ने लाक्षागृह के महल में आग लगा कर उनकी हत्या करने के षडयंत्र से कैसे उनकी रक्षा की थी। (पृष्ठ ४१)

कुन्तीदेवी भगवान् कृष्ण से प्रार्थना कर रही हैं, "आपने द्रौपदी को भरी सभा में दुष्ट लोगों से बचाया था।" भगवान् कृष्ण ने अनेकानेक वस्त्र देकर द्रौपदी की लाज की रक्षा की थी। (पृष्ठ ४३)

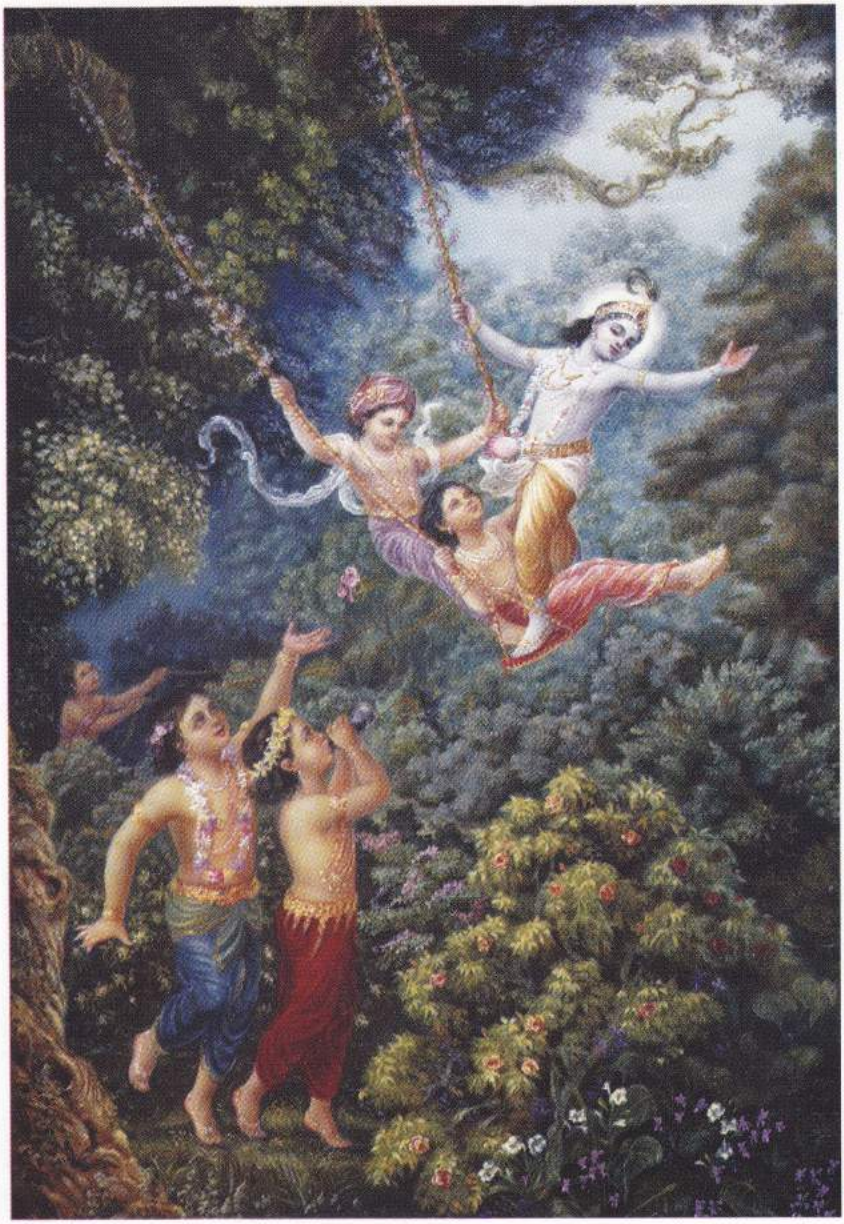

महारानी कुन्ती कृष्ण की मनुष्य समान लीलाओं से—विशेष रूप से उनकी वृन्दावन की बाल-लीलाओंसे—अंचबित थीं। उदाहरण के रूप में, वृन्दावन के ग्वालबाल उनके साथ उस तरह खेलने में समर्थ हुए थे, जैसे कि वे कोई सामान्य मानव-बालक हों। (पृष्ठ १०३)

कुन्ती महारानी मातृवत् प्रेम से याद कर रही हैं कि कैसे भगवान् कृष्ण ने नटखट बाल-लीलाएं की, जैसे कि नटखट कृष्ण यशोदा माता द्वारा दोरी से कैसे बंध गए थे। कुन्ती महारानी आश्चर्यचकित थी कि यद्यपि मूर्तिमंत भय भी उनसे भयभीत रहता है, फिर भी वे अपनी माता से डरे हुए लग रहे थे। (पृष्ठ १०९)

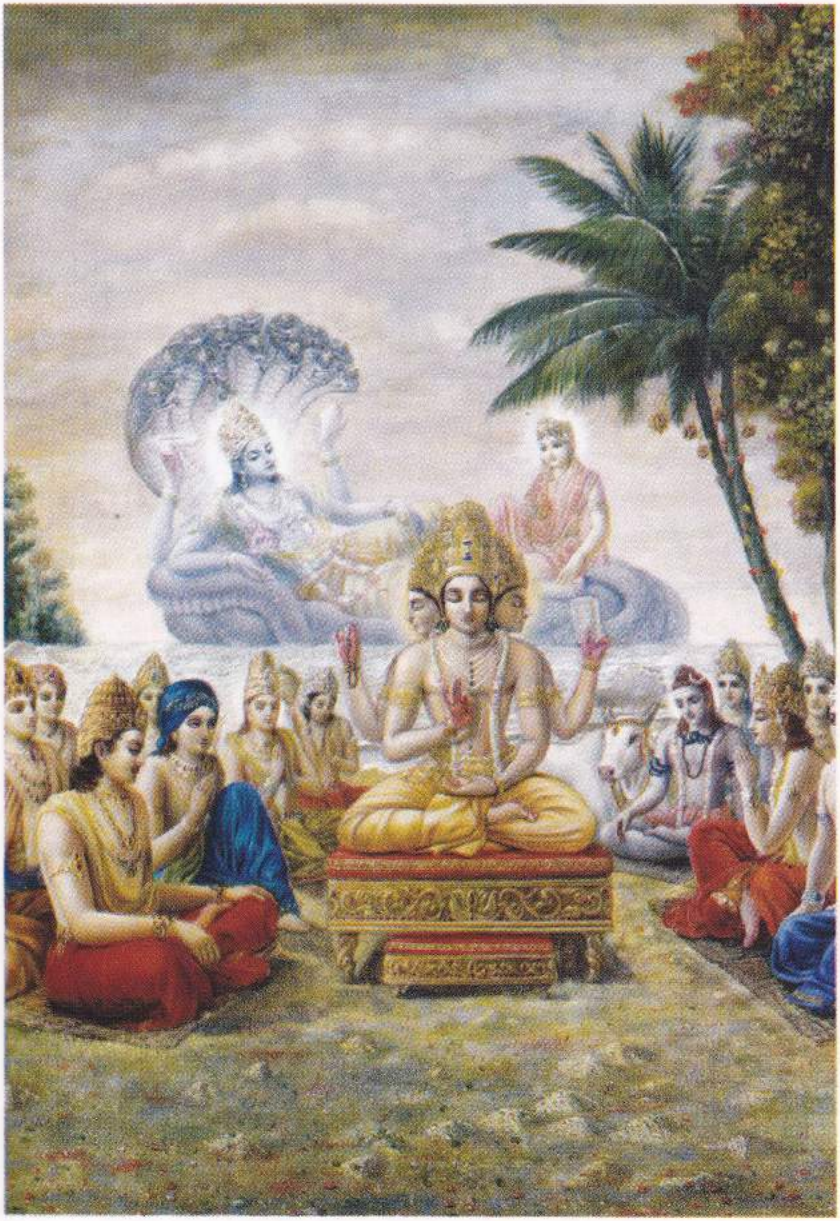

महारानी कुन्ती भगवान के अवतरित होने का अन्य कारण याद कर रही हैं, "कुछ लोग कहते हैं कि समुद्री नाव की भाँति जब पृथ्वी का भार बढ़ जाने से वह अत्यंत पीड़ीत हुई, तब आपके पुत्र ब्रह्मा ने स्तुति की और आप प्रकट हुए।" (पृष्ठ १३४)

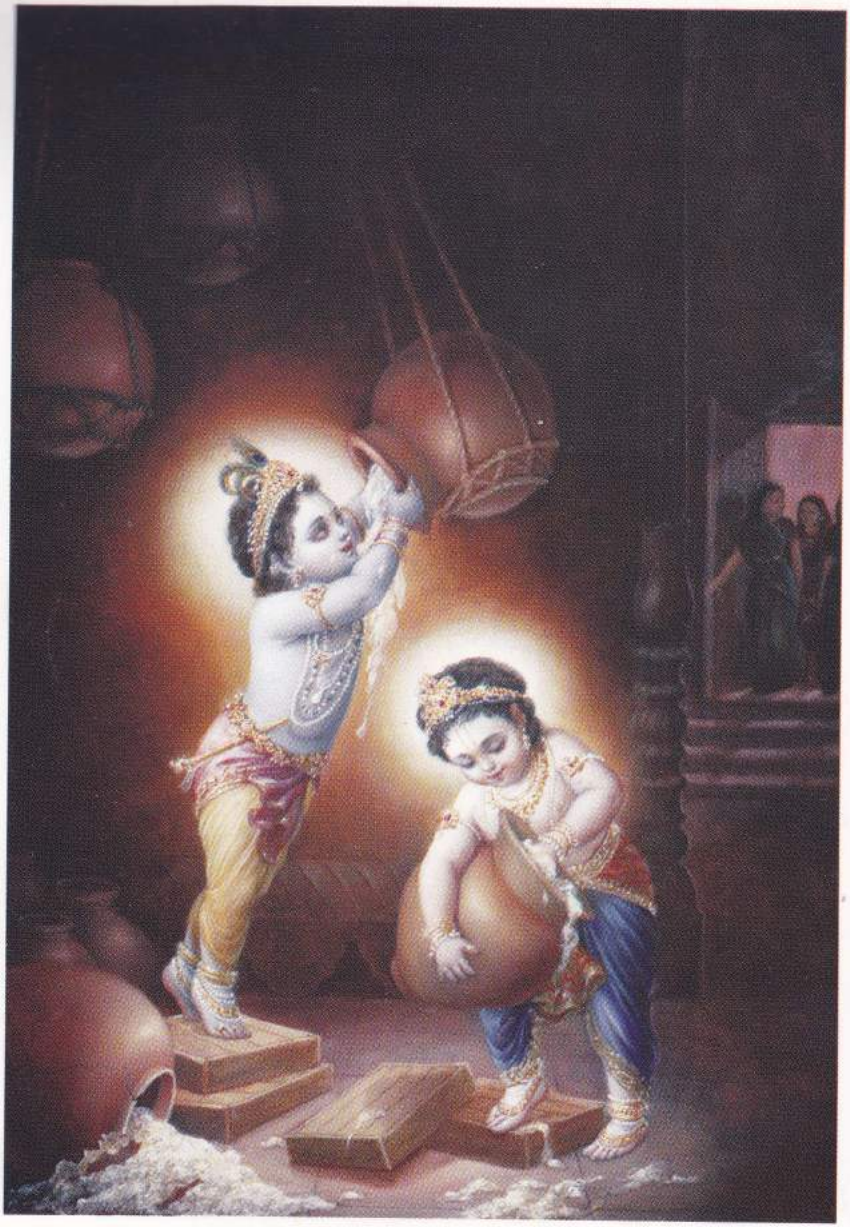

महारानी कुन्ती ने अपनी प्रार्थना समाप्त होने पर भगवान् कृष्ण को अपने परिवार-जनों के प्रति आसक्ति के बन्धन को काटने की याचना की, जिससे वे केवल कृष्ण के प्रति आकृष्ट हो सकें, "हे मधुपति, जैसे गंगा बिना रूके समुद्र की ओर बहती है, उसी तरह मेरा चित्त विचलित हुए बिना निरन्तर आप में लगा रहे।" (पृष्ठ २०७)

उसी आग के बीच में बैठकर ध्यान लगाते हैं। इसी तरह जाड़े की ऋतु में वे गर्दन तक पानी के भीतर घुस कर ध्यान करते हैं। तपस्या की कठिन प्रणाली में ऐसे व्रतों की संस्तुति की जाती है। किन्तु श्रीचैतन्य महाप्रभु हमें ऐसा नुस्खा नहीं देते। वे हमें अति उत्तम कार्यक्रम बताते हैं—कीर्तन करो, नाचो और प्रसाद ग्रहण करो। किन्तु हम तब भी कतराते हैं। हम इतने गिर चुके हैं कि इस तपस्या को भी स्वीकार नहीं करते। यद्यपि इस तरह की तपस्या सुगम तथा अत्यन्त सुखद है (*सुसुखं कर्तुमव्ययम्*) फिर भी हम तैयार नहीं होते, भले ही हम सड़कों में सड़ना पसन्द कर लें। कुछ लोग शराब पीना और संभोग करना तथा सड़कों में रहना अच्छा समझते हैं। तो इसके लिए क्या किया जा सकता है?

कृष्णभावनामृत आन्दोलन सारी सुविधाएँ प्रदान करता है जिससे लोग यहाँ आयें, कीर्तन करें, नाचें, शान्ति से रहें, कृष्णप्रसाद लें और सुखी बनें किन्तु लोगों को यह स्वीकार्य नहीं है। इसी को दुर्भाग्य कहते हैं। इसीलिए इस युग के लोगों का चित्रण करते हुए श्रीचैतन्य महाप्रभु ने कहा है, "मैं इतना अभागा हूँ कि हरे कृष्ण कीर्तन में मेरी कोई अनुरक्ति नहीं है।" महाप्रभु चैतन्य ने स्तुति की है—

नाम्नामकारि बहुधा निजसर्वशक्ति-
स्तत्रार्पिता नियमितः स्मरणे न कालः।
एतादृशी तव कृपा भगवन् ममापि
दुर्दैवमीदृशमिहाजनि नानुरागः॥
(*शिक्षाष्टक* २)

ईश्वर के दिव्य पवित्र नाम कृष्ण में सारी शक्तियाँ हैं—ऐसा चैतन्य महाप्रभु ने कहा है। कृष्ण में असीम शक्तियाँ हैं और इसी तरह कृष्ण के नाम में भी अपार शक्तियाँ हैं। कृष्ण के हजारों नाम हैं जिनमें *कृष्ण* मुख्य है और इसके जपने के लिए कोई नियम या विधान नहीं है। ऐसा नहीं है कि इसे किसी विशेष समय पर ही जपा जाय। आप किसी भी समय इसका जाप कर सकते हैं। यही नहीं, कृष्ण का नाम स्वयं कृष्ण से अभिन्न है। अतः कृष्ण का पवित्र नाम कृष्ण ही है।

हमें ऐसा नहीं सोचना चाहिए कि कृष्ण तो अपने धाम गोलोक वृन्दावन में रह रहे हैं और उनका नाम उनसे भिन्न है। हाँ, भौतिक जगत में भौतिक विचारधारा के अनुसार नाम अपने को प्रदर्शित करने वाले तथ्य से भिन्न होता है। किन्तु, परम जगत में ऐसा कोई अन्तर नहीं होता। नाम उतना ही शक्तिमान होता है जितना कि कृष्ण है। हमारे जीभ है और यदि हम इसका उपयोग हरे कृष्ण कीर्तन करने के लिए करते हैं तो हम तुरन्त ही कृष्ण के सम्पर्क में होते हैं क्योंकि कृष्ण का नाम तथा व्यक्ति कृष्ण भिन्न नहीं हैं। भले ही हम सोचें कि कृष्ण बहुत दूर हैं किन्तु सच तो यह है कि वे हमारे भीतर हैं। वे दूर होते हुए भी सबसे निकट हैं। किन्तु इतने पर भी यदि हम सोचें कि कृष्ण तो बहुत दूर हैं तब उनका नाम तो है ही। यदि हम हरे कृष्ण कीर्तन करें तो कृष्ण तुरन्त सुलभ हो जायेंगे। कृष्ण इतनी सुगम विधि से उपलब्ध हैं जिसके लिए कोई बन्धन नहीं हैं। हम किसी भी समय कीर्तन (जप) कर सकते हैं और कृष्ण को तुरन्त पा सकते हैं। देखिये न कृष्णकृपा को!

इसीलिए श्रीचैतन्य महाप्रभु कहते हैं—*एतादृशी तव कृपा भगवन् ममापि दुर्दैवमीदृशम् इहाजनि नानुरागः*—"हे प्रभु! आपने ऐसी उदार सुविधाएँ प्रदान की हैं जिनसे मैं आपसे सम्पर्क कर सकता हूँ लेकिन मैं इतना अभागा निकला कि मुझे इन वस्तुओं के प्रति तनिक भी अनुराग नहीं है। मुझे अन्य तमाम वस्तुओं के प्रति अनुराग है, किन्तु हरे कृष्ण कीर्तन में मेरा अनुराग नहीं है। यही मेरा दुर्भाग्य है।" कृष्ण इतने वदान्य हैं कि वे अपने नाम की दिव्य ध्वनि द्वारा हमारे समक्ष उपस्थित होते हैं जिसमें स्वयं कृष्ण की समस्त शक्तियाँ होती हैं। यदि हम इस नाम के सम्पर्क में बने रहें तो हमें कृष्ण के आशीर्वाद के सारे लाभ प्राप्त हो सकते हैं। किन्तु इतने पर भी हम हरे कृष्ण मन्त्र के कीर्तन की ओर उन्मुख नहीं हैं। यही हमारा दुर्भाग्य है।

किन्तु एक भक्त संकटों, पराजयों या विपदाओं से कभी भी विचलित नहीं होता प्रत्युत वह उनका स्वागत करता है। शरणागत होने के कारण वह जानता है कि संकट तथा उत्सव दोनों ही कृष्ण के विभिन्न प्रदर्शन हैं। शास्त्र में कहा गया है कि धर्म तथा अधर्म ईश्वर के अग्र तथा पश्च

भाग हैं। किन्तु क्या ईश्वर के अग्र तथा पश्च भाग में कोई अन्तर है? ईश्वर सर्वोच्च है अतएव भक्त ऐश्वर्य अथवा संकट में अविचलित रहता है, क्योंकि वह जानता है कि ये दोनों कृष्ण हैं।

जब भक्त संकट में होता है तो वह सोचता है, "अब मेरे समक्ष कृष्ण संकट के रूप में प्रकट हुए हैं।" भगवान् अपने नृसिंहदेव रूप में हिरण्यकशिपु के लिए घातक थे, किन्तु वही नृसिंहदेव भक्त प्रह्लाद महाराज के लिए परम मित्र थे। ईश्वर भक्त के लिए कभी घातक नहीं होते और भक्त कभी भी संकट से भयभीत नहीं होता क्योंकि उसे विश्वास रहता है कि यह संकट ईश्वर का दूसरा रूप है। वह सोचता है, "मैं क्यों डरूँ? मैं तो उनके शरणागत हूँ।"

इसीलिए कुन्तीदेवी कहती हैं—*विपदः सन्तु*—विपदाएँ आवें। *विपदः सन्तु ताः शश्वत्*—विपदाएँ बारम्बार आए। चूँकि वे जानती हैं कि संकट के समय कृष्ण का स्मरण किस तरह करना चाहिए इसलिए वे संकट का स्वागत कर रही हैं। वे कहती हैं, "हे प्रभु! मैं संकटों का स्वागत करती हूँ, क्योंकि जब संकट आते हैं तो मैं आपका स्मरण कर सकती हूँ।" जब प्रह्लाद महाराज के पिता उन्हें यातनाएँ दे रहे थे तो प्रह्लाद निरन्तर कृष्ण का चिन्तन करते रहे। अतएव यदि हम संकट में हों और उस संकट से हरे कृष्ण का स्मरण करने की प्रेरणा मिले तो उसका स्वागत है "ओह! मुझे कृष्ण का स्मरण करने का अवसर मिल रहा है।" स्वागत क्यों? स्वागत इसलिए क्योंकि कृष्ण का दर्शन करना अथवा कृष्ण का स्मरण करने का अर्थ है आध्यात्मिक जीवन में प्रगति करना जिससे हमें इन संकटों का फिर से सामना न करना पड़े। *व्यक्त्वा देहं पुनर्जन्म नैति मामेति सोऽर्जुन* (*भगवद्गीता*४.९)। कृष्णभावनामृत में अग्रसर होने का परिणाम यह होगा कि देह का परित्याग करने के बाद (*व्यक्त्वा देहं*) इस जगत में फिर से जन्म नहीं लेना पड़ेगा (*पुनर्जन्म नैति*)। यही वांछित है।

मान लीजिये इस समय मैं अत्यन्त आराम से हूँ। भले ही मेरे शरीर को आराम हो, किन्तु मृत्यु होनी है और तब दूसरा जन्म होगा। इस शरीर को त्यागने के बाद यदि मुझे बिल्ली का शरीर मिला, तो मेरे ऐश-आराम

से क्या लाभ हुआ? मृत्यु निश्चित है और मृत्यु के बाद दूसरा शरीर धारण करना निश्चित है। हम भले ही यह न जान सकें कि हमें कैसा शरीर मिलेगा, किन्तु शास्त्र से हमें पता चलता है कि हमारी विशेष मनोवृत्ति के अनुसार कोई विशेष शरीर मिलता है। यद्यपि मैं बहुत आराम से रह रहा होऊँ, किन्तु यदि मेरी मनोवृत्ति कुत्ते जैसी हो तो मुझे कुत्ते के रूप में अगला जीवन मिलेगा। अतएव इस आरामदेह जीवन से क्या लाभ? मैं बीस, तीस, पचास और अधिक से अधिक सौ वर्षों तक आरामदेह स्थिति में रह सकता हूँ। फिर भी जब मैं यह शरीर छोड़ूँगा तो मेरी मनोवृत्ति मुझे बिल्ली, कुत्ता या चूहा बनने को वाध्य करे तो इस आरामदेह स्थिति से क्या लाभ? किन्तु लोग इस पर विचार नहीं करते। इस युग में लोग सोचते हैं, "अब मैं आरामदेह स्थिति में हूँ। मेरे पास प्रचुर धन है और अच्छी जायदाद है। मेरे पास तमाम सुपास तथा भोजन है। जब यह शरीर विनष्ट हो जाएगा तो मैं फिर से जन्म लेने वाला नहीं अतः जब तक मैं जीवित हूँ, जीवन का आनन्द भोग लूँ।" आनन्दवाद का यह आधुनिक दर्शन है।

किन्तु कुन्ती को जन्म तथा मृत्यु का ज्ञान है और वे इस चक्र को दोहराना नहीं चाहतीं। *अपुनर्भवदर्शनम्* शब्दों से यह सूचित होता है। यदि कोई कृष्ण का दर्शन करता है तो वह कृष्णभावनामृत को प्राप्त है क्योंकि कृष्णभावनामृत का अर्थ ही है सदैव कृष्ण का चिन्तन करना। मनुष्य की चेतना को कृष्ण के विचार में लीन रहना चाहिए। अतएव कृष्णभावनामृत में गुरु अपने भक्तों को नाना प्रकार के कार्यों में लगाता है। उदाहरणार्थ, गुरु के निर्देशन में भक्तगण कृष्णभावनामृत विषयक पुस्तकें वितरित कर सकते हैं। किन्तु यदि भक्तगण यह सोचें कि पुस्तक बेचने में लगाई जाने वाली शक्ति को रत्नों की बिक्री में लगाया जाय तब तो यह बहुत अच्छा विचार नहीं होगा। तब वे जौहरी बनकर रह जाएँगे। हमें कृष्णभावनामृत से दूर हटने के प्रति सतर्क रहना चाहिए। यहाँ तक कि हमें ऐसे संकट का स्वागत करना चाहिए और इसके लिए कृष्ण की स्तुति करनी चाहिए।

हम किस तरह स्तुति करें? *तत्तेऽनुकम्पां सुसमीक्षमाण:*—हे प्रभु! यह तो आपकी महती कृपा है कि मैं इस संकटपूर्ण स्थिति में पड़ा हुआ

हूँ। यह भक्त का दृष्टिकोण होता है। वह संकट को संकट नहीं मानता प्रत्युत वह सोचता है, "यह कृष्ण की कृपा है।" किस प्रकार की कृपा? *भुञ्जान एवात्मकृतं विपाकम्*—अपने पूर्वकर्मों के कारण मुझे इतना कष्ट भोगना था। किन्तु आप उस कष्ट को कम करके उसका अल्पांश ही मुझे दे रहे हैं।" दूसरे शब्दों में, कृष्णकृपा से भक्त को नाममात्र का ही दंड मिलता है।

कभी कभी न्यायालय में किसी महत्वपूर्ण व्यक्ति को अपराधी पाया जाता है और न्यायाधीश उसे कई लाख का दंड यह जानते हुए देता है कि यह व्यक्ति इतना दे सकता है। फिर भी वह उस व्यक्ति से कह सकता है "तुम केवल एक सेंट जमा कर दो।" यह भी दंड है, किन्तु बहुत कम करके है। इसी तरह हमें अपने विगत कर्मों के लिए कष्ट उठाना होता है। यह यथार्थ है और हम इससे बच नहीं सकते। किन्तु *कर्माणि निर्दहति किन्तु च भक्तिभाजाम्* (*ब्रह्म-संहिता*५.५४)—कृष्णभावनामृत में भक्ति में लगे लोगों के कष्ट न्यूनतम हो जाते हैं। उदाहरणार्थ, किसी व्यक्ति की हत्या होनी निश्चित हो, किन्तु चाकू से मारे जाने के बजाय हो सकता है कि उसके हाथ में छोटा सा चीरा लग जाय। इस तरह जो लोग भक्ति में लगे रहते हैं उनके विगत कर्मों के फल न्यूनतम हो जाते हैं। भगवान् कृष्ण अपने भक्तों को आश्वस्त करते हैं—*अहं त्वां सर्वपापेभ्यो मोक्षयिष्यामि*—मैं तुम्हें पापमय जीवन के सारे फलों के विरुद्ध संरक्षण प्रदान करूँगा। इस तरह अत्यन्त भयावह अपराधी कार्यों वाले भक्त को मृत्यु न देकर उसके हाथ में चीरा ही मिल सकता है। तो फिर भक्त संकट से क्यों डरे?

हमें कृष्णभावनामृत पर ही निर्भर रहना चाहिए, क्योंकि यदि हम हर परिस्थिति में कृष्णभावनाभावित रहे तो हम इस भौतिक जगत में फिर से वापस नहीं आते (*अपुनर्भवदर्शनम्*)। यदि हम बारम्बार कृष्ण का चिन्तन करें, कृष्ण का दर्शन करें, कृष्ण के बारे में पढ़ें, कृष्ण के लिए कर्म करें तथा येन केन प्रकारेण कृष्णभावनामृत में रहे आवें तो हमें लाभ यह मिलेगा कि हम इस भौतिक जगत में फिर से जन्म लेने से बच जावेंगे। यही सही लाभ है। किन्तु, यदि हम अन्य भौतिकवादी कार्यों में लगा

कर थोड़ी सुविधा का अनुभव करके कृष्ण को भूल जाएँ और हमें फिर से जन्म लेना पड़े तो हमें क्या लाभ हुआ? हमें इसके विषय में सावधान रहना होगा। हमें इस तरह कर्म करना चाहिए कि किसी भी परिस्थिति में हमारी कृष्णचेतना विचलित न हो, भले ही कितना ही कष्ट क्यों न मिले। यही कुन्तीदेवी की शिक्षा है।

कुरुक्षेत्र युद्ध में विजयी होने के पूर्व सारे पाण्डवों को अनेक प्रकार से कष्ट दिया गया। उन्हें विष दिया गया, लाक्षाग्रह में रखकर उसमें आग लगाई गई और कभी कभी उन्हें मनुष्यभक्षी असुरों का भी सामना करना पड़ा। उन्हें अपने राज्य से हाथ धोना पड़ा, अपनी पत्नी और प्रतिष्ठा खोनी पड़ी और वनवास करना पड़ा। किन्तु इन सारे संकटों में कृष्ण उनके साथ रहे। जब कौरवगण द्रौपदी को नंगा करना चाहे रहे थे तो द्रौपदी की लाज बचाने के लिए कृष्ण ने उनके वस्त्र बढ़ा दिये। कृष्ण सदैव वहाँ थे।

इसीलिए जब पाँचों पाण्डव शरशय्या पर लेटे अपने पितामह भीष्मदेव से भेंट करने गये तो भीष्मदेव चिल्ला पड़े "ये मेरे पौत्र अत्यन्त पुण्यात्मा हैं। पाण्डवों में सबसे ज्येष्ठ महाराज युधिष्ठिर अत्यन्त पवित्र व्यक्ति हैं। भीम तथा अर्जुन दोनों ही भक्त हैं और वे इतने वीर हैं कि हजारों व्यक्तियों को मार सकते हैं। उनकी पत्नी द्रौपदी साक्षात् लक्ष्मी है और वह जहाँ भी रहेगी, वहाँ भोजन की कमी नहीं होगी। इस तरह इन सबका अद्भुत मेल है और कृष्ण इन सबों के साथ रहते हैं। तो भी ये कष्ट उठा रहे हैं।" इस तरह कहकर वे चिल्लाने लगा, "मैं नहीं जानता कि कृष्ण की योजना क्या है, क्योंकि ऐसे पुण्यात्मा भक्त भी कष्ट उठा रहे हैं।"

अतएव हमें यह नहीं सोचना चाहिए कि मैं भक्त बन चुका हूँ, इसलिए मुझे कोई खतरा या कष्ट नहीं होगा। प्रह्लाद महाराज को अत्यधिक कष्ट उठाना पड़ा और पाण्डवों को तथा हरिदास ठाकुर जैसे अन्य भक्तों को भी इसी तरह कष्ट उठाना पड़ा। किन्तु हमें ऐसे कष्टों से विचलित नहीं होना चाहिए। हमें दृढ विश्वास होना चाहिए कि कृष्ण उपस्थित हैं और वे मुझे सुरक्षा प्रदान करेंगे। कृष्ण के अतिरिक्त अन्य किसी की शरण का लाभ उठाने का प्रयास न करें। सदैव कृष्ण की शरण ग्रहण करें।

भगवद्गीता में कृष्ण कहते हैं—*कौन्तेय प्रतिजानीहि न मे भक्तः प्रणश्यति*—हे अर्जुन! तुम संसार के समक्ष घोषित कर सकते हो कि मेरा भक्त कभी नष्ट नहीं होता। तो यह प्रश्न पूछा जा सकता है कि कृष्ण ने अर्जुन से यह घोषित करने के लिए क्यों कहा? उन्होंने स्वयं क्यों नहीं घोषित किया? इसका उत्तर है कि यदि स्वयं कृष्ण ने यह घोषणा की होती तो संदेह किया जा सकता था क्योंकि कृष्ण कभी कभी अपने वादे से मुकर जाते हैं। किन्तु भक्त के वादे का कभी उल्लंघन नहीं होता। कृष्ण की यही चिन्ता रहती है, "ओह! मेरे भक्त ने यह घोषित किया है, अतएव उसके वचन की रक्षा होनी चाहिए।" अपने भक्त के प्रति स्नेह के कारण कृष्ण की ऐसी स्थिति रहती है। इसीलिए कृष्ण ने कहा, "तुम यह घोषित कर दो। यदि मैं घोषित करूँ तो हो सकता है लोग विश्वास न करें, किन्तु यदि तुम घोषित करते हो तो वे विश्वास करेंगे क्योंकि तुम मेरे भक्त हो।" भले ही कृष्ण अपने वादे से मुकर जायँ, किन्तु वे यह चाहते हैं कि उनके भक्तों के वादे पूरे हों।

इसीलिए हमें कृष्णभावनामृत अंगीकार करना चाहिए और सर्वाधिक संकटमय स्थिति में भी इस भावनामृत में दृढ रहना चाहिए। हमें कृष्ण के चरणकमलों में अपनी श्रद्धा बनाये रखना चाहिए। तब कोई संकट नहीं आएगा।

९. माया के ज्वर को कम करना

जन्मैश्वर्यश्रुतश्रीभिरेधमानमदः पुमान्।
नैवार्हत्यभिधातुं वै त्वामकिञ्चनगोचरम्॥

हे प्रभु! आप सरलता से प्राप्त होने वाले हैं लेकिन केवल उन्हीं के लिए जो अकिंचन हैं। जो सम्मानित कुल, ऐश्वर्य, उच्च शिक्षा तथा शारीरिक सौन्दर्य के द्वारा भौतिक प्रगति के पथ पर आगे बढ़ने के प्रयास में लगा रहता है, वह आप तक एकनिष्ठ भाव से नहीं पहुँच पाता।

—(*श्रीमद्भागवत १.८.२६*)

भौतिक दृष्टि से उन्नत होने का अर्थ है उच्च कुल में जन्म लेना और प्रभूत सम्पत्ति, शिक्षा तथा आकर्षक सौन्दर्य से युक्त होना। सारे भौतिकवादी इन भौतिक ऐश्वर्यों को प्राप्त करने के पीछे मदान्ध रहते हैं और यही भौतिक सभ्यता की उन्नति कहलाती है। लेकिन इन समस्त भौतिक सम्पत्तियों के होने से मनुष्य गर्वित हो उठता है और मदान्ध हो जाता है। अतएव, ऐसे लोग भगवान् का पवित्र नाम लेने तथा भावविभोर होकर 'हे गोविन्द, हे कृष्ण' कहने में अक्षम रहते हैं। शास्त्रों में कहा गया है कि एकबार भी भगवान् के इतने नाम लेने से पापी उतने पापों से मुक्त हो जाता है जितने वह कर भी नहीं सकता। भगवान् का नाम लेने में इतनी शक्ति है। इसमें तनिक भी अत्युक्ति नहीं। सचमुच भगवान्

के पवित्र नाम में ऐसी प्रबल शक्ति है। लेकिन ऐसा नाम लेने में गुणता चाहिए। यह भाव की गुणता पर निर्भर करती है। एक असहाय व्यक्ति भगवान् का नाम भावविभोर होकर ले सकता है, लेकिन यदि उसी नाम को कोई समृद्ध व्यक्ति लेता है तो उसमें उतनी निष्ठा नहीं हो सकती। भौतिकता के मद में चूर रहने वाला व्यक्ति यदा-कदा भगवान् का पवित्र नाम जप सकता है लेकिन वह गुणतापूर्वक नाम लेने में अक्षम रहता है। अतएव भौतिक उन्नति के चार सिद्धन्त हैं—उच्चकुल, सम्पत्ति, उच्च शिक्षा तथा आकर्षक सौन्दर्य—ये चारों आध्यत्मिक उन्नति के पथ में अग्रसर होने के लिए दोष हैं। शुद्ध आत्मा का भौतिक आवरण बाह्य गुण है जिस प्रकार रुग्ण शरीर का बाह्यगुण ज्वर है। सामान्य विधि यह है कि ज्वर की मात्रा कम की जाय न कि बुरे उपचार से उसे बढ़ाया जाय। कभी कभी देखा जाता है कि आध्यत्मिक दृष्टि से उन्नत व्यक्ति निर्धन हो जाते हैं। लेकिन इससे हतोत्साहित नहीं होना चाहिए। उल्टे यह निर्धनता शुभ चिन्ह है जिस प्रकार कि शरीर का ताप घटना शुभ है। जीवन का उद्देश्य उस भौतिक मद को घटाना होना चाहिए जिसके कारण मनुष्य अपने जीवन-उद्देश्य के विषय में अधिकाधिक मोहग्रस्त होता जाता है। इस प्रकार से मोहग्रस्त व्यक्ति भगवद्धाम जाने के लिए सर्वथा अनुपयुक्त होता है।

हाँ, एक अर्थ में भौतिक ऐश्वर्य ईश्वर की कृपा होता है। किसी धनी परिवार या अमरीका जैसे राष्ट्र में जन्म लेना, अधिक धनवान होना, ज्ञान तथा शिक्षा में बढ़ा-चढ़ा होना तथा सौन्दर्यवान होना—ये पुण्यकर्मों के उपहार हैं। शिक्षित व्यक्ति अन्यों का जितना ध्यान आकर्षित करता है उतना निर्धन व्यक्ति नहीं कर पाता। शिक्षित व्यक्ति अपनी ओर आकृष्ट करता है, किन्तु मूर्ख व्यक्ति बिल्कुल आकृष्ट नहीं कर पाता अतएव भौतिक दृष्टि से ऐसा ऐश्वर्य लाभप्रद है। किन्तु जब कोई व्यक्ति इस तरह से भौतिक दृष्टि से ऐश्वयर्यवान् होता है तो वह मदान्ध हो जाता है, "ओह! मैं धनी हूँ। मैं शिक्षित हूँ। मेरे पास धन है।"

जो व्यक्ति शराब पीता है वह नशे के कारण सोच सकता है कि मैं आकाश में उड़ रहा हूँ या कि स्वर्ग पहुँच गया हूँ। यह नशे (मदान्धता) का प्रभाव है। किन्तु ऐसा मदान्ध व्यक्ति यह नहीं जानता कि ये स्वप्न

काल की सीमा के अन्तर्गत हैं अतएव इनका अन्त होना है। चूँकि वह अवगत नहीं रहता कि ये स्वप्न इसी तरह चालू नहीं रहेंगे, इसलिए वह मोहग्रस्त कहलाता है। इसी तरह मनुष्य यह सोच कर उन्मत्त रहता है कि "मैं धनी हूँ, मैं शिक्षित हूँ और सुन्दर हूँ और मेरा जन्म महान राष्ट्र के धनी परिवार में हुआ है।" यह सब ठीक बात है, किन्तु ये लाभ कब तक बने रहेंगे? मान लीजिये कि कोई व्यक्ति अमरीकी है और वह धनी, सुन्दर तथा ज्ञानी है। वह इन सबों के लिए गर्वित हो सकता है, किन्तु यह उन्मत्तता कब तक रहेगी? ज्योंही शरीर का अन्त होता है, यह समाप्त हो जाती है जिस तरह कि शराबी के उन्मादयुक्त स्वप्न समाप्त हो जाते हैं।

ये स्वप्न मानसिक स्तर पर एवं शारीरिक स्तर पर होते हैं। किन्तु मैं शरीर नहीं हूँ। स्थूल शरीर तथा सूक्ष्म शरीर मेरे वास्तविक आत्मा से भिन्न हैं। स्थूल शरीर तो पृथ्वी, जल, अग्नि, वायु तथा आकाश से बना हुआ है और सूक्ष्म शरीर मन, बुद्धि तथा मिथ्या अहंकार से बना होता है। किन्तु जीव इन आठों तत्वों से, जिन्हें *भगवद्गीता* में ईश्वर की अपरा शक्ति कहा गया है, परे है।

मनुष्य मानसिक रूप से बढ़ा-चढ़ा होने पर भी यह नहीं जानता कि वह उसी तरह अपरा शक्ति के प्रभाव में है जिस तरह मदान्ध व्यक्ति अपनी स्थिति से अवगत नहीं रह पाता। इसलिए ऐश्वर्य मनुष्य को मदान्ध बनाता है। हम इसलिए पहले से मदान्ध हैं और आधुनिक सभ्यता हमारी मदान्धता को बढ़ाने वाली है। सच तो यह है कि हमें इस मदान्धता से मुक्त होना चाहिए किन्तु आधुनिक सभ्यता इसे बढ़ाती है जिससे हम अधिकाधिक मदान्ध होकर नरक जाते हैं।

कुन्तीदेवी कहती हैं कि जो लोग इस तरह से मदान्ध हैं वे भावपूर्वक भगवान् को सम्बोधित नहीं कर सकते । वे यह नहीं कह सकते *जय राधा माधव*। वे अपनी आध्यत्मिक भावना खो चुके होते हैं। वे भावपूर्वक भगावन् को सम्बोधित नहीं कर सकते क्योंकि उनमें ज्ञान नहीं होता। वे सोचते हैं, "ओह! ईश्वर तो निर्धनों के लिए हैं जिनके पास खाने के लिए नहीं रहता। वे गिरजाघर जाएँ और प्रार्थना करें, "हे प्रभु! हमें हमारी

रोजी रोटी दें। किन्तु मेरे पास तो पर्याप्त भोजन है। मैं गिरजाघर क्यों जाऊँ?'' यह उनका विचार है।

आजकल इसीलिए कोई व्यक्ति गिरजाघर या मन्दिर जाने में रुचि नहीं लेता क्योंकि हम आर्थिक दृष्टि से सम्पन्न हैं। लोग सोचते हैं, ''यह कैसी मूर्खता है? मैं रोटी के लिए याचना करने गिरजाघर क्यों जाऊँ। हम अपनी आर्थिक स्थिति सुधारें तब पर्याप्त भोजन मिल सकेगा।'' यह मनोभाव विशेषतया साम्यवादी देशों में प्रचलित है। ये साम्यवादी गाँवों में जाकर लोगों से कहते हैं कि गिरजाघर जाकर रोटी के लिए याचना करो। इसलिए अबोध लोग यथावत् प्रार्थना करते हैं, ''हे ईश्वर! हमें रोज की रोटी दो।'' जब यही लोग गिरजाघर से बाहर आते हैं तो साम्यवदी उनसे पूछते हैं, ''तुम्हें रोटी मिली?''

उनका उत्तर होता है, ''नहीं।''

साम्यवादी कहता है, ''ठीक। हमसे माँगो।''

तब लोग कहते हैं, ''हे साम्यवादी साथियो! हमें रोटी दो।''

तो, ये साम्यवादी साथी जो अपने साथ गाड़ियों में भरकर रोटी ले आये हैं कहते हैं, ''जितना चाहो ले लो। अब बताओ कि कौन अच्छा है—साम्यवादी या तुम्हार ईश्वर?''

चूँकि लोग अधिक बुद्धिमान नहीं हैं, अतएव वे उत्तर देते हैं ''ओह! तुम्हीं अच्छे हो।'' उनके पास यह पूछताछ करने की बुद्धि नहीं है ''अरे धूर्तो! तुम यह रोटी लाये कहाँ से? क्या तुमने इसे फैक्टरी में तैयार किया है? क्या तुम्हारी फैक्टरी अन्न उपजा सकती है?'' चूँकि वे शूद्र (अल्पज्ञ) हैं, अतएव वे ऐसे प्रश्न नहीं पूछ पाते। किन्तु ब्राह्मण की बुद्धि तेज होती है। वह तुरन्त पूछेगा, ''अरे धूर्तो! तुम यह रोटी कहाँ से लाये? तुम रोटी का उत्पादन नहीं कर सकते। तुमने ईश्वर द्वारा प्रदत्त गेहूँ को रोटी का रूप दिया है, किन्तु इसका अर्थ यह नहीं है कि यह तुम्हारी सम्पत्ति बन गई है।''

किसी एक वस्तु को दूसरी वस्तु का रूप देने से ही वह उसकी सम्पत्ति नहीं बन जाती। उदाहरणार्थ, यदि मैं किसी बढ़ई को कुछ लकड़ी, कुछ औजार तथा वेतन दूँ और यदि वह एक सुन्दर अलमारी तैयार करता

है तो यह अलमारी किसकी होगी? बढ़ई की या मेरी जिसने कि सारा सामान दिया है? बढ़ई यह नहीं कह सकता, "मैंने इस लकड़ी को अलमारी का सुन्दर रूप दिया है इसलिए यह मेरी है।" इसी तरह हमें साम्यवादी जैसे नास्तिकों से कहना चाहिए, "अरे धूर्तो! तुम्हारी रोटी के लिए सारा सामान कौन दे रहा है? यह सब कृष्ण का दिया हुआ है।" *भगवद्गीता* में कृष्ण कहते हैं, "इस भौतिक सृष्टि के सारे तत्व मेरे हैं।" यह समुद्र, पृथ्वी, आकाश, अग्नि या वायु तुम्हारे द्वारा उत्पन्न नहीं है। ये सब तुम्हारे द्वारा निर्मित नहीं। तुम इन्हें मिलाकर भौतिक वस्तुओं का रूप देते हो। तुम पृथ्वी से मिट्टी और समुद्र से जल लेकर दोनों को मिलाकर ईंट बनाने के लिए आग में रखते हो और तब इन ईंटों का ढेर लगाकर गगनचुम्बी महल बनाकर दावा करते हो कि यह महल मेरा है। किन्तु अरे धूर्तो! तुमने गगनचुम्बी महल के लिए ये सारी वस्तुएँ कहाँ से प्राप्त कीं? तुमने ईश्वर की सम्पत्ति चुराई है और अब यह दावा कर रहे हो कि यह सम्पत्ति तुम्हारी है।" यह ज्ञान है।

दुर्भाग्यवश, जो लोग मदान्ध हैं, वे इसे नहीं समझ पाते। वे सोचते हैं, "हमने यह अमरीका की भूमि लाल भारतीयों से ली है और अब यह हमारी सम्पत्ति है।" वे यह नहीं जानते कि वे चोर हैं। *भगवद्गीता* की स्पष्टोक्ति है कि जो व्यक्ति ईश्वर की सम्पत्ति लेता है और उसे अपनी बताता है वह चोर है (*स्तेन एव सः*)।

अतएव कृष्ण-भक्तों का अपना निजी साम्यवाद है। कृष्णभावनाभावित साम्यवाद के अनुसार, हर वस्तु ईश्वर की है। जिस तरह रूसी तथा चीनी साम्यवादी सोचते हैं कि हर वस्तु राज्य की है उसी तरह हम हर वस्तु को ईश्वर की मानते हैं। यह उसी विचारधारा का मात्र विस्तार है और इसे समझने के लिए थोड़ी सी बुद्धि चाहिए। कोई यह क्यों सोचे कि उसका राज्य केवल थोड़े से लोगों का है। वस्तुतः यह सब ईश्वर की सम्पत्ति है और हरजीव को इस सम्पत्ति को उपयोग में लाने का अधिकार है क्योंकि हर जीव परमपिता परमेश्वर की सन्तान है। *भगवद्गीता* में (१४.४) भगवान् कृष्ण कहते हैं—*सर्वयोनिषु कौन्तेय... अहं बीजप्रदः पिता*—मैं सारे जीवों का वीर्यदाता पिता हूँ। वे चाहे जिस रूप में रह

रहे हों, सारे जीव मेरे पुत्र हैं।

हम सारे जीव ईश्वर के पुत्र हैं, किन्तु इसे हम भूल चुके हैं, अतएव हम लड़-झगड़ रहे हैं। सुखी परिवार के सारे बच्चे जानते हैं, "पिता जी ही हम सबों को भोजन देते हैं। हम सभी भाई भाई हैं अतः हम क्यों लड़ें?" इसी तरह यदि हम सभी ईशभावनाभावित या कृष्णभावनाभावित बन जायें तो संसार में लड़ाई-झगड़ा बन्द हो जाय। तब "मैं अमरीकी हूँ, मैं भारतीय हूँ, मैं चीनी हूँ या कि मैं रूसी हूँ" जैसी व्यर्थ की उपधियाँ समाप्त हो जायँ। कृष्णभावनामृत आन्दोलन इतना पवित्र बनाने वाला है कि ज्योंही कोई व्यक्ति कृष्णभावनाभावित बन जाता है त्योंही उनमें चलने वाली राजनैतिक तथा राष्ट्रीय लड़ाई बन्द हो जाएगी, क्योंकि उन्हें असली चेतना प्राप्त हो जाएगी और वे समझ जावेंगे कि हर वस्तु ईश्वर की है। किसी परिवार के सारे बच्चों को अपने पिता की सुख-सुविधाओं को भोगने का अधिकार होता है। इसी तरह, यदि हरजीव ईश्वर का अंश है, यदि हरव्यक्ति ईश्वर की सन्तान है, तो हर एक को अपने पिता की सम्पत्ति का उपयोग करने का अधिकार है। यह अधिकार न केवल मनुष्यों को प्राप्त है प्रत्युत *भगवद्गीता* के अनुसार यह अधिकार सारे जीवों का है चाहे वे मनुष्य हों या वृक्ष, पशु, पक्षी, कीड़े आदि। यही कृष्णभावनामृत है।

कृष्णभावनामृत में हम यह नहीं सोचते, "मेरा भाई अच्छा है, मैं अच्छा हूँ, किन्तु अन्य सारे लोग बुरे हैं।" हम इस तरह की संकीर्ण, पंगु चेतना का बहिष्कार करते हैं। जैसा कि *भगवद्गीता* में कहा गया है—

विद्याविनयसम्पन्ने ब्राह्मणे गवि हस्तिनि।
शुनि चैव श्वपाके च पण्डिताः समदर्शिनः॥

"विनम्र साधुपुरुष अपने वास्तविक ज्ञान के कारण एक विद्वान तथा विनीत ब्राह्मण, गाय, हाथी, कुत्ता तथा चण्डाल (अछूत) को समान दृष्टि (समभाव) से देखते हैं।"

जो पंडित है वह सारे जीवों को समान स्तर पर देखता है। चूँकि एक वैष्णव या भक्त पंडित होता है, अतएव वह दयालु होता है (*लोकानां*

हितकारिणौ) और वह मानवता को लाभ पहुँचाने के लिए कार्य करता है। एक वैष्णव यह अनुभव करता है तथा वास्तव में देखता है कि सारे जीव ईश्वर के अंश हैं और वे न जाने कैसे इस भौतिक जगत के सम्पर्क में आए हैं और विभिन्न कर्म के अनुसार विभिन्न शरीरों को प्राप्त हुए हैं।

जो पंडित हैं वे भेदभाव नहीं करते। वे यह नहीं कहते "यह पशु है, अतएव इसे कसाईघर भेज दिया जाय जिससे मनुष्य इसे खा सकें।" पशुओं की हत्या क्यों हो? जो व्यक्ति वास्तव में कृष्णभावनाभावित होता है वह सबों पर दयालु होता है। इसलिए हमारे दर्शन का एक सिद्धान्त है, "मांसाहार नहीं किया जाय।" हो सकता है लोगों को यह स्वीकार्य न हो और वे कहें, "यह कैसी बेहूदगी है? मांस तो हमारा भोजन है। हम इसे क्यों न खावें?" चूँकि वे मदान्ध हैं (*एधमानमदः*) अतएव वे असली बातें नही सुनेंगे। किन्तु जरा विचार करें, क्या यदि कोई बेचारा सड़क पर लेटा हो तो मैं उसे मार डालूँ? क्या राज्य मुझे क्षमा कर देगा? मैं कह सकता हूँ, "मैंने तो एक बेचारे को मारा है। समाज में उसकी कोई जरूरत नहीं है। ऐसा व्यक्ति क्यों जीवित रहे?" किन्तु क्या राज्य मुझे क्षमा करेगा? क्या अधिकारी वर्ग यह कहेगा कि तुमने बहुत अच्छा कार्य किया है? नहीं। वह बेचारा भी राज्य का नागरिक है और राज्य उसे इस तरह मरने नहीं दे सकता। तो फिर इस दर्शन का विस्तार क्यों नहीं करते? वृक्ष, पक्षी तथा पशु भी ईश्वर की सन्तानें हैं। यदि कोई इन्हें मारता है तो वह वैसा ही अपराधी है जिस तरह सड़क पर पड़े किसी बेचारे व्यक्ति को मारने वाला। ईश्वर की दृष्टि में अथवा पंडित की भी दृष्टि में अमीर तथा गरीब, गोरे तथा काले में कोई भेदभाव नहीं होता। हर जीव ईश्वर का अंश है। और चूँकि एक वैष्णव इसे देखता है अतएव वही सारे जीवों का एकमात्र असली हितैषी है।

एक वैष्णव सारे जीवों को कृष्णभावनामृत के स्तर तक उठाना चाहता है। वह यह नहीं देखता कि "यह भारतीय है और यह अमरीकी।" एक बार किसी ने मुझसे पूछा था, "आप अमेरिका क्यों आये?" किन्तु मुझे क्यों नहीं आना चाहिए? मैं तो ईश्वर का दास हूँ और यह ईश्वर का

साम्राज्य है तो फिर मैं क्यों नहीं आऊँ? भक्त की गतिविधि में बाधा डालना कृत्रिम है और जो ऐसा करता है वह पापकर्म करता है। जिस तरह एक पुलिस वाला बिना रोकटोक के घर में घुस सकता है उसी तरह एक नौकर को कहीं भी जाने का अधिकार है क्योंकि हर वस्तु ईश्वर की है। हमें वस्तुओं को यथारूप में देखना है। यही कृष्णभावनामृत है।

अब कुन्तीदेवी कहती हैं कि जो लोग अपनी मदान्धता बढ़ाते रहते हैं वे कृष्णभावनाभावित नहीं हो सकते। पूर्ण मदान्ध व्यक्ति ऊटपटाँग बक सकता है। उससे कहना चाहिए कि "मेरे भाई! तुम ऊटपटाँग बक रहे हो। यह तुम्हारे पिता हैं और यह तुम्हारी माता है।" किन्तु मदान्ध होने से वह न तो समझेगा, न समझना चाहेगा। इसी तरह यदि एक भक्त मदान्ध व्यक्ति को दिखलाना चाहता है कि "यह ईश्वर है" तो वह इसे नहीं समझ सकेगा। इसीलिए कुन्तीदेवी कहती हैं— *त्वामकिञ्चनगोचरम्* जिससे सूचित होता है कि उच्च कुल में जन्म, ऐश्वर्य, शिक्षा तथा सौन्दर्य से उत्पन्न मद से रहित होना ही सुपात्रता है।

इतने पर भी यदि कोई व्यक्ति कृष्णभावनाभावित हो जाता है तो ये ही भौतिक उपादान कृष्ण की सेवा में प्रत्युक्त किये जा सकते हैं। उदाहरणार्थ, कृष्णभावनामृत आन्दोलन में जितने अमरीकी सम्मिलित हुए हैं वे भक्त बनने के पूर्व भौतिक रूप से मदान्ध थे, किन्तु अब उनकी मदान्धता समाप्त हो चुकी है और उनकी भौतिक सम्पत्ति आध्यात्मिक सम्पत्ति बन चुकी है जो कृष्ण की सेवा को अग्रसर बनाने में सहायक हो सकती है। उदाहरणार्थ, जब ये अमरीकी भारत जाते हैं तो भारत के लोग यह देखकर चकित रह जाते हैं कि ये अमरीकी ईश्वर के पीछे दीवाने क्यों हैं? अनेक भारतीय पाश्चात्य देशों के भौतिकतावादी जीवन का अनुकरण करने का प्रयत्न करते हैं, किन्तु जब वे लोग अमरीकियों को कृष्णभावनामृत में नाचते देखते हैं तो उन्हें लगता है कि वास्तव में अनुकरणीय तो यह है।

हर वस्तु का उपयोग कृष्णसेवा में हो सकता है। यदि कोई व्यक्ति मदान्ध बना रहता है और अपनी भौतिक सम्पत्ति का उपयोग कृष्ण की

सेवा में नहीं करता तो वह सम्पत्ति अत्यधिक उपयोगी नहीं होती। किन्तु यदि उसका उपयोग कृष्ण की सेवा में किया जाता है तो वह अत्यधिक उपयोगी है। उदाहरणार्थ, शून्य का कोई मान नहीं होता, किन्तु जैसे ही शून्य के पूर्व कोई अंक लिख दिया जाता है तो शून्य तुरन्त दस बन जाता है। इसी तरह यदि दो शून्य हों तो वे एक सौ बन जाते हैं और तीन शून्य एक हजार। इसी तरह हम लोग जो कि भौतिक सम्पत्ति से मदान्ध रहते हैं शून्य के समान हैं, किन्तु ज्योंही हम कृष्ण से जुड़ते हैं तो ये तमाम शून्य अतीव उपयोगी बन जाते हैं। इसलिए कृष्णभावनामृत आन्दोलन पाश्चात्य जगत के लोगों को महान अवसर प्रदान करता है। उनके पास भौतिकतावदी जीवन के शून्यों की भरमार है और यदि वे अपने जीवन में कृष्ण को सम्मिलित कर लें (जोड़ लें) तो इनका जीवन अतीव उपयोगी हो जाय।

१०. निर्धन का धन

नमोऽकिञ्चनवित्ताय निवृत्तगुणवृत्तये।
आत्मारामाय शान्ताय कैवल्यपतये नमः॥

मैं निर्धनों के धन स्वरूप आपको नमस्कार करती हूँ। आपको प्रकृति के गुणों के कार्य तथा कारण से कोई सरोकार नहीं है। आप आत्मतुष्ट हैं, अतएव आप परम शान्त तथा अद्वैतवादियों के स्वामी (कैवल्यपति) हैं।

—(*श्रीमद्भागवत १.८.२७*)

यदि जीव के पास कुछ भी न रहे तो वह समाप्त हो जाय। अतएव यदि वास्तव में देखा जाय तो जीव त्यागी नहीं हो सकता। जीव किसी न किसी महत्वपूर्ण उपलब्धि के लिए त्याग करता है। एक विद्यार्थी अपनी बाल-सुलभ चपलता का त्याग श्रेष्ठ शिक्षा प्राप्त करने के लिए करता है। एक नौकर अधिक अच्छी नौकरी के लिए अपना पहले का काम छोड़ता है। इसी तरह एक भक्त इस भौतिक जगत का परित्याग व्यर्थ ही नहीं करता अपितु कुछ आध्यात्मिक उपलब्धि के लिए करता है। श्रीलरूप गोस्वामी, सनातन गोस्वामी, श्रीरघुनाथदास गोस्वामी आदि ने भगवान् की सेवा के लिए ही सांसारिक तड़क-भड़क का परित्याग किया। सांसारिक दृष्टि से वे महापुरुष थे। रूप तथा सनातन गोस्वामी बंगाल सरकार में मन्त्री थे और श्रील रघुनाथ गोस्वामी अपने समय

के बहुत बड़े जमींदार के पुत्र थे लेकिन उन्होंने अपना सर्वस्व त्याग दिया जिससे उन्हें इससे बढ़कर लाभ हो सके। भक्तगण सामान्यतया सम्पत्तिविहीन होते हैं, लेकिन भगवान् के चरणकमल उनके गुप्ततम कोष हैं। श्रील सनातन गोस्वामी के सम्बन्ध में एक अत्यन्त सुन्दर कथा है। उनके पास पारस पत्थर था जिसे उन्होंने एक कूड़े के ढेर में डाल रखा था। उसे किसी जरूरतमन्द व्यक्ति ने प्राप्त किया किन्तु बाद में वह सोचने लगा कि आखिर इसे ऐसे उपेक्षित स्थान में क्यों डाल रखा गया था। अतएव उसने उनसे सबसे कीमती वस्तु का नाम पूछा तो उन्होंने कहा "भगवान् का नाम"। *अकिंचन* का अर्थ है निर्धन अर्थात् जिसके पास देने के लिए कुछ न हो। वास्तविक भक्त या महात्मा किसी को कोई भौतिक वस्तु नहीं दे पाता, क्योंकि वह पहले से सारी सम्पत्ति त्याग चुका होता है। लेकिन वह परम धन का अर्थात् भगवान् का दान दे सकता है। क्योंकि भक्त का वास्तविक धन भगवान् ही होता है। सनातन गोस्वामी द्वारा कूड़े में डाला हुआ पारस पत्थर उनका धन न था अन्यथा वह ऐसे स्थान में न पड़ा होता। यह विशेष उदाहरण नवदीक्षित भक्तों के समक्ष रखा जाता है जिससे उन्हें यह विश्वास दिलाया जा सके कि भौतिक भोग तथा आध्यात्मिक उन्नति साथ-साथ नहीं चलते। जब तक व्यक्ति हर वस्तु को भगवान् के साथ आध्यात्मिक रीति से सम्बन्धित नहीं देखता तब तक वह आत्मा तथा पदार्थ में अन्तर करता है। श्रील सनातन गोस्वामी जैसे गुरु ने यह उदाहरण हम सबों के समक्ष प्रस्तुत किया है, क्योंकि हममें वैसी आध्यात्मिक दृष्टि नहीं है। वे स्वयं वस्तु को आध्यत्मिक रूप में देखने वाले थे।

आध्यात्मिक उन्नति में भौतिक दृष्टि का विकास अथवा भौतिक सभ्यता एक रोड़े का काम करती है। ऐसा भौतिक विकास जीव को शरीर के बन्धन से उलझा देता है जिसके बाद अनेक भौतिक कष्ट प्राप्त होते रहते हैं। ऐसी भौतिक प्रगति अनर्थ अथवा अवांछित वस्तु कहलाती है। वास्तव में है भी ऐसा ही। भौतिक प्रगति के प्रसंग में पचास पैसे वाली लिपस्टिक (लाली) के प्रयोग का नाम लिया जा सकता है। ऐसी अनेक अवांछित वस्तुएँ हैं जो देहात्मबुद्धि से प्रसूत है। ऐसी अनेक अवांछित

वस्तुओं की ओर मन बाँटने से मनुष्य की शक्ति व्यर्थ ही नष्ट होती है और आत्म-साक्षात्कार भी प्राप्त नहीं हो पाता जो मानव जीवन की प्रमुख आवश्यकता है। दूसरा उदाहरण है चन्द्रमा तर पहुँचने के प्रयास में शक्ति का अपव्यय, क्योंकि यदि चन्द्रमा तक पहुँच लिया जाय तो भी जीवन की समस्याएँ हल होने वाली नहीं हैं। भगवान् के भक्त *अकिंचन* कहलाते हैं, क्योंकि उनके पास भौतिक सम्पति नहीं होती। ऐसी सम्पत्ति प्रकृति के तीनों गुणों का प्रतिफल है। गुण आध्यात्मिक शक्ति को व्यर्थ कर देते हैं अतएव हमारे पास जितना ही कम भौतिक कार्य होगा उतना ही अवसर हमें आध्यात्मिक प्रगति के लिए प्राप्त हो सकेगा।

भगवान् का भौतिक कार्यकलापों से किसी तरह का सम्बन्ध नहीं होता। इस भौतिक जगत में उनके सारे कार्यकलाप आध्यात्मिक होते हैं और प्रकृति के गुणों से कभी दूषित नहीं होते। *भगवद्गीता* में भगवान् कहते हैं कि उनके सारे कर्म, यहाँ तक कि इस जगत में उनका आविर्भाव तथा तिरोधान भी, दिव्य होते है। जो इसे ठीक से जान लेता है वह इस जगत में फिर से जन्म न लेकर भगवद्धाम को वापस जाता है।

भवरोग का कारण प्रकृति पर प्रभुत्व जताने की लालसा है। यह लालसा प्रकृति के तीनों गुणों की अन्तःक्रिया का परिणाम है। ऐसे मिथ्या भोग के प्रति न तो भगवान्, न ही भक्तगण आसक्त होते हैं। अतएव भगवान् तथा भक्त *निवृत्तगुण-वृत्ति* कहलाते हैं। पूर्ण निवृत्तगुण वृत्ति तो परमेश्वर है जो प्रकृति के गुणों द्वारा कभी आकृष्ट नहीं होते लेकिन जीवों में ऐसी प्रवृत्ति पाई जाती है। इनमें से कुछ जीव माया के मोहाकर्षण में फँस जाते हैं।

चूँकि भगवान् भक्तों के धन हैं और भक्तगण भगवान् के धन हैं, अतएव भक्तगण निश्चित रूप से प्रकृति के गुणों के परे होते है। यह सीधा-सादा निष्कर्ष है। ऐसे अनन्य भक्त उन मिश्रित भक्तों से भिन्न हैं जो दुख तथा दरिद्रता को दूर करने के लिए या उत्सुकता तथा कल्पना के कारण भगवान् के पास आते हैं। अनन्य भक्त तथा भगवान् का एक-दूसरे से दिव्य सम्बन्ध होता है। लेकिन अन्यों से भगवान् को कुछ लेना-देना नहीं होता। अतएव वे *आत्माराम* या आत्मतुष्ट कहलाते हैं।

आत्माराम होने से वे समस्त अद्वैतवादियों के स्वामी हैं जो भगवान् के अस्तित्व में एकाकार हो जाना चाहते हैं। ऐसे अद्वैतवादी भगवान् के व्यक्तिगत तेज में, जिसे *ब्रह्मज्योति* कहते हैं, एकाकार होते हैं लेकिन भक्त तो भगवान् की दिव्य लीलाओं में प्रवेश करते हैं जिन्हें भौतिक नहीं माना जा सकता।

भक्त की पहली योग्यता है कि वह भौतिक दृष्टि से निर्धन होता है। जिसके पास इस जगत में एकमात्र कृष्ण के अतिरिक्त कुछ भी नहीं होता वह *अकिञ्चन* कहलाता है। *अकिञ्चन* शब्द का अर्थ है, "वह जिसने सारी भौतिक सम्पत्ति खो दी है।" जब तक हममें सुखी बनने का रंच भर भी विचार रहेगा तब तक हमें भौतिक शरीर स्वीकार करना पड़ेगा। प्रकृति इतनी दयालु है कि जब तक हम इस भौतिक जगत का भोग करना चाहते हैं वह भगवान् के निर्देशानुसार हमें उपयुक्त शरीर प्रदान करती रहती है। चूँकि भगवान हर एक के हृदय में स्थित हैं, अतएव वे सब जानते हैं। इसलिए यह जानकर कि हमें अब भी कुछ भौतिक वस्तुएँ चाहिए वे हमें दूसरा भौतिक शरीर प्रदान करेंगे। वे कहेंगे, "हाँ, यह लो।" कृष्ण हमसे यह चाहते हैं कि हमें पूर्ण अनुभव प्राप्त हो जिससे हम यह समझ सकें कि भौतिक लाभ से हम कभी भी सुखी नहीं हो सकते। ऐसी कृष्ण की इच्छा है।

हम परम स्वतन्त्र कृष्ण के अंश रूप हैं, अतएव हमें भी पूर्ण स्वतन्त्रता मिली है, यद्यपि इस स्वतन्त्रता की मात्रा अत्यल्प है। यद्यपि समुद्र की एक बूँद में नमक की मात्रा समुद्र में नमक की मात्रा से तुलनीय नहीं है, किन्तु बूँद तथा समुद्र दोनों का ही रासायनिक संघटन एक सा है। इसलिए हमारे पास अल्प मात्रा में जो भी है वह कृष्ण में अपने पूर्णरूप में विद्यमान है (*जन्माद्यस्य यतः*)। उदाहरणार्थ, हममें चुराने, अन्यों की वस्तुओं को लेने की लालसा रहती है। जब तक परब्रह्म में चुराने की लालसा विद्यमान न हो तब तक वह हममें कैसे पाई जा सकती है? *कृष्ण* "माखनचोर" कहाते हैं। किन्तु कृष्ण के चुराने और हमारे चुराने में अन्तर है। हम भौतिक रूप से कलुषित हैं, हमारा चुराना निन्दनीय है। किन्तु आध्यात्मिक स्तर पर वही चुराना इतना उत्तम है कि उसमें

आनन्द आता है। इसीलिए माता यशोदा कृष्ण की चौरलीला का आनन्द लूटती हैं। भौतिक एवं आध्यात्मिक में यही अन्तर है।

कोई भी आध्यात्मिक कार्य उत्तम है तथा कोई भी भौतिक कार्य सर्वथा बुरा है। आध्यात्मिक तथा भौतिक में यही अन्तर है। इस जगत की तथाकथित नैतिकता तथा अच्छाई बुरी है, किन्तु आध्यत्मिक जगत में अनैतिकता भी अच्छी होती है। इसे हमें समझना होगा। उदाहरणार्थ, अर्धरात्रि में अन्यों की पत्नियों के साथ नाचना अनैतिक है। आज भी भारत में किसी युवती को किसी युवक के साथ अर्धरात्रि में नाचने की अनुमति नहीं दी जाती। किन्तु *श्रीमद्भागवत* में हम पाते हैं कि वृन्दावन की युवती गोपियाँ कृष्ण की बंशी सुनते ही उनके साथ नाचने के लिए आ जातीं। भौतिक विचार से यह कृत्य अनैतिक है, किन्तु आध्यात्मिक दृष्टि से यह उच्चतम नैतिकता के अनुकूल है। इसीलिए चैतन्य महाप्रभु ने कहा है *रम्या काचिदुपासना व्रजवधूवर्गेण या कल्पिता*—ओह! व्रजवधुओं द्वारा कल्पित पूजा की विधि के समक्ष कोई अन्य विधि उत्तम नहीं है। संन्यास ग्रहण करने के बाद चैतन्य महाप्रभु स्त्रियों की संगति से दूर रहते थे। यहाँ तक कि गृहस्थ जीवन में भी वे किसी स्त्री से हँसी-मजाक नहीं करते थे। वे पुरुषों के साथ हँसी करते थे, किन्तु स्त्रियों के साथ नहीं। एकबार उन्होंने अपनी पत्नी विष्णुप्रिया से हँसी में कुछ शब्द कहे थे। जब चैतन्य महाप्रभु की माता शची माता कुछ ढूँढ रही थीं तो उन्होंने हँसी में कहा, "हो सकता है कि तुम्हारी पुत्रबधू ने ले लिया हो।" किन्तु उनके सारे जीवन में स्त्रियों के विषय में एकमात्र ये ही हँसी के शब्द हैं। वे अत्यन्त कठोर थे। संन्यास लेने के बाद उनके पास कोई भी स्त्री नमस्कार करने नहीं आ सकती थी। स्त्रियाँ केवल दूर से नमस्कार करती थीं। फिर भी चैतन्य महाप्रभु ने कहा—*रम्या काचिदुपासना व्रजवधूवर्गेण या कल्पिता*— वृन्दावन की वधुओं के द्वारा कल्पित पूजा से बढ़कर कोई अन्य विधि नहीं। तो उनकी कल्पना क्या थी? वे हर स्थिति में कृष्ण से प्रेम करना चाहती थीं। और यह कभी भी अनैतिक नहीं है।

कृष्ण से सम्बन्धित कोई भी काम अनैतिक नहीं है। दूसरा उदाहरण

लें। जब भगवान् कृष्ण ने नृसिंह देव अवतार के रूप में प्रह्लाद महाराज के पिता हिरण्यकशिपु बध किया तो प्रह्लाद महाराज पास ही खड़े रहे, किन्तु उन्होंने कोई विरोध नहीं किया। क्या यह नैतिक है? कौन ऐसा होगा जो अपने पिता को मारा जाता देखेगा? कौन ऐसा होगा जो बिना किसी विरोध के पास ही खड़ा रहेगा? कोई भी ऐसे आचरण की स्वीकृति नहीं देगा और न इसे नैतिक कहेगा। तो भी ऐसा हुआ। इतना ही नहीं, प्रह्लाद महाराज ने अपने पिता के बधकर्ता को पहनाने के लिए माला बनवाई। उन्होंने कहा, "हे बध करने वाले प्रभु! यह माला लें। आपने मेरे पिता का बध किया है। आप बहुत अच्छे हैं।" इसको आध्यात्मिक रीति से समझना होगा। यदि किसी के पिता पर आक्रमण किया जाय और वह उसकी रक्षा न कर सके तो उसे विरोध करना चाहिए और सहायता के लिए चिल्लाना चाहिए। किन्तु चूँकि प्रह्लाद का पिता नृसिंहदेव के रूप में कृष्ण द्वारा मारा गया था अतएव प्रह्लाद ने नृसिंहदेव से कहा, "हे प्रभु! मेरे पिता के मारे जाने से हर व्यक्ति सुखी है। अब आप अपना रोष हटा लें।"

साधु पुरुष तो मनुष्य क्या पशु तक के वध की अनुमति नहीं देता, किन्तु प्रह्लाद महाराज ने कहा—*मोदेत साधुरपि वृश्चिकसर्पहत्या*—बिच्छू या सर्प के मारे जाने पर साधु भी प्रसन्न होता है। बिच्छू या सर्प भी जीव है और जब किसी भी जीव को मारा जाता है तो साधु कभी प्रसन्न नहीं होता किन्तु प्रह्लाद महाराज ने कहा, "साधु भी सर्प या बिच्छू के मारे जाने पर प्रसन्न होता है।" हिरण्यकशिपु अत्यधिक घातक असुर था जिसने भक्तों को सताया था। अत: जब ऐसा असुर मारा जाता है तो साधुपुरुष तक प्रसन्न होते हैं, यद्यपि सामान्यतया वे कभी नहीं चाहते कि कोई जीव मारा जाय। इसलिए भले ही ऐसा प्रतीत हो कि भगवान् कृष्ण या प्रह्लाद महाराज ने अनैतिक कर्म किया, किन्तु वास्तव में उन्होंने सर्वोच्च नैतिकता के अनुकूल ही कार्य किया।

कृष्ण *अकिंचनवित्त* हैं, अर्थात् जिनके पास कोई वस्तु नहीं है उनके पास एकमात्र सान्त्वना है। *श्रीचैतन्य-चरितामृत* में भगवान् कृष्ण कहते

हैं, "जो व्यक्ति मुझे चाहने के साथ साथ भौतिक सम्पत्ति चाहता है वह मूर्ख है।" कृष्ण इतने दयालु हैं कि यदि कोई भौतिक सम्पन्नता के साथ साथ भक्त बनना चाहता है तो कृष्ण उसके भौतिक जीवन को असफल बना देते हैं। इसीलिए लोग कृष्णभावनामृत के पास आने से भयभीत रहते हैं। वे सोचते हैं, "ओह! तब तो मेरी भौतिक सम्पन्नता समाप्त हो जाएगी।"

सामान्यतया लोग गिरजाघर या मन्दिर में भौतिक सम्पन्नता के लिए ईश्वर से प्रार्थना करने जाते हैं, "हे ईश्वर! हमें हमारी रोज की रोटी दें।" यद्यपि ये लोग ईश्वर के पास भौतिक सम्पन्नता के लिए—"मुझे यह दें या वह दें"—जाते हैं, किन्तु वे भी पवित्र माने जाते हैं, क्योंकि वे ईश्वर के पास जाते तो हैं। वे उन नास्तिकों की तरह नहीं होते जो कभी भी ईश्वर के पास नहीं जाते। नास्तिक कहता है, "मैं ईश्वर के पास क्यों जाऊँ? मैं अपनी सम्पत्ति कमाऊँगा और विज्ञान की प्रगति के द्वारा सुखी बनूँगा।" जो यह सोचता है कि मैं अपनी सम्पन्नता के लिए अपने बल तथा ज्ञान पर निर्भर रहूँगा वह दुष्कृती है अर्थात् पापात्मा है, किन्तु जो यह सोचता है कि मेरी सम्पन्नता ईश्वर की कृपा पर निर्भर है वह पुण्यात्मा है।

तथ्य तो यह है कि ईश्वर की स्वीकृति के बिना कुछ भी प्राप्त नहीं किया जा सकता। *तावत् तनुरिदं तनूपेक्षितानाम*। कष्ट के शमनार्थ हमने विधियाँ खोज निकाली हैं, किन्तु जब तक ईश्वर ऐसे कष्ट से छुटकारे की स्वीकृति नहीं दे देते, ये विधियाँ असफल रहती हैं। उदाहरणार्थ, किसी बीमार व्यक्ति के पास बहुत अच्छी औषधि तथा योग्य वैद्य भी है। किन्तु यदि हम वैद्य से पूछें, "क्या आप इस रोगी के जीवन की गारंटी दे सकते हैं?" तो वैद्य यही कहेगा, "मैं नहीं दे सकता। मैं भरसक प्रयत्न करूँगा। बस, इतना ही।" बुद्धिमान वैद्य जानता है "आखिरी स्वीकृति तो ईश्वर के हाथ में है। मैं तो निमित्त मात्र हूँ। यदि ईश्वर नहीं चाहता कि रोगी जीवित रहे तो मेरी सारी औषधियाँ तथा मेरा सारा वैज्ञानिक औषधिज्ञान असफल रहेगा।"

इसलिए आखिरी स्वीकृति तो कृष्ण हैं। जो मूर्ख हैं वे इसे नहीं

जानते, इसीलिए वे मूढ या धूर्त कहलाते हैं। वे नहीं जानते कि वे जो कुछ कर रहे हैं वह कितना ही उत्तम क्यों न हो यदि वह ईश्वर को स्वीकार्य नहीं तो व्यर्थ होगा। दूसरी ओर, भक्त यह जानता रहता है, "मेरे पास जितनी बुद्धि है उससे मैं सुखी बनने का प्रयत्न भले करूँ, किन्तु कृष्ण की स्वीकृति के बिना मैं कभी सुखी नहीं हो सकता।" एक भक्त तथा अभक्त में यही अन्तर है।

जैसा कि पहले कहा जा चुका है, कृष्ण यह कहते हैं, "जो व्यक्ति कृष्णभावनाभावित दृष्टि पाने के लिए मेरे पास आता है, किन्तु उसी के साथ भौतिक दृष्टि से सुखी बनना चाहता है वह बुद्धिमान नहीं है। वह अपने समय का अपव्यय करता है।" हमारा मुख्य कार्य कृष्णभावनाभावित होना है। यदि हम भौतिक उन्नति के लिए प्रयत्न करने में अपना समय गँवाते हैं और हरे कृष्ण कीर्तन करना भूल जाते हैं तो यह महान क्षति होगी। इसलिए कृष्ण कहते हैं—*आमि—विज्ञ, एइ मूर्खे 'विषय' केन दिबा* (*श्रीचैतन्य-चरितामृत*, मध्य २२.३९)—"धूर्त भक्ति के बदले में मुझसे भौतिक सम्पन्नता की याचना कर सकता है, किन्तु मैं उसे यह क्यों देने लगा? प्रत्युत उसके पास जितना होता है उसे मैं हर लेता हूँ।"

जब हमारी भौतिक सम्पत्ति छीन ली जाती है तो हम अत्यधिक खिन्न हो जाते हैं। किन्तु यह तो परीक्षा है। स्वयं कृष्ण ने यह बात युधिष्ठिर महाराज से कही थी। युधिष्ठिर महाराज ने कृष्ण से पूछा, "हम आप पर पूरी तरह से आश्रित हैं फिर भी भौतिक दृष्टि से हम इतना कष्ट उठा रहे हैं। हमारा राज्य छीन लिया गया, हमारी पत्नी का अपमान किया गया, हमारे शत्रु ने हमारे घर में ही हमें जला देने का प्रयत्न किया। ऐसा कैसे हो सकता है?" कृष्ण ने उत्तर दिया—*यस्याहमनुगृह्णामि हरिष्ये तद्धनं शनैः*। हाँ, यह मेरा पहला काम है। यदि मैं किसी पर विशेष कृपा करता हूँ तो मैं उसकी आमदनी के सारे साधनों को छीन लेता हूँ और उसे अतीव कष्ट में डाल देता हूँ।" इस तरह कृष्ण अत्यन्त घातक हैं।

इस सम्बन्ध में मेरा अपना वास्तविक अनुभव है। मैं पूरी कहानी

नहीं कहना चाहता, किन्तु यह तथ्य है कि मुझे इसी तरह से कृष्ण की विशेष कृपा प्राप्त हुई। जब मैं पच्चीस वर्ष का था तो मेरे गुरु महाराज ने मुझे प्रचार करने का आदेश दिया। किन्तु मैंने सोचा, "पहले मैं धनी बन लूँ तब मैं इस धन का उपयोग प्रचार कार्य में करूँगा।" मुझे अत्यन्त धनी व्यापारी बनने का अच्छा अवसर प्राप्त था। एक ज्योतिषी ने यह भी बतलाया था कि मैं भारत का सबसे धनी व्यक्ति हो सकता हूँ। इसकी बहुत अच्छी सम्भावना थी। मैं एक बड़ी रसायन फैक्टरी का प्रबन्धक था। मैंने अपनी निजी फैक्टरी चालू की और यह व्यापार अत्यन्त सफल हुआ। किन्तु अन्ततः सब कुछ समाप्त हो गया और इस तरह मुझे अपने गुरु के आदेश को पूरा करने के लिए बाध्य होना पड़ा। जब मेरी सारी भौतिक सम्पत्ति छीन ली गई तो मैं यह कहता हुआ कृष्ण के पास पहुँचा, "आप ही मेरी एकमात्र शरण हैं।" अतएव कृष्ण *अकिञ्चनवित्त* हैं। जब मनुष्य समस्त भौतिक ऐश्वर्य से विहीन बना दिया जाता है तो वह कृष्ण की ओर मुड़ता है। अब मैं अनुभव करता हूँ कि मैंने खोया नहीं बल्कि पाया है।

अतः कृष्ण के निमित्त ऐश्वर्य को खो देना कोई हानि नहीं प्रत्युत यह सबसे बड़ा लाभ है। जब मनुष्य के पास कुछ नहीं रह जाता, वह *अकिञ्चन* बन जाता है, तो कृष्ण ही उसके एकमात्र धन बन जाते हैं। इस भाव को नरोत्तमदास ठाकुर ने इस प्रकार व्यक्त किया है—

हा हा प्रभु नन्द-सुत, वृषभानुसुता-युत
करुणा करह एइ-बार
नरोत्तमदास कहे, न ठेलिया रंग-पाय
तुमि विना के आछे आमार॥

"हे कृष्ण! मुझे आपके अतिरिक्त कुछ भी नहीं चाहिए। मेरे पास कुछ भी नहीं है। आप ही मेरे धन हैं, अतएव आप मेरी उपेक्षा न करें।"

यह स्थिति अति उत्तम है। जब कोई व्यक्ति किसी भौतिक वस्तु पर आश्रित न रहकर एकमात्र कृष्ण पर आश्रित रहता है तो उसे उच्चकोटि

का कृष्णभावनामृत पद प्राप्त होता है। इसीलिए कृष्ण को *अकिञ्चनवित्त* कहा गया है। "जब मनुष्य भौतिक दृष्टि से निर्धन हो जाता है तो आप ही एकमात्र धन होते हैं।" *नमोऽकिञ्चनवित्ताय निवृत्तगुणवृत्तये*—जब कोई व्यक्ति आपको अपना एकमात्र धन मान लेता है तो वह भौतिक प्रकृति के कार्यों से तुरन्त मुक्त हो जाता है। दूसरे शब्दों में, कृष्ण को इस तरह अंगीकार करने से मनुष्य को परम पद प्राप्त होता है। *आत्मारामाय*— "उस समय मनुष्य आपके साथ सुखी बन जाता है। हे कृष्ण आप स्वयं में सुखी हैं और जो कोई आपकी शरण में आता है वह आपकी ही तरह सुखी हो जाता है।" कृष्ण के शरीर तथा स्वयं कृष्ण में कोई अन्तर नहीं है। वे पूर्णरूपेण आत्मा हैं। किन्तु हमारे शरीर होता है जो हमसे भिन्न होता है। मैं आत्मा हूँ, किन्तु मेरे पास भौतिक शरीर भी है। किन्तु जब हम कृष्ण पर आश्रित हो जाते हैं तो हम भी कृष्ण के साथ आत्माराम बन सकते हैं, क्योंकि वे पूर्णरूपेण आत्माराम होते हैं। *कैवल्यपतये नमः*—मायावादी दार्शनिक अथवा अद्वैतवादी परमेश्वर के साथ एकाकार होना चाहते हैं। परमेश्वर तो आत्म-तुष्ट हैं और वे भी उनके साथ एकाकार होकर आत्म-तुष्ट बनना चाहते हैं। हमारे कृष्णभावनामृत का दर्शन भी यही है किन्तु हम कृष्ण से एकाकार न होकर कृष्ण पर आश्रित होते हैं। यही वास्तविक एकत्व है। यदि हम कृष्ण के आदेशों का पालन करें और उनसे किसी प्रकार की असहमति न रहे तो हम वास्तविक एकत्व को प्राप्त होते हैं।

मायावादी दार्शनिक सोचता है, "मैं अपना पृथक अस्तित्व क्यों रखूँ? मैं परमेश्वर में विलीन हो जाऊँगा"। किन्तु ऐसा सम्भव नहीं है। हम प्रारम्भ से ही कृष्ण के भिन्नांश हैं। इसीलिए *भगवद्गीता* में कृष्ण कहते हैं "हे अर्जुन! तुम यह जान लो कि इस युद्धभूमि में एकत्र हुए तुम, मैं तथा ये सारे व्यक्ति भूतकाल में व्यक्ति थे, वर्तमान में व्यक्ति हैं और भविष्य में भी व्यक्ति बने रहेंगे।"

नित्यो नित्यानां चेतनश्चेतनानाम्। कृष्ण परम नित्य, परम प्राण हैं। हम (*जीव*) असंख्य (*अनन्त*) हैं। इसी तरह कृष्ण भी जीव हैं, किन्तु वे मुख्य परम जीव हैं। यही अन्तर है। एक नेता के अनेक अनुयायी

हो सकते हैं और हम अधीन, आश्रित जीव हैं।

हम आश्रित हैं—इसे समझ पाना अत्यधिक कठिन है। यदि कृष्ण हमें भोजन न दें तो हम भूखों मर जावें क्योंकि हम स्वतन्त्र रूप से कुछ भी उत्पन्न नहीं कर सकते। *एको बहूनां यो विदधाति कामान्*—कृष्ण सबों का पालन कर रहे हैं और हम पालित हैं। अतएव कृष्ण मुख्य प्रभु हैं और हमें उनकी प्रभुता स्वीकारने के लिए तैयार रहना चाहिए। यही हमारी स्वाभाविक स्थिति है। यदि हम भौतिक जगत में प्रभु बनना चाहते हैं तो हम मोह में हैं। हमें यह मोह त्याग कर कृष्ण की प्रभुता स्वीकार करने का प्रयास करना चाहिए। तभी हमारा जीवन सफल हो सकता।

११. परमशक्ति का स्पर्श

मन्ये त्वां कालमीशानम् अनादिनिधनं विभुम्।
समं चरन्तं सर्वत्र भूतानां यन्मिथः कलिः॥

हे भगवान्! मैं आपको शाश्वत काल, परम नियन्ता, आदि-अन्त से रहित तथा सर्वव्यापी मानती हूँ। आप सबों पर समान रूप से दया दिखलाते हैं। जीवों में जो पारस्परिक विषमता है वह सामाजिक संघर्ष के कारण है।

—(*श्रीमद्भागवत १.८.२८*)

कुन्तीदेवी जानती थीं कि कृष्ण न तो उनके हैं और न उनके पितृकुल के सामान्य पारिवारिक सदस्य। वे अच्छी तरह जानती थीं कि कृष्ण आदिदेव हैं जो परमात्मा के रूप में हृदय में वास करनेवाले हैं। भगवान् के परमात्मा-रूप का अन्य नाम काल या शाश्वत समय भी है। यह काल अच्छे तथा बुरे दोनों प्रकार के कर्मों का साक्षी है और इस प्रकार से उनके द्वारा ही कर्मफल निर्धारित होते हैं। हम उन दुष्कर्मों को भूल सकते हैं जिनके कारण हमें इस समय कष्ट उठाना पड़ रहा है। लेकिन हमें यह स्मरण रखना चाहिए कि परमात्मा हमारा नित्य संगी है। चूँकि भगवान् कृष्ण परमात्मा स्वरूप ही सारे कर्मों तथा फलों को निर्धारित करनेवाले हैं, अतएव परम नियन्ता भी हैं। उनकी मर्जी के बिना एक पत्ती भी नहीं हिल सकती। जीवों को अपनी योग्यता के अनुसार

स्वतन्त्रता प्राप्त है और इस स्वतन्त्रता के दुरुपयोग के कारण ही उसे दुख भोगना पड़ता है। भगवद्भक्त कभी भी इस स्वतन्त्रता का दुरुपयोग नहीं करते, अतएव वे भगवान् की अच्छी सन्तानें हैं। अन्यलोग, जो स्वतन्त्रता का दुरुपयोग करते हैं, उन्हें काल कष्ट देता है। काल ही जीवों को सुख तथा दुख दोनों प्रदान करता है। यह सब काल द्वारा पूर्वनिर्धारित है। जिस प्रकार हमारे न चाहने पर भी दुख मिलते हैं उसी प्रकार बिना माँगे सुख भी मिलता है, क्योंकि सुख-दुख काल द्वारा पूर्वनिर्धारित हैं, अतएव भगवान् का न तो कोई मित्र है, न शत्रु। प्रत्येक व्यक्ति अपने ही भाग्य (प्रारब्ध) फल का सुख-दुख भोग रहा है। यह भाग्य जीवों द्वारा ही सामाजिक संघर्ष करते हुए निर्मित होता है। यहाँ प्रत्येक व्यक्ति प्रकृति पर प्रभुत्व जताना चाहता है अतएव प्रत्येक व्यक्ति भगवान् की अध्यक्षता में अपना भाग्य बनाता है। चूँकि भगवान् सर्वव्यापी हैं, अतएव वे हरएक के कर्मों को देख सकते हैं और चूँकि भगवान् का कोई आदि-अन्त नहीं है, अतएव वे शाश्वत समय या *काल* भी कहलाते हैं।

यहाँ पर भक्त कुन्ती ने जो कुछ बतलाया है उसकी पुष्टि स्वयं भगवान् ने *भगवद्गीता* में (९.२९) की है। वे कहते हैं—

समोऽहं सर्वभूतेषु न मे द्वेष्योऽस्ति न प्रियः।
ये भजन्ति तु मां भक्त्या मयि ते तेषु चाप्यहम्॥

"मैं न तो किसी से द्वेष करता हूँ, न ही किसी के साथ पक्षपात करता हूँ। मैं सबों के लिए समभाव हूँ। किन्तु जो भी भक्तिपूर्वक मेरी सेवा करता है वह मेरा मित्र है, मुझमें स्थित रहता है और मैं भी उसका मित्र हूँ।" ईश्वर कभी भी पक्षपात नहीं करता। हरव्यक्ति ईश्वर का पुत्र है अत: यह कैसे हो सकता है कि ईश्वर एक पुत्र की अपेक्षा दूसरे का पक्ष ले। यह सम्भव नहीं है। किन्तु मनुष्य भेदभाव बरतते हैं। हम लिखते तो हैं कि "हम ईश्वर में विश्वास करते हैं।" किन्तु जो व्यक्ति ईश्वर में विश्वास करता है उसे सारे जीवों के प्रति समानरूप से दयालु होना चाहिए। यही ईशभावनामृत है।

कृष्ण कहते हैं, "मेरा न तो कोई शत्रु है, न मित्र।" *न मे द्वेष्योऽस्ति*

न प्रिय:। *द्वेष्य* का अर्थ है "शत्रु"। हम अपने शत्रुओं से ईर्ष्या करते हैं और मित्रों के प्रति मैत्री भाव रखते हैं, किन्तु सर्वोच्च होने से कृष्ण यदि किसी असुर के प्रति शत्रुवत् बनते हैं तो वास्तव में वे तब भी मित्र रहते हैं। जब कृष्ण किसी असुर का बध करते हैं तो उस असुर के आसुरी कार्यों का संहार होता है और वह असुर सन्त बन कर परम निर्विशेष तेज अर्थात् *ब्रह्मज्योति* में लीन हो जाता है।

ब्रह्मज्योति परब्रह्म के तीन स्वरूपों में से एक है।

वदन्ति तत्तत्त्वविदस्तत्त्वं यज्ज्ञानमद्वयम्।
ब्रह्मेति परमात्मेति भगवान् इत शब्द्यते॥
(*भागवत* १.२.११)

परब्रह्म हर एक के समान है, किन्तु कोई भी व्यक्ति ब्रह्म की अनुभूति उन तक पहुँचने की विधि के अनुसार करेगा (*ये यथा मां प्रपद्यन्ते*)। मनुष्य की समझ के अनुसार ही परब्रह्म या तो निर्विशेष ब्रह्म के रूप में, अन्तर्यामी परमात्मा के रूप में या अन्ततः भगवान् के रूप में प्रकट होता है।

इसकी व्याख्या एक उदाहरण द्वारा की जा सकती है। कभी कभी पर्वतों को हम अपने कमरे से देखते हैं, किन्तु वे स्पष्ट नहीं दिखते। लासऐंजिलिस में तमाम पर्वत हैं, किन्तु जब हम इन्हें दूर से देखते हैं तो वे धुँधले दिखते हैं। और आगे जाने पर पर्वत कुछ अधिक स्पष्ट दिखता है। यदि हम पर्वत तक पहुँच जायँ तो पाएँगे कि लोग वहाँ काम कर रहे हैं, वहाँ पर तमाम घर, सड़कें, मोटरकार तथा अनेकानेक वस्तुएँ हैं। इसी तरह जब कोई व्यक्ति अपने छोटे से मस्तिष्क द्वारा परब्रह्म को जानना चाहता है तो वह सोचता है, "मैं परब्रह्म को पाने के लिए खोज करूँगा" तो उसे अस्पष्ट निर्विशेष विचार प्राप्त होगा। यदि वह आगे बढ़ता हुआ ध्यानी बनता है तो वह पाएगा कि ईश्वर उसके हृदय में स्थित हैं। *ध्यानावस्थिततद्गतेनमनसा पश्यन्ति यं योगिन:*—योगीजन विष्णु के स्वरूप को ध्यान द्वारा अपने हृदय के भीतर देखते हैं। किन्तु भक्तगण परमपुरुष को अपने समक्ष देखते हैं और उससे बातें करते हैं। भगवान् आदेश देते

हैं, "मुझे यह वस्तु लाओ" और भक्त उनकी वांछित वस्तु लाकर भगवान् की सेवा करता है। इस तरह परब्रह्म की विभिन्न अनुभूतियाँ हैं और यद्यपि वे हरएक के प्रति समभाव रखते हैं, किन्तु उन्हें ठीक से समझना हमारी प्रगति पर निर्भर करता है। इसीलिए कुन्ती कहती हैं *समं चरन्तं सर्वत्र*—अपनी कृपा प्रदान करने में आप सबों के लिए समान रहते हैं।

चरन्तम् शब्द का अर्थ है "चलते हुए"। भगवान् सर्वत्र—भीतर तथा बाहर—विचरण करते हैं। हमें अपनी दृष्टि को विमल बनाना होता है जिससे हम उन्हें देख सकें। हम भक्ति द्वारा अपनी इन्द्रियों को शुद्ध कर सकते हैं जिससे हमें ईश्वर की अनुभूति हो सके। जो लोग अल्पज्ञ हैं वे ईश्वर को अपने भीतर ढूँढने का प्रयास करते हैं, किन्तु जिनकी बुद्धि बढ़ी-चढ़ी रहती है वे ईश्वर को बाहर तथा भीतर दोनों ही तरह से देख सकते हैं।

ध्यान की योग पद्धति उन लोगों के लिए है जो अल्पज्ञ हैं। योग में ध्यान का अभ्यास करने वाले को इन्द्रियों को नियन्त्रित करना होता है (*योग इन्द्रियसंयम:*)। हमारी इन्द्रियाँ अत्यन्त चलायमान हैं। मनुष्य को विभिन्न आसनों के अभ्यास द्वारा मन तथा इन्द्रियों को वश में करना होता है जिससे हृदय के भीतर वह विष्णु के स्वरूप में अपने ध्यान को एकाग्र कर सके। यह योग पद्धति उन लोगों के लिए संस्तुत की जाती है जो देहात्मबोध में बुरी तरह लीन रहते हैं। किन्तु भक्त अधिक बढ़े-चढ़े होते हैं, अतएव उन्हें अपनी इन्द्रियों को वश में करने की आवश्यकता नहीं पड़ती। भक्ति में लगकर वे पहले से अपनी इन्द्रियों को वश में किये रहते हैं।

उदाहरणार्थ, यदि कोई व्यक्ति अर्चाविग्रह की पूजा करने, मन्दिर को स्वच्छ रखने, अर्चाविग्रह का शृंगार करने, अर्चाविग्रह के लिए रसोई बनाने आदि जैसे कार्यों में लगा रहता है तो उसकी इन्द्रियाँ पहले से परब्रह्म की सेवा में लगी रहती हैं, अत: उनके विचलित होने का अवसर ही कहाँ रहता है? *हृषीकेण हृषीकेशसेवनं भक्तिरुच्यते*—भक्ति का इतना ही अर्थ है कि अपनी इन्द्रियों (*हृषीक*) को हम इन्द्रियों के स्वामी (हृषीकेश) की सेवा में लगाएँ। इस समय आपकी इन्द्रियाँ इन्द्रिय-तृप्ति में लगी हुई

हैं। मैं ऐसा इसलिए सोच रहा हूँ, क्योंकि मैं यह शरीर हूँ, अतः मुझे अपनी इन्द्रियों को तुष्ट करना चाहिए। किन्तु तथ्य तो यह है कि यह जीवन की कलुषित अवस्था है। जब मनुष्य इस ज्ञान को प्राप्त होता है कि वह यह शरीर नहीं, अपितु आत्मा है, ईश्वर का अंश है तब वह जान पाता है कि उसकी आध्यात्मिक इन्द्रियाँ परम आध्यात्मिक व्यक्ति की सेवा में लगनी चाहिए। इस तरह वह *मुक्ति* को प्राप्त होता है।

मनुष्य को मुक्ति तब मिलती है जब वह यह मिथ्याविचार त्याग देता है कि शरीर ही आत्मा है और जब वह भगवान् की सेवा करने के वास्तविक पद को प्राप्त करता है (*मुक्तिर्हित्वान्यथा रूपं स्वरूपेण व्यवस्थितिः*—भागवत २.१०.६)। जब हम बद्ध होते हैं तो हम अपनी स्वाभाविक स्थिति को छोड़ देते हैं—इस स्थिति को चैतन्य महाप्रभु ने कृष्ण की नित्यसेवा बतलाया है (*जीवेर स्वरूप हय—कृष्णेर 'नित्य-दास'*)। किन्तु ज्योंही हम भगवान् की सेवा में लग जाते हैं तो हम तुरन्त ही मुक्त बन जाते हैं। तब किसी प्रारम्भिक प्रक्रिया से होकर गुजरने की आवश्यकता नहीं रह जाती। भगवान् की सेवा में अपनी इन्द्रियों को लगाना ही इसका प्रमाण है कि वह मुक्त हो गया है।

यह भक्ति हरएक के लिए सुलभ है (*समं चरन्तम्*)। *भगवद्गीता* में अर्जुन से कृष्ण यह नहीं कहते "केवल तुम मेरे पास आओ और मुक्त बनो।" ईश्वर तो हर एक के लिए सुलभ हैं। जब वे यह कहते हैं—*सर्वधर्मन्परित्यज्य मामेकं शरणं व्रज*—तो वे न केवल अर्जुन से कहते हैं, अपितु हरएक से कहते हैं। अर्जुन मूल लक्ष्य थे, किन्तु *भगवद्गीता* तो हरएक के लिए, सारे मानवों के लिए कही गई थी। इसलिए मनुष्य को इसका लाभ उठाना चाहिए।

कृष्ण की निष्पक्षता की उपमा सूर्य से दी जाती है। सूर्य यह विचार नहीं करता, "यह निर्धन है, यह नीच जाति का है और यह सूकर है। इसलिए मैं अपना प्रकाश इन्हें नहीं बाँटूँगा।" नहीं, सूर्य सबों के प्रति समभाव रखता है और हरएक को इसका लाभ उठाना है। सूर्य का प्रकाश उपलब्ध रहता है, किन्तु हम दरवाजे बन्द कर दें और अँधेरे में रहें तो यह हमारे मन की बात हुई। इसी तरह, कृष्ण सर्वत्र हैं, वे हर एक

के लिए हैं और ज्योंही हम उनकी शरण में जाते हैं कृष्ण हमें अंगीकार कर लेते हैं। *समं चरन्तम्*। इसमें कोई रोक-टोक नहीं है। लोग उच्च तथा निम्न श्रेणी में अन्तर करते हैं, किन्तु कृष्ण कहते हैं—*मां हि पार्थ व्यपाश्रित्य येऽपि स्युः पापयोनयः* (*भगवद्गीता* ९.३२)—कोई भले ही निम्न जाति का क्यों न हो, इससे कोई अन्तर नहीं पड़ता। यदि वह मेरी शरण में आता है तो वह भगवद्धाम जाने के भी योग्य होता है।

इन्हीं कृष्ण का वर्णन कुन्तीदेवी ने नित्यकाल के रूप में किया है। हर कार्य काल के अन्तर्गत घटित होता है, किन्तु भूत, वर्तमान तथा भविष्य की हमारी काल-गणनाएँ सापेक्ष हैं। एक छोटे से कीड़े द्वारा भूत, वर्तमान तथा भविष्य की माप हमारी माप से भिन्न होती है। इसी तरह, इस ब्रह्माण्ड के मुख्य स्रष्टजीव ब्रह्मा का भूत, वर्तमान तथा भविष्य हमारे कालों से भिन्न होता है। इसलिए वह नित्य हैं। हमारे लिए भूत, वर्तमान तथा भविष्य इसलिए होते हैं, क्योंकि हम एक शरीर बदल कर दूसरा शरीर धारण करते हैं। इस समय जो शरीर हमारा है उस पर तिथि पड़ी है। मैं एक निश्चित तिथि को उत्पन्न हुआ था और अब यह शरीर कुछ दिन रहेगा। यह बढ़ेगा, फिर बूढ़ा होगा और तब समाप्त हो जायेगा और मुझे अन्य शरीर धारण करना होगा। जब मेरे इस शरीर के भूत, वर्तमान तथा भविष्य समाप्त हो जावेंगे तो मैं दूसरा शरीर धारण करूँगा और तब पुनः मेरा भूत, वर्तमान तथा भविष्य चालू होगा। किन्तु कृष्ण के लिए भूत, वर्तमान या भविष्य नहीं होता क्योंकि वे अपना शरीर नहीं बदलते। हममें तथा कृष्ण में यही अन्तर है।

कृष्ण की नित्य स्थिति *भगवद्गीता* में प्रकट हुई है। कृष्ण ने अर्जुन से कहा, "करोड़ों वर्ष पूर्व भूत काल में मैंने यह *भगवद्गीता* का दर्शन सूर्यदेव से कहा था।" अर्जुन को इस पर विश्वास नहीं हो रहा था। वैसे अर्जुन को हर बात का पता था, किन्तु हमें शिक्षा देने के लिए उन्होंने कृष्ण से कहा, "कृष्ण! हम समकालिक हैं और चूँकि हम एक तरह से एक ही समय उत्पन्न हुए थे, अतः मैं कैसे विश्वास करूँ कि बहुत काल पूर्व आपने यह दर्शन सूर्यदेव से कहा था?" तब कृष्ण ने उत्तर दिया, "हे अर्जुन! तब तुम भी थे किन्तु तुम भूल चुके हो जबकि

मैं इसे भूला नहीं हूँ। यही अन्तर है।'' भूत, वर्तमान तथा भविष्य तो उनके लिए हैं जो भुलक्कड हैं, किन्तु जो भूलता नहीं, जो शाश्वत जीवित है, उसके लिए भूत, वर्तमान या भविष्य नहीं होते।

इसीलिए कुन्ती ने कृष्ण को शाश्वत कहा है (*मन्ये त्वां कालम्*)। चूँकि वे शाश्वत हैं अतएव वे पूर्ण नियन्ता (*ईशानम्*) हैं। कृष्ण के असामान्य आचरण से कुन्ती समझ सकीं कि कृष्ण शाश्वत और परम नियन्ता हैं। न तो उनका आदि है, न अन्त (*अनादि-निधनम्*) अतएव वे *विभु* हैं, परम या सर्वोच्च हैं।

हम *अणु* हैं और कृष्ण *विभु* हैं। हम कृष्ण के अंश हैं, अतएव कृष्ण अणु तथा विभु दोनों हैं किन्तु हम केवल अणु हैं। *विभु* को सबकुछ समाहित करनेवाला होना चाहिए। यदि किसी के पास बड़ा झोला हो तो वह कई चीजें रख सकता है, किन्तु छोटे झोले में ऐसा नहीं कर सकता। चूँकि कृष्ण विभु हैं—सबसे बड़े अतएव वे हरवस्तु को, यहाँ तक कि भूत, वर्तमान तथा भावी काल को अपने में समाहित करने वाले हैं और वे सर्वव्यापी तथा सर्वत्र उपस्थित रहते हैं।

पदार्थ कृष्ण के बिना उत्पन्न नहीं हो सकता। नास्तिक विज्ञानी कहते हैं कि जीवन का उदय पदार्थ से है, किन्तु यह सब बकवास है। आत्मा परा शक्ति है और पदार्थ अपरा शक्ति। पदार्थ तभी उत्पन्न होता है जब परा शक्ति उपस्थित हो। उदाहरणार्थ, २००-३०० वर्ष पूर्व अमरीका की भूमि विकसित नहीं थी, किन्तु यूरप से कुछ श्रेष्ठ जीव यहाँ आये तो अब अमरीका अत्यधिक विकसित है। अफ्रीका, आस्ट्रेलिया तथा अन्य कई स्थानों में अब भी भूमि रिक्त है—वह अविकसित है। यह अविकसित क्यों है? क्योंकि बढ़े-चढ़े लोगों की परा शक्ति ने इसका स्पर्श नहीं किया। ज्योंही परा शक्ति इसका स्पर्श करेगी, त्योंही यह अनेक फैक्टरियों, घरों, सडकों, कारों आदि में विकसित हो उठेगी।

इस उदाहरण से यह बात स्पष्ट होती है कि पदार्थ अपने से विकास नहीं कर सकता। ऐसा सम्भव नहीं। पराशक्ति को इसका स्पर्श करना होगा तभी यह सक्रिय होगा। दूसरा उदाहरण लें। मशीन पदार्थ है—अपरा शक्ति है, इसलिए जब तक कोई चालक आकर मशीन का स्पर्श नहीं

करता, तब तक यह कार्य नहीं करती। भले ही किसी के पास अत्यन्त कीमती कार क्यों न हो जब तक चालक आता नहीं, यह करोड़ों वर्षों में भी कहीं नहीं जा सकती।

अत: यह तो सामान्य समझ की बात है कि पदार्थ स्वतन्त्र रूप से कार्य नहीं कर सकता। यह तब तक कार्य नहीं कर सकता जब तक परा शक्ति, जीव, इसका स्पर्श नहीं करता। तो फिर हम इस निष्कर्ष पर कैसे पहुँच सकते हैं कि जीवन का विकास पदार्थ से होता है? ये धूर्त विज्ञानी ऐसा कहते रहें, किन्तु उन्हें पर्याप्त ज्ञान है नहीं।

सारे ब्रह्माण्ड कृष्ण की उपस्थिति से उत्पन्न हुए हैं जैसा कि *ब्रह्म-संहिता* में उल्लेख हुआ है (*अण्डान्तरस्थ परमाणुचयान्तरस्थम्*)। विज्ञानी जन अब परमाणुओं का अध्ययन कर रहे हैं और यह ज्ञात कर रहे हैं कि इलेक्ट्रान, प्रोटान तथा अन्य कण अनेकानेक विधियों से क्रिया करते हैं। ये सारे कण सक्रिय क्यों हैं? क्योंकि उनमें कृष्ण उपस्थित हैं। यही असली वैज्ञानिक ज्ञान है।

मनुष्य को चाहिए कि कृष्ण को वैज्ञानिक ढंग से समझे। कृष्ण के लिए भूत, वर्तमान तथा भविष्य नहीं होते। वे नित्यकाल हैं जिसका न आदि है, न अन्त और वे हर एक के लिए समभाव हैं। कृष्ण को देखने और कृष्ण को समझने के लिए हमें अपने को तैयार करना होगा। कृष्णभावनामृत का यही उद्देश्य है।

१२. भ्रामक लीलाएँ

न वेद कश्चिद् भगवंश्चिकीर्षितं
तवेहमानस्य नृणां विडम्बनम्।
न यस्य कश्चिद्दयितोऽस्ति कर्हिचिद्
द्वेष्यश्च यस्मिन् विषमा मतिर्नृणाम्॥

हे भगवान्! आपकी दिव्य लीलाओं को कोई नहीं समझ सकता, क्योंकि वे मानवीय प्रतीत होती हैं और अतीव भ्रामक हैं। आपका न तो कोई कृपापात्र है, न ही कोई द्वेषभाजन (अप्रिय) है। लोगों की यह कोरी कल्पना है कि आप पक्षपात करते हैं।

—(*श्रीमद्भागवत १.८.२९*)

पतितात्माओं पर भगवान् समान रूप से दयालु हैं। वे किसी से शत्रुता नहीं रखते। भगवान् को मनुष्य समझने की धारणा ही भ्रामक है। उनकी लीलाएँ मनुष्य के ही सदृश प्रतीत होती हैं, किन्तु होती हैं दिव्य तथा भौतिक कल्मष से सर्वथा रहित। निस्सन्देह वे अपने भक्तों के पक्षधर माने जाते हैं लेकिन वे कभी भी पक्ष नहीं लेते जिस प्रकार सूर्य किरणों से पत्थर भी बहुमूल्य बन जाता है जबकि अन्धा व्यक्ति सूर्य के प्रकाश में होकर भी उसे देख नहीं पाता। अन्धकार तथा प्रकाश दो विपरीत धारणाएँ हैं, लेकिन इसका अर्थ यह नहीं होता कि सूर्य पक्षपातपूर्वक किरणें बिखेरता है। सूर्य की किरणें सभी के लिए खुली हैं, लेकिन ग्राहकों की क्षमताएँ भिन्न भिन्न हैं। मूर्ख लोग सोचते हैं कि भगवद्भक्ति तो विशेष कृपा-प्राप्ति के लिए की जाने वाली चाटुकारिता है। वस्तुतः भगवान् की प्रेमा भक्ति में लगे भक्त शुद्ध व्यापारी नहीं हैं। व्यापारी वर्ग धन के विनिमय में सेवा करता है। लेकिन शुद्ध भक्त ऐसे विनिमय के लिए सेवा नहीं करता।

इसीलिए भगवान् की कृपा का द्वार उसके लिए सदा खुला रहता है। आर्त तथा गरजमन्द, जिज्ञासु या विचारक ही भगवान् से किसी लाभ-सिद्धि के लिए क्षणिक सम्बन्ध स्थापित करते हैं। कार्य सिद्धि के बाद भगवान् से उनका नाता टूट जाता है। आर्त यदि तनिक भी पवित्र होता है तो वह अपने छुटकारे के लिए भगवान् से प्रार्थना करता है। लेकिन जैसे ही उसके कष्ट दूर हो जाते हैं वह तुरन्त ही भगवान् से अपना सम्बन्ध-विच्छेद कर लेता है। यद्यपि भगवान् की कृपा का द्वार उसके लिए खुला रहता है, किन्तु वह उससे कतराता है। शुद्ध तथा अशुद्ध भक्त का यही अन्तर है। जो लोग भगवान् की सेवा के विरुद्ध रहते हैं वे निकृष्ट अन्धकार में माने जाते हैं। वे आवश्यकता पड़ने पर भगवान् से प्रार्थना करते हैं। वे कृपा के आंशिक भाजन हैं और जो भगवान् की सेवा में निरन्तर लगे रहते हैं वे भगवान् की कृपा के पूर्ण भाजन हैं। भगवान् की कृपा कृपापात्र (भाजन) पर निर्भर करती है। यह परम कृपालु भगवान् पर निर्भर नहीं करती।

जब भगवान् अपनी पूर्ण कृपामयी शक्ति द्वारा इस जगत में अवतरित होते हैं तो वे मनुष्य की भाँति क्रीडा करते हैं। अतएव ऐसा प्रतीत होता है कि वे अपने भक्तों पर ही सदय हैं, किन्तु यह यथार्थ नहीं है। ऐसे पक्षपात की प्रतीति के बावजूद उनकी कृपा समान रूप से वितरित रहती हैं। कुरुक्षेत्र के युद्धस्थल में भगवान् के समक्ष जितने भी व्यक्ति युद्ध में मरे, उन सबको, पात्रता का विचार किये बिना ही, मुक्ति मिल गई क्योंकि भगवान् के समक्ष मरने वाले सभी कर्मफलों से शुद्ध हो जाते हैं और मरने वाले को परम धाम में कहीं न कहीं स्थान मिलता है। यदि मनुष्य सूर्य-किरणों के समक्ष बैठे तो उसे निश्चित रूप से उष्मा तथा पराबैंगनी किरणों का लाभ होगा। निष्कर्ष यह निकला कि भगवान् कभी पक्षपात नहीं करते। यह सोचना गलत होगा कि वे पक्षपात करते हैं।

भगवद्गीता में (४.८) भगवान् कहते हैं—

परित्राणाय साधूनां विनाशाय च दुष्कृताम्।
धर्म संस्थापनार्थाय सम्भवामि युगे युगे॥

"भक्तों का उद्धार करने, दुष्टों का विनाश करने तथा धर्म की फिर से स्थापना करने के लिए मैं हरयुग में प्रकट होता हूँ।"

जब ईश्वर अवतार लेता है तो उसके दो मिशन होते हैं—असुरों का विनाश तथा साधुओं अर्थात् भगवद्भक्तों का उद्धार। *साधूनाम्* शब्द भक्तों

का द्योतक है। सांसारिक ईमानदारी या बेईमानी, नैतिकता अथवा अनैतिकता से इसका कोई सरोकार नहीं। भौतिक कार्यकलापों से भी इसका लेना-देना नहीं। कभी कभी हम यह सोच सकते हैं कि *साधु* शब्द भौतिक दृष्टि से अच्छे या नैतिकवान व्यक्ति का सूचक है जो दिव्य पद पर होता है। इसलिए साधु एक भक्त है क्योंकि जो व्यक्ति भक्ति करता है वह भौतिक गुणों से परे होता है—*स गुणान् समतीत्यैतान्*।

भगवान् भक्तों का उद्धार करने आते हैं (*परित्राणाय साधूनाम्*), किन्तु *भगवद्गीता* में यह स्पष्ट कहा गया है कि भक्त भौतिक गुणों को पार कर जाता है (*स गुणान् समतीतैत्यान्*)। भक्त दिव्य पद पर होता है, क्योंकि वह सतो, रजो तथा तमो—इन तीन गुणों के वश में नहीं रहता। यदि साधु का पहले से ही उद्धार हुआ रहता है तो फिर उसके उद्धार की क्या आवश्यकता? यह प्रश्न उठ सकता है। भगवान् भक्त का उद्धार करने आते हैं, किन्तु भक्त का तो पहले से उद्धार हुआ रहता है। इसलिए *विडम्बनम्* शब्द का इस श्लोक में प्रयोग हुआ है जो विपर्यय प्रतीत होता है।

इस विपर्यय का उत्तर है कि साधु या भक्त को उद्धार की आवश्यकता नहीं रहती क्योंकि वह भगवान् को आमने-सामने देखने के लिए अतीव उत्सुक रहता है। कृष्ण उसे पदार्थ के पाश से छुडाने नहीं आते क्योंकि उससे वह पहले से मुक्त रहता है। वे आन्तरिक इच्छा को तुष्ट करने आते हैं। जिस तरह भक्त सभी तरह से भगवान् को तुष्ट करना चाहता है भगवान् भक्त को उससे भी अधिक तुष्ट करना चाहते है। अतः यदि भौतिक जगत में प्रेम-व्यापार में आदान-प्रदान चलता है तो आध्यात्मिक जगत में इसे न जाने कितना उन्नत होना चाहिए! एक श्लोक है जिसमें भगवान् कहते हैं, "साधु मेरा हृदय है और मैं भी साधु का हृदय हूँ।" साधु सदैव कृष्ण का चिन्तन करता है और कृष्ण सदैव साधु अर्थात् अपने भक्त का चिन्तन करते हैं।

इस भौतिक जगत में भगवान् का प्राकट्य तथा तिरोधान *चिकीर्षितम्* अर्थात् लीला कहलाते हैं। यह कृष्ण की लीला है कि वे आते हैं। निस्सन्देह जब भगवान् आते हैं तो उन्हें कुछ कार्य सम्पन्न करने होते हैं—साधुओं की रक्षा और साधुओं के विरोधियों का संहार करना होता है। किन्तु यो दोनों ही कार्य उनकी लीलाएँ हैं।

भगवान् ईर्ष्यालु नहीं हैं। कभी कभी हम प्रेमवश अपने बच्चों को चपतियाते हैं। इसी तरह जब कृष्ण किसी असुर का बध करते हैं तो यह बध

भौतिक ईर्ष्या-द्वेष के स्तर पर नहीं होता अपितु स्नेह के स्तर पर होता है। इसीलिए शास्त्रों में उल्लेख आता है कि भगवान् द्वारा बध किये गये असुर भी शीघ्र मुक्ति पाते हैं। उदाहरणार्थ, पूतना एक डाइन थी जो कृष्ण को मार डालना चाहती थी। जब कृष्ण छोटे बालक की लीला सम्पन्न कर रहे थे तो उसने अपने स्तन के अग्रभाग में विष पोता और अपना दूध पिलाने कृष्ण के घर पहुँची। उसने सोचा, "जब कृष्ण मेरे चूचुक चूसेगा तो वह तुरन्त मर जावेगा।" किन्तु ऐसा सम्भव नहीं था। भला कृष्ण को कौन मार सकता है? उल्टे वह स्वयं मार डाली गई, क्योंकि कृष्ण ने उसके चूचुक चूस कर उसके प्राण निकाल लिये। किन्तु परिणाम क्या हुआ? कृष्ण ने सोचा, "यह राक्षसी मुझे मारने आई है, किन्तु हो न हो, मैंने इसके स्तन का दूध चूसा है, इसलिए यह मेरी माता हुई।" इस तरह पूतना ने आध्यत्मिक जगत में कृष्ण की माता का पद प्राप्त किया। इसकी व्याख्या *श्रीमद्भागवत* में हुई है जहाँ विदुर से उद्धव कहते हैं कि कृष्ण इतने दयालु हैं कि जो डाइन उन्हें विष देकर मार डालना चाहती थी उसे भी उन्होंने अपनी माता के रूप में स्वीकार किया। उद्धव ने कहा, "चूँकि कृष्ण इतने दयालु ईश्वर हैं, अतएव उनके अतिरिक्त मैं किस अन्य की पूजा करूँ?"

कुन्तीदेवी कहती हैं—*न यस्य कश्चिद् दयितः*। *दयित* का अर्थ है पक्षपात। कृष्ण किसी का पक्षपात नहीं करते। *द्वेष्यश्च*—और उनका कोई शत्रु नहीं। हम मित्र से तो कुछ वर या लाभ की कामना करते हैं, किन्तु शत्रु से हानि की उम्मीद करते हैं। पर कृष्ण इतने पूर्ण हैं कि न तो कोई उनको हानि पहुँचा सकता है, न उन्हें कोई वस्तु दे सकता है। अतएव उनका मित्र या शत्रु कौन हो सकता है? *न यस्य कश्चिद् दयितोऽस्ति*—उन्हें किसी की कृपा नहीं चाहिए। वे पूर्ण हैं। हो सकता है कि मैं अत्यन्त गरीब होऊँ, अतएव अपने मित्र से कुछ कृपा की आशा करूँ, किन्तु यह इसलिए है क्योंकि मैं अपूर्ण हूँ। चूँकि मैं पूर्ण नहीं हूँ, चूँकि मैं अनेक प्रकार से अपूर्ण हूँ, मैं सदैव जरूरतमन्द हूँ इसलिए सदैव कुछ मित्र बनाना चाहता हूँ। इसी तरह मैं शत्रु से घृणा भी करता हूँ। किन्तु कृष्ण परम हैं, इसलिए कोई न तो उन्हें हानि पहुँचा सकता है न ही कोई उन्हें कुछ दे सकता है।

तो फिर हम किस हेतु कृष्ण को अनेक सुविधाएँ देकर, उन्हें वस्त्र पहना कर, शृंगार करके तथा उत्तम भोजन अर्पित करके मन्दिर में उनकी पूजा करते हैं? हमें समझ लेना चाहिए कि कृष्ण को हमारे द्वारा अर्पित

सुन्दर वस्त्र, फूल या फल की आवश्यकता नहीं है, किन्तु यदि हम ऐसी भेंटें कृष्ण को चढावें तो इससे हमें लाभ पहुँचेगा। इस तरह यह तो कृष्ण की कृपा है कि वे ऐसी भेंटें स्वीकार करते हैं। यदि कोई शृंगार करता है तो दर्पण में उसका प्रतिबिम्ब सजा हुआ प्रतीत होगा। इसी तरह कृष्ण के प्रतिबिम्ब होने से यदि हम कृष्ण को अलंकृत करते हैं तो हम भी अलंकृत होंगे। बाइबिल में कहा गया है कि मनुष्य को ईश्वर के प्रतिबिम्ब से बनाया गया। इसका अर्थ है कि हम ईशवर की परछाईं या प्रतिबिम्ब हैं। ऐसा नहीं है कि हम अपने स्वरूप के अनुरूप ईश्वर के किसी रूप की कल्पना करते हैं। जो लोग सगुणवाद के मायावाद दर्शन के अनुयायी हैं वे कहते हैं, "परब्रह्म निर्विशेष है किन्तु हम पुरुष अपनी ही तरह परब्रह्म को पुरुष होने की कल्पना करते हैं।" यह भूल है और तथ्य तो यह है कि सत्य इसके विपरीत है। हमारे दो हाथ, दो पाँव तथा एक सिर होता है, क्योंकि स्वयं ईश्वर में ये ही स्वरूप पाये जाते हैं। हमारा साकार स्वरूप है, क्योंकि हम ईश्वर के प्रतिबिम्ब हैं। इतना ही नहीं, हमें यह भी समझना होगा कि यदि आदि पुरुष को लाभ पहुँचता है तो प्रतिबिम्ब को भी लाभ पहुँचता है। अतः यदि हम कृष्ण को अलंकृत करते हैं तो हम भी अलंकृत किये जाएँगे। यदि हम कृष्ण को उत्तम भोजन भेंट चढ़ाते हैं तो हम भी उसी भोजन को खाएँगे। जो लोग कृष्णभावनामृत के मन्दिरों से बाहर रहते हैं वे कल्पना भी नहीं कर सकते कि हम कृष्ण को कितना स्वादिष्ट भोजन अर्पित करते हैं और चूँकि यह भोजन कृष्ण को अर्पित किया जाता है, अतएव हमें इसको खाने का भी अवसर प्राप्त होता है। इसलिए हमें कृष्ण को सभी प्रकार से तुष्ट करने का प्रयास करना चाहिए तभी हम सभी तरह से तुष्ट हो सकेंगे।

कृष्ण को हमारी सेवा की आवश्यकता नहीं पड़ती, किन्तु वे कृपापूर्वक इसे स्वीकार करते हैं। जब कृष्ण हमसे शरण आने के लिए कहते हैं (*सर्वधर्मान्परित्यज्य मामेकं शरणं व्रज*) तो इसका अर्थ यह नहीं रहता कि उन्हें सेवकों की कमी है और यदि हम उनकी शरण में जाएंगे तो उन्हें लाभ पहुँचेगा। कृष्ण इच्छामात्र से करोड़ों सेवक उत्पन्न कर सकते हैं। अतएव बात ऐसी नहीं है। किन्तु, यदि हम कृष्ण की शरण में जायँ तो हमारी रक्षा हो सकेगी क्योंकि कृष्ण कहते हैं—*अहं त्वां सर्वपापेभ्यो मोक्षयिष्यामि*—मैं तुम्हारे सारे पापों से तुम्हें मुक्त कर दूँगा। हम इस भौतिक जगत में बिना किसी आश्रय के कष्ट भोग रहे हैं। यहाँ तक कि हम

लोगों को सड़कों पर बिना उद्देश्य के मटरगशती करते देखते हैं। प्रातःकाल जब हम समुद्र के किनारे घूमते हुए निकलते हैं तो हम ऐसे अनेक नौजवानों को वहाँ सोते या मटरगशती करते देखते हैं जो निरुद्देश्य, परेशान तथा विवेकरहित हैं। किन्तु यदि हम कृष्ण की शरण ग्रहण करें तो जान सकेंगे कि हमें शरण मिल गई। तब न तो कोई ऊहापोह रहेगा, न हताशा। मुझे नित्य ही तमाम पत्र मिलते रहते हैं जिनमें यह व्यक्त हुआ रहता है कि किस तरह लोगों को कृष्णभावनामृत में आशा मिली है। इसलिए यह यथार्थ नहीं है कि कृष्ण यहाँ पर कुछ सेवक एकत्र करने के लिए अवतरित हुए। वे तो हमारे लाभ के लिए अवतरित हुए थे।

किन्तु दुर्भाग्यवश हम कृष्ण के सेवक न बनकर अन्य अनेक वस्तुओं के सेवक बन रहे हैं। हम अपनी इन्द्रियों तथा काम, क्रोध, लोभ तथा मोह जैसे इन्द्रियों-कार्यों के सेवक बने हुए हैं। वस्तुतः सारा जगत इसी तरह से कर रहा है। किन्तु यदि हम अपनी इन्द्रियों को भगवान् की सेवा में लगायें तो हम इन इन्द्रियों के सेवक नहीं अपितु स्वामी बन सकेंगे। तब हम अपनी इन्द्रियों को कृष्ण के अतिरिक्त अन्य किसी की सेवा में नहीं लगने देंगे। तभी हमारी रक्षा हो सकेगी।

यहाँ पर कुन्तीदेवी कहती हैं, "इस भौतिक जगत में आपका प्राकट्य भ्रामक है।" हम सोचते हैं कि कृष्ण का कोई मिशन होगा, कुछ प्रयोजन होगा इसीलिए वे प्रकट हुए। किन्तु नहीं। वे तो लीलाओं के लिए प्रकट होते हैं। उदाहरणार्थ, कभी कभी गवर्नर कारागार का निरीक्षण करने जाता है। उसे कारागार के सुपरिंटेण्डेन्ट से रिपोर्ट मिलती रहती है, अतएव उसे वहाँ जाने की कोई आवश्यकता नहीं है फिर भी वह कभी कभी यह सोचकर जाता है, "चलो, देखें कि वे लोग कैसे हैं।" इसे लीला कहा जा सकता है, क्योंकि वह स्वेच्छा से जाता है। ऐसा नहीं है कि वह कारागार के किसी नियम के वश में है। किन्तु इतने पर भी कोई मूर्ख बन्दी यह सोच सकता है, "अरे, गवर्नर भी जेल में है। अतः हम बराबर हैं। मैं भी गवर्नर हूँ।" धूर्त लोग ऐसा ही सोचते हैं। वे कहते हैं, "चूँकि कृष्ण अवतार के रूप में आये हैं, इसलिए मैं भी अवतार हूँ।" इसीलिए यहाँ पर कहा गया है—*न वेद कश्चिद् भगवंश्चिकीर्षितम्*—आपके प्राकट्य तथा तिरोधान के प्रयोजन को कोई नहीं जानता। *तवेहमानस्य नृणां विडम्बनम्*—आपकी लीलाएँ भ्रम या मोह में डालने वाली हैं। उनके असली प्रयोजन को कोई नहीं समझ सकता।

भगवान् की लीलाओं का असली प्रयोजन उनकी स्वतन्त्र इच्छा है।

वे सोचते हैं, "चलो, देखा जाय।" असुरों को मारने के लिए उनके आने की आवश्यकता नहीं रहती। भौतिक प्रकृति में उनके इतने प्रतिनिधि हैं जो उन असुरों का बध कर सकते हैं। उदाहरणार्थ, प्रबल वायु से वे हजारों असुरों को क्षणभर में मार सकते हैं। न ही भक्तों को सुरक्षा प्रदान करने के लिए उनको आने की आवश्यकता है क्योंकि वे हर काम इच्छा मात्र से कर सकते हैं। किन्तु वे लीलाओं का आनन्द उठाने के लिए अवतरित होते हैं—"चलो, देखा जाय।"

कभी कभी कृष्ण की इच्छा होती है कि युद्ध लीला का आनन्द उठाया जाय। कृष्ण में भी युद्ध करने की इच्छा होती है, अन्यथा हमें यह इच्छा कहाँ से मिली होती? चूँकि हम कृष्ण के अंश हैं, अतएव हमारे भीतर कृष्ण के सारे गुणों की अल्प मात्रा पाई जाती है। हम कृष्ण के प्रतिदर्श (नमूने) हैं। हममें युद्ध करने की इच्छा कहाँ से आती है? यह कृष्ण में पाई जाती है। अत: जिस तरह कभी कभी राजा कुश्ती लड़ने के लिए पहलवान रखता है उस तरह कृष्ण जीवों को युद्ध करने के लिए आयोजित करते हैं। पहलवान को राजा के साथ कुश्ती लड़ने के लिए पारिश्रमिक मिलता है। वह राजा का शत्रु नहीं होता प्रत्युत वह राजा को नकली युद्ध का आनन्द प्रदान करता है। किन्तु यदि कृष्ण युद्ध करना चाहें तो उनके साथ कौन युद्ध करेगा? कोई भी सामान्य व्यक्ति नहीं कर सकता। यदि राजा नकली युद्ध का अभ्यास करना चाहता है तो वह अत्यन्त कुशल पहलवान को लगाता है। इसी तरह, कृष्ण किसी सामान्य व्यक्ति से युद्ध नहीं करते। वे अपने किसी महान भक्त से युद्ध करते हैं। चूँकि कृष्ण युद्ध करना चाहते हैं इसलिए उनका कोई भक्त उनसे लड़ने के लिए उनके शत्रु के रूप में इस जगत में आता है। उदाहरणार्थ, हिरण्यकशिपु तथा हिरण्याक्ष को मारने के लिए भगवान् अवतरित हुए। क्या हम यह मान लें कि ये सामान्य जीव थे? नहीं, वे जय-विजय नामक महान भक्त थे जो इस जगत में इसलिए आये, क्योंकि कृष्ण युद्ध करना चाहते थे। वैकुण्ठलोक में युद्ध करने की गुंजाइश नहीं है, क्योंकि वहाँ पर हर व्यक्ति कृष्ण की सेवा में लगा हुआ है। तो फिर वे किससे युद्ध करें? इसीलिए वे किसी भक्त को शत्रु के वेश में भेजते हैं जो उनसे लड़ने के लिए इस भौतिक जगत में आता है। साथ ही, भगवान् हमें यह शिक्षा देते हैं कि उनका शत्रु बनना लाभप्रद नहीं है, अत: उनके मित्र बन जाना श्रेयस्कर होगा। इसीलिए कुन्तीदेवी कहती हैं—*न वेद कश्चिद्भगवंश्चिकीर्षितम्*—आपके प्राकट्य तथा अन्तर्धान होने का प्रयोजन

कोई नहीं जानता। *तवेहमानस्य नृणां विडम्बनम्*—आप इस जगत में सामान्य मनुष्य के रूप में हैं जो कि भ्रम में डालने वाला है।

चूँकि कृष्ण कभी कभी सामान्य व्यक्ति के रूप में प्रकट होते हैं, अतएव लोगों को उनके कार्यों पर विश्वास नहीं होता। वे उन्हें समझ नहीं पाते। उन्हें आश्चर्य होता है, "भला ईश्वर हम जैसे सामान्य व्यक्ति कैसे हो सकते हैं?" इस तरह यद्यपि कृष्ण कभी कभी सामान्य व्यक्ति की भूमिका निभाते हैं, किन्तु वास्तव में वे सामान्य होते नहीं और जब भी आवश्यकता पड़ती है वे ईश्वर की शक्ति का प्रदर्शन करते हैं। भौमासुर ने सोलह हजार युवतियों का अपहरण कर लिया तो इन युवतियों ने कृष्ण की स्तुति की। इसलिए कृष्ण उस असुर के महल में गये, उस असुर को मारा और सारी युवतियों को छुड़ाया। किन्तु वैदिक प्रणाली के अनुसार यदि कोई अविवाहिता युवती एक रात के लिए भी अपना घर छोड़ती है तो उसके साथ कोई व्यक्ति विवाह नहीं करेगा। इसलिए जब कृष्ण ने युवतियों से कहा कि तुम सभी अपने पिता के घरों को लौट सकती हो तो उन्होंने उत्तर दिया, "यदि हम अपने पिता के घरों में लौटती हैं तो हमारे भाग्य का क्या होगा? हमें कोई नहीं ब्याहेगा, क्योंकि इस व्यक्ति ने हमारा अपहरण किया है।" तब कृष्ण ने पूछा, "तो तुम क्या चाहती हो?" युवतियों ने उत्तर दिया, "हम आपको पति बनाना चाहती हैं।" कृष्ण इतने दयालु हैं कि चट से उन्होंने हाँ कर दी और सबों को अंगीकार किया।

जब कृष्ण इन युवतियों को अपनी राजधानी में ले आये तो ऐसा नहीं हुआ कि सोलह हजार पत्नियों को कृष्ण से मिलने के लिए सोलह हजार रातों तक प्रतीक्षा करनी पड़ी हो। कृष्ण ने अपना विस्तार सोलह हजार रूपों में कर दिया, उन्होंने सोलह हजार महल बनवा दिये और प्रत्येक महल में प्रत्येक पत्नी के साथ वास किया।

यद्यपि इसका वर्णन *श्रीमद्भागवत* में हुआ है, किन्तु ये धूर्त इसे नहीं समझ सकते। उल्टे कृष्ण की आलोचना करते हैं। वे कहते हैं, "वह तो बड़ा कामी था, उसने सोलह हजार युवतियों को ब्याह लिया।" किन्तु यदि वे कामी हैं तो वे असीम रूप से कामी हैं। ईश्वर असीम हैं। सोलह हजार ही क्यों? वे सोलह लाख से विवाह करके भी संतुष्ट नहीं हो सकते थे। ऐसे हैं कृष्ण। हम कृष्ण को कामी य विलासी होने का दोषी नहीं ठहरा सकते। कृष्ण के ऐसे तमाम भक्त हैं और कृष्ण ने उन सबों पर कृपा दिखलाई है। इनमें कुछ कृष्ण को अपना पति बनाना चाहते

हैं कुछ उनको पुत्र बनाना चाहते हैं, कुछ मित्र बनाना चाहते हैं, कुछ अपने खेल का साथी बनाना चाहते हैं। इस तरह ब्रह्माण्ड में करोडों भक्त हैं और कृष्ण को इस सबों को तुष्ट करना होता है। उन्हें इन भक्तों से किसी प्रकार की सहायता की आवश्यकता नहीं रहती, किन्तु ये उनकी सेवा करना चाहते हैं और भगवान् उसका बदला चुकाते हैं। ये सोलह हजार भक्तिनें कृष्ण को पति रूप में चाहती थीं इसलिए कृष्ण ने हाँ कर दी।

इस तरह कृष्ण कभी कभी सामान्य व्यक्ति की तरह भूमिका निभाते हैं, किन्तु ईश्वर के रूप में उन्होंने सोलह हजार रूपों में अपना विस्तार किया। एक बार महर्षि नारद कृष्ण तथा उनकी पत्नियों से भेंट करने गये। उन्होंने सोचा, "कृष्ण ने सोलह हजार स्त्रियों से विवाह किया है। चलो देखें कि वे उनके साथ किस तरह निपटते हैं?" तब उन्होंने देखा कि कृष्ण सोलहों हजार महलों में रह रहे हैं। एक महल में वे अपनी पत्नी से बातें कर रहे थे, दूसरे में वे अपने बच्चों के साथ खेल रहे थे, अन्य में अपने पुत्रों तथा पुत्रियों के विवाह की तैयारी कर रहे थे। इस तरह सोलहों हजार महलों में वे विविध लीलाओं में व्यस्त थे। इसी तरह अपने बचपन में कृष्ण सामान्य बालक की तरह खेलते-कूदते रहे। किन्तु जब माता यशोदा ने उनसे मुख खोलने को कहा जिससे वे यह देख सकें कि उन्होंने मिट्टी खाई है कि नहीं तो उन्होंने अपने मुख के भीतर यशोदा को सारे ब्रह्माण्डों का दर्शन कराया। ऐसे हैं कृष्ण। यद्यपि वे सामान्य मनुष्य की तरह क्रीडा करते हैं, किन्तु अवसर आने पर वे ईश्वर के रूप में अपना स्वभाव दिखलाते हैं। एक अन्य उदाहरण दिया जा रहा है। कृष्ण अर्जुन के सारथी बने, किन्तु जब अर्जुन ने उनका विराट रूप देखना चाहा तो उसे उन्होंने करोड़ों हाथों, पाँवों, हथियारों से युक्त अपना विराट रूप दिखला दिया। ऐसे कृष्ण हैं। कृष्ण पूर्णतया स्वतन्त्र हैं। उनका न कोई शत्रु है, न मित्र किन्तु अपने मित्रों तथा शत्रु दोनों के लाभ के लिए क्रीडा करते हैं और जब वे इनमें से किसी एक के लिए भी कर्म करते हैं तो परिणाम वही निकलता है। यही कृष्ण का परम स्वभाव है।

१३. विश्वात्मन्

जन्म कर्म च विश्वात्मन्नजस्याकर्तुरात्मनः।
तिर्यङ्नृषिषु, याद:सु तदत्यन्तविडम्बनम्॥

हे विश्वात्मा! यह सचमुच ही चकरा देने वाली बात (विडम्बना) है कि आप निष्क्रिय रहते हुए भी कर्म करते हैं और प्राणरूप तथा अजन्मा होकर भी जन्म लेते हैं। आप पशुओं, मनुष्यों, ऋषिओं तथा जलचरों के मध्य अवतरित होते हैं। सचमुच ही यह चकराने वाली बात है।

—(*श्रीमद्भागवत १.८.३०*)

भगवान् की दिव्य लीलाएँ न केवल चकराने वाली हैं, अपितु विरोधमूलक हैं। दूसरे शब्दों में, वे मनुष्य की सीमित चिन्तनशक्ति के लिए अचिन्त्य हैं। भगवान् सारे संसार में अन्तर्यामी परमात्मा हैं तो भी वे पशुओं में सूकर बनकर, मनुष्यों में राम, कृष्ण आदि के रूप में, ऋषियों में नारायण रूप में तथा जलचरों के बीच मत्स्य रूप में प्रकट होते हैं। इतने पर भी उन्हें अजन्मा कहा जाता है और उन्हें कुछ भी नहीं करना पड़ता। *श्रुतिमन्त्र* में कहा गया है कि परब्रह्म को कुछ नहीं करना होता। कोई भी न तो उनके समान है न उनसे बढ़कर है। उनकी विविध शक्तियाँ हैं और उनका हर काम ज्ञान, शक्ति तथा कर्म द्वारा स्वतः सम्पन्न होता है। ये सारे कथन सिद्ध करते हैं कि भगवान् की लीलाएँ, उनके रूप

तथा उनके कार्यकलाप हमारी सीमित चिन्तन-शक्ति के परे हैं। चूँकि वे कल्पना से परे शक्तिमान हैं अत: उनके विषय में अनुमान लगा पाना कठिन है। इसलिए भगवान् का प्रत्येक काम सामान्य मनुष्य को चकरा देने वाला है। उन्हें वैदिक ज्ञान द्वारा नहीं जाना जा सकता, लेकिन शुद्ध भक्त उन्हें सरलता से समझ सकते हैं, क्योंकि वे सब भगवान् के घनिष्ठ सम्पर्क में रहते हैं। अतएव भक्तगण जानते हैं कि यद्यपि भगवान् पशुओं के बीच प्रकट होते हैं, लेकनि वे न तो पशु हैं, न मनुष्य, न ऋषि, न मछली। वे समस्त परिस्थितियों में शाश्वत परमेश्वर हैं।

कुन्ती कृष्ण को *विश्वात्मन्*—ब्रह्माण्ड की प्राणशक्ति कहकर सम्बोधित करती हैं। प्रत्येक व्यक्ति के शरीर में प्राणशक्ति होती है। यह प्राणशक्ति *आत्मा* है। इसी प्राणशक्ति या आत्मा के कारण सारा शरीर कार्य करता है। इसी तरह परम प्राणशक्ति है। यह परम प्राणशक्ति *कृष्ण* है। इसलिए कृष्ण के जन्म लेने का प्रश्न ही कहाँ उठता है? *भगवद्गीता* में (४.९) भगवान् कहते हैं—

जन्म कर्म च मे दिव्यमेवं यो वेत्ति तत्त्वत:।
त्यक्त्वा देहं पुनर्जन्म नैति मामेति सोऽर्जुन॥

"हे अर्जुन! जो मेरे आविर्भाव तथा कर्मों के दिव्य स्वभाव को जानता है वह इस शरीर को छोड़ने पर इस संसार में पुन: जन्म नहीं लेता अपितु मेरे सनातन धाम को प्राप्त होता है।"

इस श्लोक का *दिव्यम्* शब्द विशेष रूप से यह सूचित करने वाला है कि भगवान् का आविर्भाव तथा उनके कार्यकलाप आध्यात्मिक हैं। अन्यत्र भी *भगवद्गीता* में कहा गया है—*अजोऽपि सन्नव्ययात्मा*। *अज* का अर्थ है "अजन्मा" तथा *अव्ययात्मा* का अर्थ है "जिसका विनाश न हो"। कृष्ण का यही स्वभाव है। उनके दिव्य स्वभाव का अधिक वर्णन कुन्ती द्वारा की गई भगवान् की स्तुतियों में हुआ है।

अपनी प्रार्थना के प्रारम्भ में कुन्तीदेवी ने भगवान् से कहा, "आप भीतर तथा बाहर विद्यमान हैं फिर भी आप अगोचर हैं।" कृष्ण हर एक के हृदय के भीतर हैं (*ईश्वर: सर्वभूतानां हृद्देशेऽर्जुन तिष्ठति; सर्वस्य चाहं*

हृदि सन्निविष्टि:)। निस्सन्देह वे हरवस्तु के भीतर हैं, यहाँ तक कि परमाणु के भी भीतर हैं (*अण्डान्तरस्थ परमाणुचयान्तरस्थम्*)। कृष्ण भीतर हैं और बाहर भी हैं। इस तरह कृष्ण ने अर्जुन को अपना *विश्वरूप* दिखलाया।

श्रीमद्भागवत में कृष्ण के बाह्य शरीर का वर्णन हुआ है। उसमें पर्वतों को भगवान् की अस्थियाँ, महासागरों को भगवान् के विराट शरीर के रोमकूप तथा ब्रह्मलोक को उनकी खोपडी का ऊपरी भाग बतलाया गया है। इस तरह जो लोग ईश्वर को नहीं देख सकते उन्हें भौतिक विराट जगत के रूप में नाना प्रकार से उनका दर्शन करने की सलाह दी गई है।

कुछ लोग ऐसे हैं जो ईश्वर को महान सोचते हैं, किन्तु वे यह नहीं जानते कि ईश्वर कितने महान हैं। जब वे महानता के विषय में सोचते हैं तो वे अत्युच्च पर्वत, आकाश तथा अन्य लोकों के बारे में सोचते हैं। इसीलिए भगवान् का वर्णन ऐसे भौतिक स्वरूपों के रूप में किया गया है जिससे इनके विषय में सोचते हुए भगवान् के विषय में सोचा जा सके। यह भी कृष्णभावनामृत है। यदि कोई यह सोचता है कि यह पर्वत कृष्ण की अस्थि है या कि यह विशाल महासागर कृष्ण की नाभि है तो वह व्यक्ति भी कृष्णभावनाभावित है। इसी तरह वृक्षों तथा लताओं को कृष्ण के रोएँ, ब्रह्मलोक को कृष्ण की खोपडी का ऊपरी भाग या पाताल लोक को कृष्ण के पाँव के तलवे के रूप में सोचा जा सकता है। इस तरह कृष्ण को महानतम से भी महान सोचा जा सकता है (*महतो महीयान्*)।

इसी तरह कृष्ण को लघुतम से भी लघु सोचा जा सकता है। यह भी महानता की एक किस्म है। कृष्ण इस विराट जगत का निर्माण कर सकते हैं और एक छोटे से कीड़े का भी। यह कृष्ण का कौशल है। *अणोरणीयान् महतो महीयान्* (*कठ उपनिषद* १.२.२०)—वे बड़ी से भी बड़ी और छोटी से छोटी वस्तु का सृजन कर सकते हैं। अब मनुष्यों ने ७४७ हवाई जहाज का निर्माण पूरा कर लिया है। यह जहाज अत्यन्त विशाल है। किन्तु क्या वे पतंगे से भी छोटा हवाई जहाज बना सकते हैं? यह सम्भव नहीं है। किन्तु वास्तविक महानता एकांगी नहीं होती।

जो सचमुच ही महान है वह महानतम से भी महान और लघुतम से भी लघु बन सकता है।

किन्तु आधुनिक युग में मनुष्यों ने जिन महान वस्तुओं का निर्माण किया है वे अब भी मनुष्य द्वारा उत्पन्न की गई महानतम वस्तुएँ नहीं हैं। *श्रीमद्भागवत* से हमें पता चलता है कि महान ऋषि कपिल के पिता कर्दम मुनि ने एक विशाल वायुयान या विमान का निर्माण किया था जो विशाल नगरी के सदृश था। इसमें झीलें, बगीचें, सडकें, घर सभी कुछ थे और यह पूरा नगर ब्रह्माण्ड के ऊपर उड़ सकता था। कर्दम मुनि ने उसी विमान में अपनी पत्नी के साथ यात्रा की और उन्हें सारे लोक दिखलाये। वे महान योगी थे और उनकी पत्नी देवहूति महान राजा स्वायंभुव मनु की पुत्री थीं। कर्दममुनि ने उससे विवाह करने की इच्छा प्रकट की तो देवहूति ने अपने पिता से कहा, "हे पिता! मैं इस मुनि के साथ विवाह करना चाहती हूँ।" तब स्वायंभुव मुनि ने अपनी पुत्री को कर्दममुनि के पास लाकर कहा, "यह मेरी पुत्री है। आप इसे पत्नी रूप में स्वीकार करें।" वह राजा की पुत्री थी और अत्यन्त ऐश्वर्यवान थी, किन्तु जब अपने तपस्वी पति के पास आ गई तो उसे इतनी सेवा करनी पड़ी कि वह अत्यन्त दुर्बल हो गई। अत: कर्दममुनि उस पर दयार्द्र हो उठे। उन्होंने सोचा, "यह स्त्री राजा की पुत्री है, किन्तु मेरे संरक्षण में इसे कोई सुपास नहीं मिल रहा। अतएव इसे कुछ सुपास मिलना चाहिए।" इस तरह उन्होंने अपनी पत्नी से पूछा, "तुम्हें किस तरह सुपास मिल सकेगा?" किसी भी स्त्री का स्वभाव होता है कि वह अच्छा घर, अच्छा भोजन, अच्छे वस्त्र, अच्छी सन्तान तथा अच्छा पति चाहती है। ये ही स्त्री की आकांक्षाएँ हैं। इस तरह कर्दममुनि यह सिद्ध करना चाहते थे कि वे अच्छे पति हैं। उन्होंने अपनी योग शक्ति से एक विशाल विमान तैयार किया जिसमें नौकरानियाँ तथा सारे ऐश्वर्य से युक्त एक बड़ा सा घर था। कर्दम मनुष्य मात्र मनुष्य थे, किन्तु योगशक्ति से ऐसे अद्भुत कार्य कर सकते थे।

किन्तु कृष्ण तो योगेश्वर हैं। यदि हमें थोड़ी सी योगशक्ति प्राप्त हो जाती है तो हम महत्वपूर्ण बन जाते हैं, किन्तु कृष्ण तो समस्त योगशक्तियों

के स्वामी हैं। *भगवद्गीता* में कहा गया है कि जहाँ जहाँ योगेश्वर कृष्ण रहते हैं और जहाँ कहीं धनुर्धर पार्थ या अर्जुन होते है वहीं सब कुछ रहता है।

हमें यह सदैव स्मरण रखना चाहिए कि यदि हम सदैव कृष्ण के साथ रहेंगे तो हमें सारी सिद्धि प्राप्त हो सकेगी। और इस युग में तो विशेष रूप से कृष्ण अपने पवित्रनाम के रूप में अवतरित हुए हैं (*कलिकाले नाम-रूपे कृष्ण-अवतार, श्रीचैतन्य-चरितामृत*, आदि १७.२२)। इसीलिए चैतन्य महाप्रभु कहते हैं—

नाम्नामकारी बहुधा निजसर्वशक्ति
स्तत्रार्पिता नियमित: स्मरणे न काल:

"हे प्रभु! आप इतने दयालु हैं कि अपने पवित्र नाम के रूप में मुझे अपनी संगति प्रदान कर रहे हैं और इस पवित्र नाम का कीर्तन किसी भी स्थिति में किया जा सकता है।" हरे कृष्ण कीर्तन करने के लिए कोई नियम नहीं है। कहीं भी हरे कृष्ण कीर्तन किया जा सकता है। उदाहरणार्थ, बच्चे भी कीर्तन करते और नाचते हैं। यह कठिन कार्य नहीं है। हमारे छात्र घूमते समय अपनी जपमाला में जप करते हैं। इसमें हानि कहाँ है? किन्तु लाभ बहुत है क्योंकि कीर्तन करने से हम साक्षात् कृष्ण का सान्निध्य प्राप्त करते हैं। मान लीजिये कि हमें राष्ट्रपति की संगति करनी पड़े। तब हम कितना गर्वित अनुभव करेंगे— "ओह! मैं राष्ट्रपति के साथ हूँ।" तो फिर यदि हमें परम राष्ट्रपति से संगति करनी हो तो क्या हम अत्यधिक गर्वित अनुभव नहीं करेंगे, क्योंकि वे इस जगत के जैसे करोड़ों राष्ट्रपतियों को उत्पन्न करनेवाले हैं? यह कीर्तन करना हमारे लिए सुअवसर है। इसलिए चैतन्य महाप्रभु कहते हैं—*एतादृशी तव कृपा भगवान् ममापि*—हे प्रभु! आप मुझपर इतने दयालु हैं कि मुझे अपना सान्निध्य प्रदान करने के लिए सदैव तत्पर रहते हैं। *दुर्दैवमीदृशम् इहाजनि नानुराग:*—लेकिन मैं इतना अभागा हूँ कि इस अवसर का लाभ नहीं उठाता।

हमारा कृष्णभावनामृत आन्दोलन लोगों से यही अनुरोध करता है कि हरे कृष्ण कीर्तन करो। किसी समाचारपत्र में व्यंग्यचित्र छपा था जिसमें

एक स्त्री को उसके पति के समक्ष बैठा हुआ दिखाया गया था। वह स्त्री अपने पति से आग्रह कर रही है "कीर्तन करो, कीर्तन करो, कीर्तन करो।" पति उत्तर देता है, "नहीं, नहीं, नहीं।" इसी तरह हम हर एक से अनुरोध करते हैं, "कीर्तन करो, कीर्तन करो, कीर्तन करो।" किन्तु वे उत्तर देते हैं, "नहीं, नहीं, नहीं।" यही उनका दुर्भाग्य है।

फिर भी हमारा कर्तव्य है कि ऐसे अभागे जीवों को हम भाग्यशाली बनाए। यही हमारा मिशन है। इसीलिए हम सड़कों पर निकल कर कीर्तन करते हैं। यद्यपि वे "नहीं" करते हैं किन्तु हम कीर्तन करते रहते हैं। यही हमारा कर्तव्य है। यदि हम किसी तरह से किसी हाथों में कोई पुस्तक दे पाते हैं तो वह भाग्यशाली बन जाता है। वह अपनी कठिन कमाई को अनेक पापपूर्ण व्यर्थ के कामों में लुटा सकता है, किन्तु यदि वह एक भी पुस्तक खरीदता है, चाहे उसका मूल्य जो भी हो, तो उसके धन का सदुपयोग हो जाता है। यही उसके कृष्णभावनामृत का शुभारम्भ है। चूँकि वह कृष्णभावनामृत आन्दोलन के लिए अपनी गाढ़ी कमाई का कुछ अंश देता है अतएव वह कुछ आध्यात्मिक लाभ पाता है। इसलिए हमारा कार्य यह है कि हरएक को इस कृष्णभावनामृत आन्दोलन में लावें जिससे हरव्यक्ति आध्यात्मिक लाभ उठा सके।

जब कृष्ण इस धरा में प्रकट हुए तो हर किसी को पता नहीं था कि वे भगवान् थे। यद्यपि आवश्यकता पड़ने पर उन्होंने अपने आपको भगवान् सिद्ध किया, किन्तु सामान्यतया वे सामान्य व्यक्ति जैसे प्रतीत होते थे। इसीलिए शुकदेव गोस्वामी कृष्ण का वर्णन ग्वालबाल के रूप में करते हुए कृष्ण की पहचान लक्षित करते हैं। यह ग्वालबाल कौन है? शुकदेव गोस्वामी कहते हैं—*इत्थं सतां ब्रह्मसुखानुभूत्या*। निर्विशेषवादी निर्विशेष ब्रह्म का ध्यान करके कुछ आनन्द का अनुभव करते हैं, किन्तु शुकदेव गोस्वामी संकेत करते हैं कि इस आनन्द का स्रोत-कृष्ण-यहाँ है।

कृष्ण प्रत्येक वस्तु के उद्गम हैं (*अहं सर्वस्य प्रभवः*) अतएव निर्विशेषवादी जिस दिव्य आनन्द की अनुभूति निर्विशेष ब्रह्म का ध्यान करके पाना चाहते है वह कृष्ण से आती है। शुकदेव गोस्वामी कहते हैं, "ये रहे वे पुरुष जो *ब्रह्मसुख* के स्रोत हैं।" भक्त भगवान् की सेवा करने के लिए सदैव

तैयार रहते हैं (*दास्यं गतानां परदैवतेन*) किन्तु जो माया के वश में हैं उनके लिए वे सामान्य बालक हैं (*मायाश्रितानां नरदारकेण*)। *ये यथा मां प्रपद्यन्ते तांस्तथैव भजाम्यहम्*—कृष्ण विभिन्न जीवों के साथ उनके विचारों के अनुसार ही बर्ताव करते हैं। जो लोग कृष्ण को सामान्य मनुष्य मानते हैं उनके साथ कृष्ण सामान्य मनुष्य की तरह बर्ताव करेंगे। जबकि भक्तगण उनकी संगति का आनन्द लूटेंगे क्योंकि वे कृष्ण को भगवान् मानते हैं। निस्सन्देह निर्विशेषवादियों का लक्ष्य *ब्रह्मज्योति* है, किन्तु कृष्ण उस ज्योति के स्रोत हैं। इसलिए कृष्ण सर्वस्व हैं (*ब्रह्मेति परमात्मेति भगवान् इति शब्द्यते*)।

इतने पर भी ग्वालबाल उन्हीं कृष्ण के साथ खेलते हैं। आखिर वे इतने भाग्यशाली कैसे बन पाये कि वे उनके साथ खेल सके?

इत्थं सतां ब्रह्मसुखानुभूत्या दास्यं गतानां परदैवतेन।
मायाश्रितानां नरदारकेण सार्धं विजह्रु: कृतपुण्यपुञ्जा: ॥

कृष्ण के साथ खेल रहे ग्वालबाल भी सामान्य नहीं हैं, क्योंकि भगवान् के साथ खेलने में सक्षम इन बालकों ने चरमसिद्धि प्राप्त कर ली थी। उन्होंने यह पद कैसे प्राप्त किया? *कृतपुण्यपुञ्जा:*—अनेकानेक जन्मों के पुण्यकर्मों द्वारा। इन बालकों ने जीवन की इस चरम सिद्धि को प्राप्त करने के लिए अनेक जन्मों तक तपस्या की। तब जाकर उन्हें समान स्तर पर कृष्ण के साथ खेलने का अवसर उपलब्ध हुआ। वे यह नहीं जानते कि कृष्ण भगवान् हैं और *वृन्दावनलीला* का यही स्वभाव है।

ग्वालबाल कृष्ण के स्वरूप को न जानते हुए उनसे केवल प्रेम करते हैं और उनके इस प्रेम का कोई ओर-छोर नहीं है। यही हाल वृन्दावन के हर एक प्राणी का है। उदाहरणार्थ, कृष्ण के माता पिता, यशोदा तथा नन्द कृष्ण से वत्सल प्रेम करते हैं। इसी तरह कृष्ण के मित्र कृष्ण से प्रेम करते हैं और कृष्ण की सखियाँ कृष्ण से प्रेम करती हैं। वृक्ष, जल, फूल, गौवें तथा बछड़े—ये सभी उनसे प्रेम करते हैं। यही वृन्दावन का स्वभाव है। इसलिए यदि हम कृष्ण से प्रेम करना ही सीख लें तो हम इस जगत को तुरन्त ही वृन्दावन में बदल सकते हैं।

कृष्ण से किस तरह प्रेम किया जाय (*प्रेमा पुमार्थो महान्*) यही एकमात्र केन्द्रबिन्दु है। लोग सामान्यतया धर्म, अर्थ, काम तथा मोक्ष का अनुपालन करते हैं। किन्तु चैतन्य महाप्रभु को ये चारों चीजें मान्य न थीं। उन्होंने कहा, "जीवन में जो प्राप्त करना है वह ये नहीं हैं।" जीवन का असली लक्ष्य कृष्णप्रेम है।

मानव जीवन वास्तविक रूप में तब तक शुरू नहीं होता जब तक धर्म की कोई विचारधारा न हो। किन्तु इस कलियुग में धर्म एक तरह से शून्य है—न तो धर्म है न नैतिकता। न ही पुण्यकर्म हैं इसलिए वैदिक गणनाओं के अनुसार वर्तमान मानव सभ्यता मनुष्यों की नहीं है। पूर्वकाल में लोग नैतिकता-अनैतिकता, धर्म-अधर्म का ध्यान रखते थे, किन्तु कलियुग की प्रगति के साथ ही सब कुछ समाप्त हो रहा है और लोग किसी बात की परवाह किये बिना कुछ भी कर सकते हैं। *श्रीमद्भागवत* का कथन है और हम देखते हैं कि कलियुग में लगभग ९० प्रतिशत लोग पापी हैं। अवैध यौन, नशा, मांसाहार तथा जुआ खेलना—ये पापपूर्ण जीवन के चार स्तम्भ हैं, अतएव हमारा अनुरोध है कि पहले इन चारों स्तम्भों को तोड़ा जाय जिससे पापी जीवन की छत ढह जाय। तब हरे कृष्ण कीर्तन द्वारा दिव्य पद को प्राप्त किया जा सकता है। यह अत्यन्त सरल विधि है।

यदि कोई पापी है तो उसे ईश्वर की अनुभूति नहीं हो सकती। इसीलिए कृष्ण कहते हैं—

येषां त्वन्तगतं पापं जनानां पुण्यकर्मणाम्।
ते द्वन्द्वमोहनिर्मुक्ता भजन्ते मां दृढव्रता:॥

"जिन मनुष्यों ने पूर्वजन्मों में तथा इस जन्म में पुण्यकर्म किये हैं और जिनके पापकर्मों का पूर्णतया उच्छेदन हो चुका होता है वे मोह के द्वन्द्वों से मुक्त हो जाते हैं और वे संकल्पपूर्वक मेरी सेवा में तत्पर होते हैं।"

अन्तगतम् शब्द का अर्थ "समाप्त" होता है। यदि किसी ने अपने पापी जीवन का अन्त कर दिया है तो वह भक्ति में लग सकता है। पापी जीवन का कौन अन्त कर सकता है? वे जो पुण्यकर्मों में लगे

हैं। मनुष्य को कर्म करने होते हैं और यदि वह पुण्यकर्मों में अपने को लगाता है तो उसके पापकर्म स्वभावतः समाप्त हो जाते हैं। मनुष्य को चाहिए कि, एक ओर वह पापीजीवन के स्तम्भों को ध्वस्त करे और दूसरी ओर अपने को पुण्य जीवन में लगावे।

यदि किसी के पास पुण्यकर्म नहीं है तो वह मात्र सैद्धान्तिक ज्ञान से पापकर्मों से मुक्त नहीं हो सकता। उदाहरणार्थ, अमरीकी सरकार नशीली दवाओं के प्रयोग को बन्द करने के लिए लाखों डालर खर्च करती रही है, किन्तु सरकार असफल रही है। केवल कानून बनाने या भाषण देने से लोगों की लत नहीं छुडाई जा सकती। यह सम्भव नहीं। लोगों को अच्छा कार्य दिया जाना चाहिए तब वे स्वतः बुरी आदतें छोड़ देंगे। उदाहरणार्थ, हम अपने छात्रों को शिक्षा देते हैं "नशा मत करो" और वे तुरन्त छोड़ देते हैं, किन्तु सरकार इसे रोकने में असफल रही है। यही रीति है।

परं दृष्टावा निवर्तते। यदि किसी को अच्छा काम नहीं दिया जाता तो उसके बुरे काम को रोका नहीं जा सकता। इसलिए हमारे समक्ष दो पक्ष हैं—पाप कर्मों का निषेध करना तथा अच्छे कर्मों में लगाना। हम यह नहीं कहते "अवैध यौन बन्द", "नशा बन्द" आदि। मात्र निषेध का कोई अर्थ नहीं होता। कुछ सकारात्मक कार्य होना चाहिए, क्योंकि हरव्यक्ति को कार्य चाहिए। ऐसा इसलिए है, क्योंकि हम मृतलोष्ठ नहीं, हम सजीव प्राणी हैं। निर्विशेषवादी दार्शनिक ध्यान द्वारा लोष्ठ बन जाना चाहते हैं "मुझे शून्य या निर्विशेष का ध्यान करने दो"। किन्तु क्या कोई कृत्रिम रीति से अपने को शून्य बना सकता है? हृदय तथा मन कर्म से ओतप्रोत रहते है, अतएव ये कृत्रिम विधियाँ मानव समाज के लिए उपयोगी नहीं होंगी।

तथाकथित योग तथा ध्यान की विधियाँ नितान्त धूर्तता हैं, क्योंकि ये किसी को कार्य प्रदान नहीं करतीं। किन्तु कृष्णभावनामृत में हरएक के लिए पर्याप्त कार्य रहता है। हरव्यक्ति अर्चाविग्रहों की पूजा करने के लिए बड़े तड़के जगता है। भक्तगण कृष्ण के लिए सुन्दर भोजन तैयार करते हैं, मन्दिर सजाते हैं, मालाएँ बनाते हैं, कीर्तन करने जाते हैं और

पुस्तकें बेचते हैं। वे चौबीसों घण्टे काम में लगे रहते हैं, इसलिए वे पापमय जीवन को छोड़ पाने में सक्षम होते है। यदि कोई बालक अपने हाथ में खाने की कोई चीज लिये हो और यदि हम उसे इससे अच्छी चीज खाने को दें तो वह इस कम अच्छी चीज को फेंक कर अच्छी चीज को ले लेगा। हम कृष्णभावनामृत में अपेक्षतया उत्तम कार्य, उत्तम जीवन, उत्तम दर्शन, उत्तम चेतना प्रदान करते हैं। अतएव जो लोग अपने को भक्ति में लगते हैं वे पापकर्मों को त्याग सकते हैं और कृष्णभावनामृत में आगे बढ़ सकते हैं।

सारे जीवों को कृष्णभावनामृत की ओर ले जाने वाले कार्य न केवल मानवसमाज में अपितु पशु-समाज में भी चल रहे हैं। चूँकि यहाँ के सारे जीव कृष्ण के अंश हैं, किन्तु इस जगत में सड़ रहे हैं, अतएव इसके उद्धार के लिए कृष्ण के पास बहुत बड़ी योजना है। वे कभी स्वयं इस जगत में आते हैं तो कभी अपने अत्यन्त विश्वासपात्र भक्तों को भेजते हैं। कभी वे *भगवद्गीता* जैसे उपदेश छोड़ जाते हैं। कृष्ण का अवतार सभी जगह होता है। वे पशुओं, मनुष्यों, ऋषियों, यहाँ तक कि जलचरों के बीच प्रकट होते हैं (*तिर्यङ्नृषिषु यादःसु*)। उदाहरणार्थ, कृष्ण ने मत्स्य अवतार भी धारण किया।

इस तरह कृष्ण का जन्म, प्राकट्य तथा तिरोधान—सभी चकराने वाले हैं (*तदत्यन्त विडम्बनम्*)। हम बद्धजीव एक शरीर से दूसरे में देहान्तरण करते हैं, क्योंकि प्रकृति के नियमों द्वारा ऐसा करने के लिए हम बाध्य किये जाते हैं, किन्तु कृष्ण कभी बाध्य होकर अवतरित नहीं होते। यही अन्तर है। किन्तु जो धूर्त हैं वे सोचते हैं, "मैंने इस जगत में जन्म लिया है और कृष्ण ने भी यहाँ जन्म लिया है। इसलिए मैं भी ईश्वर हूँ।" वे यह नहीं जानते कि प्रकृति के नियमों के कारण उन्हें फिर से जन्म लेना पड़ेगा।

हो सकता है कि किसी देश में किसी को अत्यन्त सुन्दर शरीर मिला हो जिसमें वह ऐश्वर्य के साथ रह सकता है और उत्तम शिक्षा प्राप्त कर सकता है। किन्तु यदि वह इस सबका दुरुपयोग करता है तो उसे अपनी मनोवृत्ति के अनुसार दूसरा शरीर प्राप्त होगा। उदाहरणार्थ, सरकार द्वारा

उत्तम स्कूलों तथा विश्वविद्यालयों की अनेक व्यवस्थाओं के बावजूद संसार के सभ्य देश हिप्पियों को जन्म दे रहे हैं—ऐसे नवयुवक जो इतने हताश हैं कि वे सूकरों तक की पूजा कर सकते हैं। किन्तु यदि कोई सूकरों की संगति करता है तो वह अगले जन्म में सचमुच ही सूकर बनेगा। *प्रकृतेः क्रियमाणानि गुणैः कर्माणि सर्वशः*। प्रकृति पूरा अवसर प्रदान करेगी "ठीक है, तुम सूकर बनो।" प्रकृति की व्यवस्था ऐसी ही है। *प्रकृति* के तीन गुण हैं और यदि कोई किसी एक प्रकार के गुण की संगति करता है तो उसी के अनुसार उसे अगला जीवन मिलता है।

कृष्ण के आविर्भाव तथा तिरोधान जीव के देहान्तरण को समाप्त करने के लिए होते हैं, अतएव मनुष्य को चाहिए कि कृष्ण के आविर्भाव तथा तिरोधान के पीछे जो योजना कार्य करती है उसकी महानता को समझें। कृष्ण मनमाने तरीके से नहीं आते। उनकी विशद योजना होती है, अन्यथा वे यहाँ क्यों आएँ? वे हमें भगवद्धाम वापस ले जाने के लिए अति उत्सुक रहते हैं। यही कृष्ण का कार्य है। इसीलिए वे कहते हैं—

सर्वधर्मान्परित्यज्य मामेकं शरणं व्रज।
अहं त्वां सर्वपापेभ्यो मोक्षयिष्यामि मा शुचः॥

"समस्त प्रकार के धर्म का परित्याग करो और मेरी शरण में आओ। मैं समस्त पापों से तुम्हारा उद्धार कर दूँगा। डरो मत।" (*भगवद्गीता* १८.६६)। हम सभी कृष्ण की सन्तानें हैं। चूँकि हम बारम्बार जन्म, मृत्यु, जरा तथा रोग के लिए बारम्बार शरीर धारण करने से दुखी हैं, अतएव कृष्ण हमारी अपेक्षा अधिक दुखी हैं। इस संसार में हमारी स्थिति तनिक भी सुविधापूर्ण नहीं है, किन्तु हम इतने मूढ़ हैं कि इसके विषय में कुछ भी करने की परवाह नहीं करते। हम इस जीवन में क्षणिक सुविधाओं की व्यवस्था करने में व्यस्त रहते हैं, किन्तु हम जन्म, मृत्यु, जरा तथा रोग की असली असुविधाओं की उपेक्षा करते हैं। यही हमारी अज्ञान तथा मूर्खता है। इसीलिए कृष्ण हमें इस अज्ञान से जगाने तथा भगवद्धाम वापस ले जाने के लिए आते हैं।

१४. कृष्ण की अद्भुत लीलाएँ

गोप्याददे त्वथि कृतागसि दाम तावद्
या ते दशाश्रुकलिलाञ्जनसम्भ्रमाक्षम्॥
वक्त्रं निनीय भयभावनया स्थितस्य
सा मां विमोहयति भीरपि यद्विभेति॥

हे कृष्ण! जब आपने अपराध किया था तो यशोदा ने जैसे ही आपको बाँधने के लिए रस्सी उठाई तो आपकी आँखें डबडबा आईं जिससे आपकी आँखों का काजल धुल गया। यद्यपि आपसे साक्षात् काल भयभीत रहता है किन्तु आप भयभीत हो उठे। यह दृश्य मुझे मोहग्रस्त करने वाला है।

—(*श्रीमद्भागवत १.८.३१*)

यहाँ पर भगवान् की लीलाओं से उत्पन्न मोह की दूसरी व्याख्या की जा रही है। इसकी व्याख्या हो चुकी है कि भगवान् सभी परिस्थितियों में परमेश्वर हैं। इस उदाहरण में भगवान् परमेश्वर होने के साथ ही अपने शुद्ध भक्त के समक्ष क्रीड़ा भी कर रहे हैं। भगवान् का शुद्ध भक्त अनन्य प्रेम के कारण ही सेवा करता है और इस तरह सेवा करते हुए वह परमेश्वर की स्थिति को भूल जाता है। परमेश्वर भी अपने भक्तों की प्रेमाभक्ति को अत्यन्त सुरुचिपूर्वक ग्रहण करते हैं यदि यह किसी प्रशंसा के बिना शुद्ध प्रेमवश की जाती है। सम्मान्य भगवान् अपने भक्तों द्वारा

आदर की दृष्टि से पूजे जाते हैं, लेकिन भगवान् अपने भक्त से तब विशेष प्रसन्न होते हैं जब वह शुद्ध प्रेमवश भगवान् को अपने से कम महत्वपूर्ण समझता है। आदिधाम गोलोक वृन्दावन में भगवान् की सारी लीलाओं का विनिमय इसी मनोभाव से होता है। कृष्ण के मित्र उन्हें अपने ही तुल्य मानते हैं। वे उन्हें आदरणीय नहीं मानते। भगवान् के माता-पिता (वे भी शुद्ध भक्त हैं) केवल शिशु मानते हैं। भगवान् अपने माता-पिता की प्रताडनाओं को वैदिक स्तोत्रों द्वारा की गई स्तुतियों से बढ़कर मानते हैं। इसी तरह अपनी प्रेयसियों के उलाहनों को वे वैदिक स्तोत्रों की अपेक्षा अधिक रुचि से सुनते हैं। जब इस धराधाम में भगवान् कृष्ण गोलोक वृन्दावन के दिव्य जगत की नित्य लीलाएँ प्रकट करने के लिए उपस्थित थे तो वे अपनी धायमाता यशोदा के सामने विलक्षण विनीत भाव प्रकट करते रहे। वे अपनी बालोचित क्रीडाओं से यशोदा माता की माखन की मटकी तोड़कर उसका सारा माखन मित्रों तथा संगियों में, यहाँ तक बन्दरों में भी, बाँट दिया करते थे और वे सब भगवान् की इस दानशीलता का लाभ उठाते थे। जब यशोदा देखतीं तो वे शुद्ध प्रेमवश दिव्य दण्ड देने का निश्चय करतीं। वे रस्सी लेकर धमकातीं कि उन्हें बाँध देंगी जैसा कि सामान्य घरों में किया जाता है। माता यशोदा के हाथ में रस्सी देखकर भगवान् अपना सिर नीचा करके सामान्य बालक की तरह रो पड़ते और उनके अश्रु उनकी सुन्दर आँखों में लगे काजल को पोंछते हुए कपोलों पर ढुलक पड़ते।

कुन्ती ने भगवान् के इस रूप की पूजा की क्योंकि वे उनकी स्थिति के प्रति सतर्क थीं। जिनसे साक्षात् भय भी भयभीत होता हो वे अपनी माता से भयभीत थे, क्योंकि वे उन्हें सामान्य दण्ड देना चाहती थीं। कुन्ती को उनकी पूज्य स्थिति का पता था, लेकिन यशोदा को नहीं था। इसलिए यशोदा की स्थिति कुन्ती की स्थिति से श्रेष्ठ है। माता यशोदा को भगवान् उनके शिशुरूप में प्राप्त हुए थे और भगवान् ने उन्हें भुलवा दिया था कि उनका शिशु साक्षात् भगवान् है। यदि यशोदा को भगवान् की दिव्य स्थिति का पता रहता तो वे अवश्य ही उनको दण्डित करते हुए हिचकतीं। लेकिन उन्हें यह स्थिति भुलवा दी गई, क्योंकि भगवान्

ममतामयी यशोदा को समस्त पूर्ण बाल चपलता का परिचय देना चाहते थे। माता-पुत्र में प्रेम का यह विनिमय सहज रूप में सम्पन्न हुआ और कुन्ती इस दृश्य का स्मरण करके मोहित थीं, क्योंकि वे दिव्य पुत्र-प्रेम की सराहना करने के अतिरिक्त कर ही क्या सकती थीं? परोक्ष रूप में यशोदा की प्रशंसा उनके प्रेम की दिव्य अवस्था के लिए की जा रही है, क्योंकि वे सर्वशक्तिमान भगवान् को प्रिय पुत्र के रूप में अपने वश में कर सकती हैं।

यह लीला कृष्ण के अन्य ऐश्वर्य-सौन्दर्य को प्रस्तुत करने वाली है। कृष्ण के छः ऐश्वर्य हैं—सम्पूर्ण सम्पत्ति, सम्पूर्ण बल, सम्पूर्ण प्रभाव, सम्पूर्ण ज्ञान, सम्पूर्ण त्याग तथा सम्पूर्ण सौन्दर्य। कृष्ण महानतम से भी महान और लघुतम से भी लघु हैं (*अणोरणीयान् महतो महीयान्*)। हम आश्चर्य तथा आदर से कृष्ण को नमस्कार करते हैं, किन्तु कोई रस्सी लेकर और यह कहते हुए कृष्ण के पास नहीं आता, "कृष्ण! आपने अपराध किया है। अब मैं आपको बाँध दूँगा।" तो भी यह परमपूर्ण भक्त का विशेषाधिकार है और कृष्ण चाहते हैं कि उन तक इसी तरह से जाया जाय।

कृष्ण का ऐश्वर्य सोच कर कुन्तीदेवी ने यशोदा की भूमिका निभाने का साहस नहीं किया। यद्यपि कुन्तीदेवी कृष्ण की बुआ थीं तो भी वे यशोदा मायी की तरह कृष्ण के पास नहीं गईं, क्योंकि यशोदा ऐसी बढ़ी-चढ़ी भक्त थीं कि उन्हें भगवान् को डाँटने का अधिकार था। यह यशोदा मायी का विशेष अधिकार है। कुन्तीदेवी तो यही सोच रही थीं कि यशोदा मायी कितनी भाग्यवान हैं कि वे उस भगवान् को धमका सकीं जिनसे साक्षात् भय भी भयभीत रहता है (*भीरपि यद्बिभेति*)। कृष्ण से कौन भयभीत नहीं रहता? किन्तु कृष्ण यशोदा मायी से भयभीत रहते हैं। यह कृष्ण की अति महानता है।

ऐसे ऐश्वर्य का दूसरा उदाहरण दिया जा सकता है। कृष्ण मदनमोहन कहलाते हैं। *मदन* का अर्थ है कामदेव जो हर एक को मोहने वाला है, किन्तु कृष्ण मदनमोहन कहलाते हैं क्योंकि वे स्वयं इतने सुन्दर हैं कि कामदेव को भी मोह लेते हैं। तिस पर भी स्वयं कृष्ण श्रीमती राधारानी द्वारा मोहित होते हैं, इसलिए श्रीमती राधरानी मदनमोहनमोहिनी कहलाती

हैं। कृष्ण कामदेव को मोहने वाले हैं और राधारानी इस मोहने वाले को भी मोहने वाली हैं।

कृष्णभावनामृत में ये अत्युच्च आध्यात्मिक जानकारियाँ हैं। ये गप्प, काल्पनिक या मनगढंत नहीं हैं। ये यथार्थ हैं और हर भक्त कृष्ण की लीलाओं को समझने तथा उनमें सम्मिलित होने का अधिकारी रहता है बशर्ते कि वह बढ़ा-चढ़ा हो। हमें यह नहीं सोचना चाहिए कि यशोदा मायी को जो अधिकार मिला हुआ है वह हमें उपलब्ध नहीं है। हरएक को वैसा ही अधिकार मिल सकता है। यदि कोई कृष्ण को अपने पुत्र के समान प्यार करता है तो उसे यह अधिकार प्राप्त होगा, क्योंकि माता के मन में अपने पुत्र के लिए सर्वाधिक प्रेम रहता है। यहाँ तक कि भौतिक जगत में मातृप्रेम की कोई तुलना नहीं है, क्योंकि माता किसी प्रतिदान की आशा के बिना अपने पुत्र को प्यार करती है। निस्सन्देह यह सामान्यत: सत्य है, किन्तु यह जगत इतना दूषित हो चुका है कि कभी कभी माता सोचती है, "मेरा पुत्र बड़ा होगा तो वह जो कमायेगा, वह मुझे मिलेगा।" इस तरह बदले में कुछ न कुछ पाने की इच्छा रहती है। किन्तु कृष्ण को प्यार करने में कोई स्वार्थभाव नहीं रहता क्योंकि प्रेम समस्त भौतिक लाभ से रहित अर्थात् शुद्ध होता है (*अन्याभिलाषिता शून्यम्*)।

हमें किसी भौतिक लाभ के लिए कृष्ण से प्रेम नहीं करना चाहिए। हमें यह नहीं कहना चाहिए, "कृष्ण, हमें रोटी दो तो मैं तुमसे प्रेम करूँ।" ऐसा व्यापारिक विनिमय नहीं होना चाहिए क्योंकि कृष्ण शुद्ध प्रेम चाहते हैं।

जब कृष्ण ने यशोदा को हाथ में रस्सी लिए आते देखा तो यह सोचकर "ओह! मेरी माँ मुझे बाँधने आ रही हैं" इतने भयभीत हो उठे कि रोने लगे और आँसुओं से उनकी आँख में लगा काजल धुल गया। अपनी माता को आदर की दृष्टि से देखते हुए उन्होंने इस भाव से याचना की, "हाँ, माता! मैं अपराधी हूँ। आप मुझे क्षमा कर दें।" तब उन्होंने तुरन्त अपना शीश झुकाया। कुन्तीदेवी को यह दृश्य अच्छा लगा क्योंकि यह कृष्ण की अन्य सिद्धि है। यद्यपि वे भगवान् हैं, किन्तु वे अपने को

माता यशोदा के वश में रखते हैं। *भगवद्गीता* में (७.७) भगवान् कहते हैं—*मत्तः परतरं नान्यत किञ्चिदस्ति धनञ्जय*—हे अर्जुन! मुझसे श्रेष्ठ कोई नहीं है। तो भी भगवान्, जिनसे श्रेष्ठ कोई नहीं है, माता यशोदा के समक्ष यह स्वीकार करते हुए शीश झुकाते हैं, "हे माता! मैं अपराधी हूँ।"

जब माता यशोदा ने देखा कि कृष्ण उनसे अत्यधिक डर चुके हैं तो वे भी व्यग्र हो उठीं। वे कृष्ण को दंड देकर उन्हें कष्ट नहीं पहुँचाना चाहती थीं। यह उनका अभिप्राय नहीं था। किन्तु प्रथा यह है कि जब कोई बच्चा बहुत उत्पात करता है तो उसकी माता उसे किसी एक स्थान में ले जाकर बाँध देती है। यह प्रथा भारत में अब भी प्रचलित है। यह अति सामान्य प्रथा है इसलिए माता यशोदा ने इसे अपनाया।

इस दृश्य की शुद्ध भक्त अत्यधिक प्रशंसा करते हैं, क्योंकि यह दिखलाता है कि परमपुरुष में, जो एक पूर्ण बालक की तरह अभिनय करता है, कितनी महानता है। जब कृष्ण बालक का अभिनय करते हैं तो पूरी तरह करते हैं। जब वे सोलह हजार पत्नियों के पति का अभिनय करते हैं तो उसे पूरी तरह निभाते हैं। जब वे गोपियों के प्रेमी का अभिनय करते हैं तो उसका ठीक से निर्वाह करते हैं और ग्वालबालों के मित्र के रूप में भी वे भलीभाँति अभिनय करते हैं।

सारे ग्वालबाल कृष्ण पर आश्रित रहते हैं। एक बार वे तालवन से कुछ फल लेना चाह रहे थे, किन्तु उसमें गर्दभासुर रहता था जो किसी को उस वन में घुसने नहीं देता था। इसलिए कृष्ण के बालसंगियों ने उनसे कहा, "कृष्ण! हम उस फल का स्वाद लेना चाहते हैं, क्या तुम उसको पाने का प्रबन्ध कर सकोगे?" कृष्ण ने तुरन्त हामी भर ली और वे बलराम के साथ उस वन में गये जहाँ वह असुर अन्य असुरों के साथ रह रहा था जिन्होंने गधे का रूप धारण कर रखा था। जब ये गर्दभ रूप असुर कृष्ण तथा बलराम को अपनी पिछली टाँगों से मारने आये तो बलराम ने उनमें से एक को पकड़ कर वृक्ष के ऊपर फेंक दिया और वह असुर मर गया। तब कृष्ण तथा बलराम ने इसी तरह अन्य असुरों को मार डाला। इस तरह उनके ग्वालमित्र उनके अत्यधिक

कृतज्ञ थे।

एक अन्य अवसर पर ग्वालबाल दावाग्नि से घिर गये। वे कृष्ण के अतिरिक्त किसी को नहीं जानते थे, इसलिए उन्होंने तुरन्त उन्हें ही पुकारा और कृष्ण तैयार हो गये, "हाँ"। इस तरह कृष्ण तुरन्त सम्पूर्ण अग्नि को निगल गये। ऐसे तमाम असुर थे जो बालकों पर आक्रमण करते और नित्य ही ये बालक घर पहुँच कर अपनी माताओं से कहते "माता! कृष्ण कितने अद्भुत हैं!" और तब उस दिन जो घटना घटी रहती उसको बताते। तब माताएँ कहतीं, "हाँ, हमारा कृष्ण अद्भुत है।" वे नहीं जानती थीं कि कृष्ण परमपुरुष या ईश्वर हैं। वे इतना ही जानती थीं कि कृष्ण अद्भुत हैं। वे जितना ही कृष्ण के अद्भुत कार्यों को देखतीं, उनके प्रति उनका प्रेम उतना ही बढ़ता जाता। वे सोचतीं "शायद वे कोई देवता हों।" जब कृष्ण के पिता नन्द महाराज अपने मित्रों से बातें करते तो उनके मित्र कृष्ण के विषय में बातें करते हुए कहते "हे नन्द! तुम्हारा बालक कृष्ण अद्भुत है।" नन्द महाराज कहते, "हाँ, मैं भी यही देखता हूँ। हो सकता है वह कोई देवता हो।" वह भी निश्चित रूप से नहीं—"हो सकता है"।

इस तरह वृन्दावनवासी इसकी परवाह नहीं करते कि कौन ईश्वर है और कौन नहीं है। जो लोग यह निश्चित करने के लिए कि कृष्ण ईश्वर हैं या नहीं पहले विश्लेषण करने का प्रयास करते हैं वे उच्चकोटि के भक्त नहीं होते। उच्च कोटि के भक्त तो वे होते हैं जिनमें कृष्ण के प्रति रागानुग प्रेम होता है। हम कृष्ण का विश्लेषण कैसे कर सकते हैं? वे अनन्त हैं, अतएव ऐसा कर पाना असम्भव है। हमारे पास सीमित अनुभूति है, हमारी इन्द्रियों की शक्ति सीमित है अत: हम कृष्ण का अध्ययन कैसे कर सकते हैं? यह तनिक भी सम्भव नहीं। कृष्ण कुछ सीमा तक आत्म उद्घाटन करते हैं और यही पर्याप्त है।

हमें मायावादी दार्शनिक पसन्द नहीं होने चाहिए जो चिन्तनपरक अनुमान द्वारा ईश्वर को खोजने का प्रयत्न करते हैं। वे कहते हैं—*नेति नेति*। ईश्वर यह नहीं है, ईश्वर वह नहीं है। किन्तु ईश्वर है क्या? वे यह नहीं जानते। भौतिकतावादी विज्ञानी भी परम कारण की खोज करने के

लिए प्रयत्न करते हैं किन्तु उनकी विधि भी वैसी ही है, "न यह, न वह"। वे जितना आगे बढ़ते जावेंगे, सदैव पावेंगे, "यह नहीं, वह नहीं।" किन्तु चरम कारण क्या है इसे वे कभी नहीं खोज पावेंगे। यह सम्भव नहीं।

कृष्ण के खोजने की बात जाने दें, ये भौतिकतावादी विज्ञानी ठीक से भौतिक वस्तुओं को भी नहीं जानते। वे चन्द्रमा तक जाने के लिए प्रयत्नशील हैं, किन्तु वे यह नहीं जानते कि यह है क्या। यदि वे समझते हैं कि चन्द्रमा क्या है तो वे पुनः यहाँ क्यों लौटते हैं? यदि वे भलीभाँति जान लेते कि चन्द्रमा क्या है तो वे वहाँ पर रहने लगे होते। वे विगत २० वर्षों से वहाँ जाने और रुकने का प्रयत्न करते रहे हैं, किन्तु वे केवल देख रहे हैं "यह नहीं , वह नहीं"। इस तरह वे इसकी रिपोर्ट दे सकते हैं कि चन्द्रमा में क्या *नहीं* है, किन्तु क्या वे यह जानते हैं कि वहाँ है क्या? नहीं। वे नहीं जानते। यह केवल एक ग्रह या तारा है।

वैदिक साहित्य के अनुसार चन्द्रमा को एक तारा माना जाता है। विज्ञानी कहते हैं कि सारे तारे सूर्य हैं, किन्तु *भगवद्गीता* के अनुसार ये तारे उसी तरह के हैं जिस तरह चन्द्रमा है। *भगवद्गीता* में (१०.२१) भगवान् कृष्ण कहते हैं—*नक्षत्राणां अहं शशी*—तारों में मैं चन्द्रमा हूँ। इस तरह चन्द्रमा अनेक तारों जैसा है। चन्द्रमा का स्वभाव कैसा है? यह चमकीला है, क्योंकि यह सूर्य के प्रकाश को परावर्तित करता है। यद्यपि विज्ञानी कहते हैं कि तारे अनेक सूर्य हैं, किन्तु हम इससे सहमत नहीं। वैदिक गणना के अनुसार सूर्य असंख्य हैं, किन्तु प्रत्येक ब्रह्माण्ड में केवल एक सूर्य है।

इस ब्रह्माण्ड में हम जो भी देखते हैं उसे अधूरे रूप में देखते हैं और हमारा ज्ञान पूर्ण नहीं है। हम इसकी गणना नहीं कर सकते कि तारे या ग्रह कितने हैं। जब हम अपने चारों ओर स्थित भौतिक वस्तुओं को पूरी तरह समझ नहीं सकते तो हम उस परमेश्वर को कैसे समझ सकते हैं जिन्होंने इस सृष्टि की रचना की? यह सम्भव नहीं। इसीलिए *ब्रह्म-संहिता* में (५.३४) कहा गया है—

पन्थास्तु कोटिशतवत्सरसम्प्रगम्यो
वायोरथापि मनसो मुनिपुंगवानाम्।
सोऽप्यस्ति यत्प्रपदसीम्न्यविचिन्त्यतत्त्वे
गोविन्दमादिपुरुष तमहं भजामि॥

अन्तरिक्ष असीम है और *ब्रह्म-संहिता* में सुझाव दिया हुआ है कि मान लीजिये कि कोई व्यक्ति वायु या मन के वेग से करोड़ों वर्षों तक अन्तरिक्ष यान में यात्रा करता है। हर कोई जानता है कि मन इतना तेज है कि एक सेकंड के दस हजारवें भाग में वह हमें करोड़ों मील तक ले जा सकता है। यदि हमने करोड़ों मील दूर किसी वस्तु को देख रखा है तो मन हमें वहाँ तुरन्त पहुँचा देगा। किन्तु यदि *मुनिपुंगवानाम्*—महानतम विज्ञानियों तथा विचारवान पुरुषों द्वारा निर्मित अन्तरिक्ष यान पर उसी वेग से यात्रा करें तो क्या वह सिद्धि होगी? नहीं। *ब्रह्म-संहिता* का कहना है—*सोऽप्यस्ति यत्प्रपदसीम्न्यविचिन्त्यतत्त्वे*—फिर भी यह सृष्टि हमारे लिए अचिन्त्य रही आवेगी। और इन सारी वस्तुओं को बनाया है कृष्ण ने, अतएव हम कृष्ण का अध्ययन कैसे कर सकते हैं? यदि हम कृष्ण द्वारा सृजित वस्तुओं को नहीं समझ सकते तो भला कृष्ण को कैसे समझ सकते हैं? यह तनिक भी सम्भव नहीं।

अतएव भक्तों के लिए वृन्दावन की भावना मन की पूर्ण अवस्था है। वृन्दावन के निवासियों को कृष्ण को समझने की कोई परवाह नहीं रहती प्रत्युत वे बिना शर्त के कृष्ण से प्रेम करना चाहते हैं। ऐसा नहीं है कि वे यह सोचें "कृष्ण ईश्वर हैं, इसलिए मैं उनसे प्रेम करता हूँ।" वृन्दावन में कृष्ण ईश्वर की तरह अभिनय नहीं करते, वे सामान्य ग्वालबाल की तरह क्रीड़ा करते हैं और कभी कभी अपने को भगवान् सिद्ध करते हैं, किन्तु भक्तगण इसे जानने के लिए चिन्तित नहीं होते।

किन्तु कुन्तीदेवी वृन्दावन की वासिनी नहीं थीं। वे तो वृन्दावन से बाहर हस्तिनापुर की निवासिनी थीं। वृन्दावन के बाहर के भक्त यह अध्ययन करते हैं कि वृन्दावन के निवासी कितने महान हैं, किन्तु वृन्दावनवासी यह जानने की परवाह नहीं करते कि कृष्ण कितने महान हैं। उनमें यही अन्तर है। इसलिए, हमारी चिन्ता का विषय एकमात्र कृष्ण से प्रेम करना

होना चाहिए। हम जितना ही अधिक कृष्ण से प्रेम करेंगे उतने ही अधिक पूर्ण बनेंगे। कृष्ण को तथा कृष्ण के सृजन कार्य को समझना आवश्यक नहीं है। कृष्ण ने *भगवद्गीता* में अपने विषय में बतलाया है। हमें इससे अधिक समझने का प्रयास नहीं करना चाहिए। हमें कृष्ण के विषय में अधिक जानने की झंझट नहीं उठानी चाहिए। ऐसा सम्भव नहीं। हमें केवल कृष्ण के प्रति अपने शुद्ध प्रेम को बढ़ाना है। यही जीवन की सिद्धि है।

१५. जन्म-मृत्यु से परे

केचिदाहुरजं जातं पुण्यश्लोकस्य कीर्तये।
यदोः प्रियस्यान्ववाये मलयस्येव चन्दनम्॥

कुछ लोग कहते हैं कि अजन्मा का जन्म पुण्यात्मा राजाओं की कीर्तिविस्तार के लिए होता है और कुछ कहते हैं, आप अपने परम भक्त राजा यदु को प्रसन्न करने के लिए जन्मे हैं। आप उसके कुल में उसी प्रकार जन्मे हैं जिस प्रकार मलय पर्वत में चन्दन।

—(*श्रीमद्भागवत* १.८.३२)

चूँकि इस जगत में भगवान् का प्राकट्य मोहमय है, अतएव अजन्मा के जन्म के विषय में विभिन्न मत हैं। *भगवद्गीता* में भगवान् कहते हैं कि यद्यपि वे सारी सृष्टि के स्वामी तथा अजन्मा हैं फिर भी वे भौतिक जगत में जन्म लेते हैं। अतएव अजन्मा के जन्म से इनकार नहीं किया जा सकता क्योंकि स्वयं भगवान् ने इस सत्य को प्रतिष्ठित किया है। फिर भी उनके जन्म को लेकर विभिन्न मत प्रचलित हैं। *भगवद्गीता* में भी इसकी घोषणा है। वे अपनी अन्तरंगा शक्ति से धर्म की स्थापना करने तथा पुण्यात्माओं की रक्षा करने और पापियों का संहार करने के लिए प्रकट होते हैं। अजन्मा के प्राकट्य का यही उद्देश्य है। फिर भी यह कहा जाता है कि भगवान् पुण्यश्लोक युधिष्ठिर की कीर्ति का विस्तार करने के लिए आये। निश्चय ही भगवान् कृष्ण सारे विश्व के कल्याण हेतु पाण्डवों का राज्य स्थापित

करना चाहते थे। जब संसार में कोई पुण्यात्मा राजा राज्य करता है तो लोग सुखी रहते हैं। जब राजा पापी होता है तो लोग सुखी नहीं रहते। इस कलियुग के अधिकांश राजा पापी हैं, अतएव नागरिक भी लगातार दुखी हैं। लेकिन प्रजातन्त्र में तो पापी नागरिक स्वयं अपने प्रतिनिधि का चुनाव करते हैं, अतएव अपने दुख के लिए वे किसी अन्य को दोष नहीं दे सकते। महाराज नल भी एक महान पुण्यात्मा राजा के रूप में विख्यात थे, किन्तु कृष्ण से उनका कोई वास्ता न था, अतएव यहाँ पर कृष्ण द्वारा महिमांडित किये जाने में महाराज युधिष्ठिर से ही तात्पर्य है। उन्होंने यदु के कुल में जन्म लेकर उनकी भी कीर्ति बढ़ाई थी। इसीलिए वे यादव, यदुवीर, युदनन्दन आदि के रूप में विख्यात हैं, यद्यपि भगवान् ऐसी झंझट में नहीं पड़ते। वे मलय पर्वत में उगने वाले चन्दन के समान हैं। वृक्ष तो कहीं भी उगते हैं, लेकिन चन्दन का वृक्ष विशेष रूप से मलय पर्वत-क्षेत्र में उगता है। मलय (चन्दन) तथा मलय पर्वत परस्पर सम्बन्धित हैं, अतएव यह निष्कर्ष निकला कि भगवान् सूर्य के समान अजन्मा हैं फिर भी वे उसी तरह प्रकट होते हैं जिस प्रकार सूर्य पूर्वी क्षितिज में उदय होता है। जिस प्रकार सूर्य सदा पूर्वी क्षितिज में ही नहीं रहा आता उसी तरह भगवान् किसी के पुत्र नहीं लेकिन समस्त वस्तुओं के पिता (जनक) हैं।

भगवद्गीता में (४.६) भगवान् कहते हैं—

अजोऽपि सन्नव्ययात्मा भूतानामीश्वरोऽपि सन्।
प्रकृतिं स्वामधिष्ठाय सम्भवाम्यात्ममायया॥

"यद्यपि मैं अजन्मा तथा अविनाशी हूँ, यद्यपि मैं समस्त जीवों का स्वामी हूँ तो भी मैं प्रत्येक युग में अपने आदि दिव्य रूप में प्रकट होता हूँ।"

कृष्ण अजन्मा हैं और हम भी अजन्मा हैं, किन्तु अन्तर इतना ही है कि हमें भौतिक देह में फँसा दिया गया है जबकि भगवान् के साथ ऐसा नहीं है। अतएव हम अजन्मा रूप में अपना पद बनाये नहीं रख सकते, अपितु हमें जन्म लेना पड़ता है और एक शरीर से दूसरे में देहान्तरण करना होता है। हमें इसकी गारंटी नहीं रहती कि हमें अगले जीवन में किस तरह का शरीर प्राप्त होगा। यहाँ तक कि इसी जीवन में हमें एक के बाद दूसरा शरीर स्वीकार करना पड़ता है। एक शिशु अपने बचपन का शरीर त्याग कर बालक

का शरीर ग्रहण करता है और यह बालक अपने बचपन के शरीर को त्याग कर युवा शरीर स्वीकार करता है जिसे वह त्याग कर वृद्ध शरीर धारण करता है। इसलिए यह निष्कर्ष निकालना स्वाभाविक है कि जब कोई अपना वृद्ध शरीर त्यागता है तो उसे दूसरा शरीर ग्रहण करना होगा। वह पुनः शिशु शरीर धारण करेगा।

यह इस भौतिक जगत का प्राकृतिक चक्र है। यह ऋतु जैसा है। वसन्त के बाद ग्रीष्म तथा ग्रीष्म के बाद शिशिर, फिर हेमन्त और तब वसन्त ऋतु आती है। इसी तरह रात के बाद दिन और दिन के बाद रात आती है। जिस तरह ये चक्रवत् परिवर्तन एक के बाद एक घटित होते हैं उसी तरह हम एक शरीर बदल कर दूसरा धारण करते हैं। यह निष्कर्ष निकालना स्वाभाविक है कि इस वर्तमान शरीर को त्यागने के बाद हम अन्य शरीर प्राप्त करेंगे (*भूत्वा भूत्वा प्रलीयते*)।

यह निष्कर्ष अत्यन्त तर्कसंगत है और शास्त्र द्वारा समर्थित है। इसकी पुष्टि करने वाले सबसे बड़े अधिकारी स्वयं कृष्ण हैं। तो फिर इसे हम क्यों नहीं स्वीकार करते? यदि कोई इसे नहीं स्वीकार करता, यदि वह सोचता है कि मृत्यु के बाद जीवन नहीं होता तो वह मूर्ख है।

मृत्यु के बाद जीवन होता है और जन्म-मृत्यु के बारम्बार चक्र से उबरने तथा अमरता का जीवन प्राप्त करने का अवसर भी है। चूँकि हम अनन्त काल से एक शरीर त्याग कर दूसरा शरीर धारण करने के आदी हो चुके हैं, अतएव ऐसे जीवन के विषय में सोच पाना भी हमारे लिए कठिन है जो शाश्वत हो। इस जगत का जीवन इतना कष्टप्रद होता है कि यदि जीवन शाश्वत होता भी तो मनुष्य सोचता कि यह जीवन भी कष्टप्रद होता होगा। उदाहरणार्थ, अत्यन्त कड़वी दवा लेने वाला तथा बिस्तर पर ही लेटे लेटे खाने और उसी पर मल-मूत्र विसर्जन करने वाला तथा हिल-डुल न सकने वाला व्यक्ति अपने जीवन को इतना असह्य पा सकता है कि वह आत्महत्या करने की सोच सकता है। इसी तरह भौतिकतावादी जीवन इतना दुखमय है कि अपने जीवन का निषेध करने तथा हर वस्तु को शून्य बनाने के लिए हताश होकर वह शून्यवाद या निर्विशेषवाद स्वीकार कर सकता है। किन्तु वास्तविकता तो यह है कि शून्य बनना न तो सम्भव है, न आवश्यक। हम अपनी भौतिक अवस्था

में कष्ट में होते हैं किन्तु, जब हम भौतिक अवस्था से बाहर निकल आते हैं तो हमें असली शाश्वत जीवन प्राप्त होता है।

चूँकि हम कृष्ण के अंश हैं और कृष्ण *अज* हैं अत: हम भी *अज* हैं। हम अन्यथा हो भी कैसे सकते हैं? यदि मेरे पिता सुखी हैं और मैं अपने पिता का पुत्र हूँ तो फिर मैं दुखी क्यों होऊँ? मैं यही निष्कर्ष निकालूँगा कि मुझे अपने पिता की सम्पत्ति का सुखभोग अपने पिता के ही समान करना चाहिए। इसी तरह ईश्वर या कृष्ण सर्व-शक्तिमान, सर्व-सुन्दर, सर्व-ज्ञेय तथा हर तरह से पूर्ण हैं और मैं भले ही पूर्ण न होऊँ, किन्तु ईश्वर का अंश हूँ अतएव मुझमें आंशिक रूप से ईश्वर के सारे गुण हैं।

ईश्वर मरता नहीं अतएव मैं भी नहीं मरता। यही मेरी स्थिति है। इसकी व्याख्या *भगवद्गीता* में (२.२०) हुई है—*न जायते म्रियते वा कदाचित्*। आत्मा का वर्णन करते हुए कृष्ण कहते हैं कि आत्मा कभी जन्म नहीं लेता (*न जायते*) और यदि कोई जन्म नहीं लेता तो वह मर कैसे सकता है? मृत्यु का प्रश्न ही नहीं है (*म्रियते वा*)। मृत्यु तो उसके लिए है जिसने जन्म लिया है और यदि उसने जन्म ही नहीं लिया तो उसकी मृत्यु भी नहीं होती।

किन्तु दुर्भाग्य तो यह है कि हम इसे जानते ही नहीं। हम वैज्ञानिक शोध करते हैं, किन्तु यह नहीं जानते कि जीव आत्मा है जिसका न जन्म होता है, न मृत्यु। यही हमारा अज्ञान है। आत्मा नित्य, शाश्वत तथा सनातन है (*नित्य: शाश्वतोऽयं पुराणो*)। आत्मा शरीर के विनाश के साथ नहीं मरता (*न हन्यते हन्यमाने शरीरे*)। यद्यपि आत्मा मरता नहीं किन्तु दूसरा शरीर ग्रहण करता है। यही *भवरोग* कहलाता है।

चूँकि कृष्ण परमजीव हैं (*नित्यो नित्यानां चेतनश्चेतनानां*) अत: हम कृष्ण की ही तरह हैं, अन्तर इतना ही है कि कृष्ण *विभु*—असीम—हैं और हम *अणु*—सीमित—हैं। गुण की दृष्टि से हम कृष्ण के तुल्य हैं। अतएव कृष्ण में जो भी गुण हैं वे हममें भी होते हैं। उदाहरणार्थ, कृष्ण में विपरीत लिंग वाले से प्रेम करने की लालसा रहती है इसलिए हममें भी वही लालसा है। प्रेम का शुभारम्भ राधा तथा कृष्ण के मध्य होता है किन्तु, भौतिक नियमों से बद्ध होने के कारण हमारे प्रेम में व्यवधान आता रहता है। किन्तु यदि हम इस व्यवधान को लाँघ सकें तो हम कृष्ण तथा राधारानी का प्रेम-व्यापार

भोग सकते हैं। अतएव हमारा लक्ष्य कृष्ण के पास वापस जाने का होना चाहिए क्योंकि हमें वहीं नित्य शरीर मिलेगा।

कुन्ती कहती हैं *केचिदाहुरजं जातम्*—परम नित्य परम अजन्मा ने अब जन्म लिया है। यद्यपि कृष्ण जन्म लेते हैं किन्तु उनका जन्म हमारे जैसा नहीं है। हमें यह जानना होगा। *भगवद्गीता* में (४.९) भगवान् कहते हैं—

जन्म कर्म च मे दिव्यमेवं यो वेत्ति तत्त्वतः।
त्यक्त्वा देहं पुनर्जन्म नैति मामेति सोऽर्जुन॥

"हे अर्जुन! जो मेरे आविर्भाव तथा कर्मों के दिव्य स्वभाव को जानता है वह इस शरीर को छोड़ने पर इस संसार में पुनः जन्म नहीं लेता अपितु मेरे सनातन धाम को प्राप्त होता है।"

श्रीमद्भागवत में वर्णन है कि जब कृष्ण सर्वप्रथम प्रकट हुए तो उन्होंने देवकी के गर्भ से जन्म नहीं लिया प्रत्युत वे अपने चतुर्भुजी विष्णु रूप में प्रकट हुए और तब देवकी की गोद में एक छोटे से शिशु बन गये। इसलिए कृष्ण का जन्म दिव्य है, किन्तु हमारा जन्म प्रकृति के नियमों द्वारा बलात् होता है। कृष्ण प्रकृति के नियमों के अधीन नहीं हैं, अपितु प्रकृति के नियम उनके अधीन हैं (*मयाध्यक्षेण प्रकृतिः सूयते सचराचरम्*)। प्रकृति कृष्ण के आदेशानुसार कार्य करती है और हम प्रकृति के दास हैं। इसलिए कुन्ती कहती हैं *केचिदाहुः*—कोई यह कह सकता है कि अजन्मा ने जन्म लिया है किन्तु तथ्य यह है कि उन्होंने इस तरह जन्म नहीं लिया। कुन्तीदेवी स्पष्ट कहती हैं *केचिदाहुः*—कुछ मूर्ख लोग कह सकते हैं कि कृष्ण कहते हैं कि कृष्ण ने जन्म लिया है। *भगवद्गीता* में (९.११) स्वयं कृष्ण कहते हैं—*अवजानन्ति मां मूढा मानुषीं तनुमाश्रितम्*—चूँकि मैं मनुष्य के रूप में प्रकट हुआ हूँ, अतएव जो धूर्त हैं वे सोचते हैं कि मैं भी सामान्य व्यक्ति जैसा हूँ। *परं भावमजानन्तः*—मनुष्य के रूप में ईश्वर के जन्म लेने के पीछे क्या रहस्य है इसे वे नहीं जानते।

कृष्ण तो सर्वत्र हैं। भगवान् हर एक के हृदय में स्थित हैं (*ईश्वरः सर्वभूतानां हृद्देशेऽर्जुन तिष्ठति*)। चूँकि वे हमारे भीतर हैं और सर्वशक्तिमान हैं तो फिर हमारे सामने प्रकट होने में उन्हें कौन सी कठिनाई होगी? जब महान भक्त

ध्रुव महाराज चतुर्भुजी विष्णु के ध्यान में मग्न थे तो सहसा उनका ध्यान टूटा। उन्होंने तुरन्त अपने समक्ष वही रूप देखा जिसका वे ध्यान कर रहे थे। क्या इस तरह प्रकट होने में कृष्ण को कोई कठिनाई हुई? नहीं। इसी तरह देवकी के समक्ष भी चतुर्भुज रूप में प्रकट होने में उन्हें कोई कठिनाई नहीं थी। इसीलिए कृष्ण कहते हैं *जन्म कर्म च मे दिव्यम्*—मनुष्य को चाहिए कि मेरे जन्म तथा कर्म को समझे। कुन्तीदेवी के पास यह समझ है। वे जानती हैं कि भले ही कुछ मूर्खों के लिए कृष्ण जन्म लेते प्रतीत हों, किन्तु वे हैं अजन्मा।

किन्तु कृष्ण को जन्म लेने की लीला क्यों सम्पन्न करनी चाहिए? कुन्तीदेवी उत्तर देती हैं—*पुण्यश्लोकस्य कीर्तये*—जो लोग अत्यन्त पवित्र हैं और अध्यात्मिक ज्ञान में बढ़े-चढ़े हैं उनको महिमामण्डित करने के लिए। कृष्ण देवकी के पुत्र रूप में अपनी भक्त देवकी को महिमामंडित करने हेतु आते हैं। वे यशोदा पुत्र रूप में यशोदा को महिमामंडित करने आते हैं। इसी तरह कृष्ण अपने महान भक्त महाराज यदु के वंश में महाराज यदु को महिमा प्रदान करने के लिए प्रकट होते हैं। इस तरह कृष्ण अब भी महाराज यदु के वंशज अर्थात् यादव कहलाते हैं। कृष्ण किसी कुल या देश में जन्म लेने के लिए बाध्य नहीं। किन्तु वे किसी व्यक्ति या परिवार की भक्ति के कारण ही उसे महिमा प्रदान करने हेतु जन्म लेते हैं। इसलिए उनका जन्म *दिव्यम्* कहलाता है।

भगवान् जन्म लेने के लिए बाध्य नहीं, किन्तु हम हैं। हमारे जन्म और कृष्ण के जन्म में यही अन्तर है। यदि हम अपने कर्म के कारण मानव समाज या देव समाज में किसी अच्छे परिवार में जन्म लेने के योग्य होते हैं तो जन्म लेते हैं, किन्तु यदि हमारे कर्म पशुओं जैसे अधर्मी होते हैं तो हमें पशुओं के परिवार में जन्म लेना होगा। यह कर्म की शक्ति है। *कर्मणा दैवनेत्रेण जन्तोर्देहोपपत्तये* (भागवत ३.३१.१)—हम अपने कर्म के अनुसार विशेष प्रकार का शरीर उत्पन्न करते हैं।

यह मनुष्य-जीवन परब्रह्म को समझने के निमित्त है (*अथातो ब्रह्मजिज्ञासा*)। किन्तु यदि हम इसके लिए प्रयत्न नहीं करते, यदि हम इस सुअवसर का दुरुपयोग करते हैं और पशुवत् रह आते हैं तो हम पशु-जीवन में लौट जाएँगे। इसीलिए कृष्णभावनामृत आन्दोलन लोगों को पशु-जीवन में गिरने से बचाने

के निमित्त है।

भगवान् कृष्ण जीवन के आविर्भाव की तुलना मलय पर्वत के चन्दन वृक्ष से की गई है (*मलस्येवचन्दनम्*)। मलय दो हैं—एक मलय पर्वत और दूसरा मलेशिया नामक देश। चन्दन वृक्ष कहीं भी उग सकता है—ऐसा कोई नियम नहीं कि यह मलय पर्वत या मलेशिया में ही उगे, किन्तु अधिकांशत: इन भागों में उगने के कारण वह *मलय चन्दन* कहलाता है। पाश्चात्य देशों में ''ओ द कोलोन'' नामक सुगंधित जल होता है। इसे कहीं भी बनाया जा सकता है। इसी तरह चन्दन कहीं भी उग सकता है, किन्तु मलेशिया तथा मलय पर्वत में इसकी प्रधानता होने से यह मलय चन्दन कहलाता है। कुन्ती ने यह स्तुति पाँच हजार वर्ष पूर्व की थी जिससे यह पता चलता है कि यह चन्दन पाँच हजार वर्ष पूर्व मलेशिया में उगता था। यह हजारों वर्ष पूर्व वैदिक संस्कृति का अनुयायी था। हाँ, अब मलेशिया में रबर के वृक्ष उगते हैं, किन्तु पहले बड़े पैमाने पर चन्दन उगता था, क्योंकि भारत में इसकी विशेष माँग थीं। चूँकि भारत उष्ण देश है और चन्दन शीतलकारी है, अतएव भारत में चन्दन का उपयोग अंगराग के रूप में किया जाता है। अब भी ग्रीष्म ऋतु में अत्यधिक गर्म दिनों में कुछ लोग अपने शरीरों में चन्दन लेप करके सारे दिन शीतलता का अनुभव करते हैं। भारत में यह प्रथा थी कि लोग स्नान करके शरीर में तिलक लगाकर, शरीर को पवित्र करके अर्चाविग्रह को नमस्कार करते, अर्चाविग्रह कक्ष से कुछ *चन्दन-प्रसाद* लेते और शरीर में उसे अंगराग के रूप में मलते। यह *प्रसाधनम्* कहलाता था, किन्तु कलियुग यानी वर्तमान युग में यह कहा जाता है कि *स्नानमेव प्रसाधनम्* (भागवत १२.२.५)—यदि कोई ठीक से स्नान करता है तो वही *प्रसाधन* है। भारत में गरीब से गरीब व्यक्ति भी प्रतिदिन प्रात:काल स्नान करता है, किन्तु जब मैं अमेरिका आया तो मैंने देखा कि यहाँ नित्य स्नान कर पाना भी कठिन है और प्राय: यहाँ की रीति नहीं है। हम भारत में लोगों को दिन में तीन बार स्नान करते देखने के आदी हैं, किन्तु न्यूयार्क में मैंने देखा है कि यदि किसी को स्नान करना है तो उसे अपने मित्र के घर जाना पड़ेगा, क्योंकि उसके घर में स्नान करने की सुविधा नहीं है। ये कलियुग के लक्षण हैं। *स्नानमेव प्रसाधनम्*। कलियुग में स्नान करना भी अत्यन्त कठिन हो जाएगा।

कलियुग का अन्य लक्षण है *दाक्ष्यं कुटुम्बभरणम्* (भागवत १२.२.७)—यदि कोई व्यक्ति अपने परिवार का भरण-पोषण कर सकता है तो वह अपने पुण्यकर्मों के लिए विख्यात हो जाएगा। *दाक्ष्यम्* का अर्थ है "पुण्यकर्म के लिए विख्यात"। यह *दक्ष* शब्द से बना है जिसका अर्थ है "कुशल या पटु"। कलियुग में वह व्यक्ति दक्ष माना जाएगा जो अपना, अपनी पत्नी, अपने बच्चों वाले परिवार का भरण-पोषण कर सके। हाँ, भारत में संयुक्त परिवार की प्रथा है जिसमें वह स्वयं, उसकी पत्नी, उसके माता, पिता, बच्चे आदि होते हैं। किन्तु कलियुग में अपना, अपनी पत्नी तथा कुछ बच्चों वाले परिवार का भरण-पोषण कठिन हो जाएगा। जब मैं न्यूयार्क में रह रहा था तो हमारी कक्षा में एक वृद्धा आती थी जिसका पुत्र सयाना था। मैंने उससे पूछा, "तुम्हारा बेटा विवाह क्यों नहीं कर लेता?" उसने उत्तर दिया, "वह तभी विवाह कर सकता है जब परिवार का भरण कर सके।" मैं नहीं जानता था कि परिवार का भरण यहाँ पर इतना कठिन काम है। किन्तु इसका वर्णन *भागवत* में मिलता है—यदि कोई व्यक्ति अपने परिवार का भरण कर सकता है तो वह यशस्वी पुरुष माना जाएगा और यदि किसी युवती के पति हैं तो वह भाग्यशालिनी मानी जाएगी। हमारा कार्य आलोचना करना नहीं है, किन्तु कलियुग के लक्षण अत्यन्त गम्भीर हैं और वे अधिकाधिक गम्भीर बनते जाएँगे। कलियुग की अवधि ४३२००० वर्ष है और इसमें से अभी केवल ५००० वर्ष बीते हैं। अभी से अनेक कठिनाइयाँ आने लगी हैं। हम ज्यों ज्यों इस कलियुग में बढ़ते जाएँगे त्यों त्यों समय कठिन होता जाएगा। इसलिए सर्वोत्तम उपाय यही है कि हम कृष्णभावनामृत पूरा करके भगवद्धाम लौट जायँ। इससे हम बच जाएँगे। अन्यथा हम कलियुग में दूसरा जीवन बिताने के लिए फिर आएँगे, आगे आनेवाले दिनों को कठिन पाएँगे तथा हमें अधिकाधिक कष्ट उठाने पड़ेंगे।

१६. स्वाभाविक चेतना में लौटना

अपरे वसुदेवस्य देवक्यां याचितोऽभ्यगात्।
अजस्त्वमस्य क्षेमाय वधाय च सुरद्विषाम्॥

अन्य लोग कहते हैं कि चूँकि वसुदेव तथा देवकी दोनों ने आपके लिए ही प्रार्थना की थी अतएव आप उनके पुत्र-रूप में जन्मे हैं। निस्सन्देह आप अजन्मा हैं, फिर भी आप देवताओं का कल्याण करने तथा उनसे ईर्ष्या करने वालों असुरों को मारने के लिए जन्म ग्रहण करते हैं।

—(*श्रीमद्भागवत* १.८.३३)

यह भी कहा जाता है कि वसुदेव-देवकी ने अपने पूर्वजन्म में सुतपा तथा पृश्नि के रूप में भगवान् को पुत्र रूप में प्राप्त करने के लिए कठिन तपस्या की थी। उसके फलस्वरूप भगवान् उनके पुत्र रूप में प्रकट हुए। *भगवद्गीता* में पहले ही घोषित किया जा चुका है कि भगवान् संसार के समस्त लोगों का कल्याण करने तथा असुरों या भौतिकतावादी नास्तिकों का विनाश करने के लिए प्रकट होते हैं।
भगवान कहते हैं—

यदा यदा हि धर्मस्य ग्लानिर्भवति भारत।
अभ्युत्थानमधर्मस्य तदात्मानं सृजाम्यहम्॥

"हे भरतवंशी! जब भी और जहाँ भी धर्म का पतन होता है और

अधर्म की प्रधानता होने लगती है तब तब मैं अवतार लेता हूँ।'' (*भगवद्गीता* ४.७)। *धर्मस्य ग्लानिः* का अर्थ है ''धर्म में अनियमितताएँ''। जब अनियमितताएँ होती हैं तो धर्म कलुषित हो जाता है।

मानव समाज में आत्मा तथा पदार्थ में सही सन्तुलन होना चाहिए। हम वस्तुतः आत्मा हैं, किन्तु न जाने कैसे हम भौतिक शरीरों के भीतर बन्दी हो गये हैं और जब तक ये शरीर हैं तब तक हमें खाने, सोने, संभोग करने तथा रक्षा करने की शारीरिक आवश्यकताओं को स्वीकार करना पड़ता है, यद्यपि आत्मा को इन चीजों की जरूरत नहीं रहती। आत्मा को खाने के लिए किसी चीज की आवश्यकता नहीं है। हम जो भी खाते हैं वह शरीर के पालन हेतु है। किन्तु ऐसी सभ्यता जो इन्हीं शारीरिक आवश्यकताओं पर ध्यान देती है और आत्मा की आवश्यकताओं की परवाह नहीं करती वह मूर्ख असन्तुलित सभ्यता है। मान लीजिये कि कोई व्यक्ति अपने कोट को तो धो लेता है, किन्तु अपने शरीर की परवाह नहीं करता। या यह मान लीजिये कि किसी व्यक्ति के पास पिंजरे में पक्षी है और पिंजरे की परवाह तो करता है, किन्तु उसके भीतर के पक्षी की नहीं करता। यह मूर्खता है। पक्षी चिल्लाता है, ''क, क। मुझे भोजन दो, मुझे भोजन दो।'' यदि मनुष्य केवल पिंजरे की परवाह करता है तो पक्षी किस तरह सुखी रह सकता है?

तो हम दुखी क्यों हैं? पाश्चात्य देशों में धन, भोजन, कार तथा यौन की कोई कमी नहीं हैं। हर चीज प्रचुरता से उपलब्ध है। किन्तु, क्या कारण है कि अब भी लोगों का एक ऐसा वर्ग है जो हताश तथा परेशान है, जैसे कि हिप्पी लोग? वे संतुष्ट नहीं हैं। क्यों? क्योंकि कोई सन्तुलन नहीं है। हम शरीर की आवश्यकताओं की चिन्ता करते हैं किन्तु, आत्मा तथा उसकी आवश्यकताओं की हमें कोई जानकारी नहीं है। आत्मा तो असली वस्तु है और शरीर उसका आवरण मात्र है। इसलिए, आत्मा की उपेक्षा एक प्रकार की *धर्मस्य ग्लानिः* है।

धर्म का अर्थ है ''कर्तव्य''। इसका अनुवाद प्रायः 'रेलिजन' के रूप में किया जाता है जिसकी परिभाषा एक प्रकार के मत या सम्प्रदाय के रूप में दी जाती है, किन्तु धर्म ऐसा नहीं है। धर्म का अर्थ है स्वाभाविक

कर्तव्य। मनुष्य का यह कर्तव्य है कि वह आत्मा की आवश्यकताओं को जाने। किन्तु दुर्भाग्यवश हमें आत्मा की कोई सूचना नहीं है और हम एकमात्र शारीरिक सुविधा के लिए आवश्यकताओं की पूर्ति करने में व्यस्त रहते हैं।

किन्तु शारीरिक सुविधा ही पर्याप्त नहीं। मान लीजिये कि कोई व्यक्ति सुखपूर्वक रह रहा है तो क्या इसका अर्थ यह है कि वह मरेगा नहीं? हम योग्यतम की उत्तरजीविता तथा जीवन के लिए संघर्ष की बातें चलाते हैं, किन्तु एकमात्र शारीरिक सुविधाएँ किसी को स्थायी रूप से रहने या आगे भी जीवित रहने में समर्थ नहीं बनातीं। अतएव एकमात्र शरीर की परवाह करना *धर्मस्य ग्लानिः* कहलाती है।

मनुष्य को शरीर की आवश्यकताओं तथा आत्मा की भी आवश्यकताओं को जानना चाहिए। जीवन की असली आवश्यकता है आत्मा के लिए सुविधाएँ जुटाना। किन्तु आत्मा को भौतिक समझौते द्वारा सुविधा नहीं पहुँचायी जा सकती। चूँकि आत्मा भिन्न सत्ता है अतएव आत्मा को आध्यात्मिक भोजन देना चाहिए और यह आध्यात्मिक भोजन कृष्णभावनामृत है। जब कोई रुग्ण होता है तो उसे उचित भोजन तथा उचित दवा दी जानी चाहिए। उसे दोनों की आवश्यकता रहती है। यदि उसे केवल दवा दी जाय और भोजन न दिया जाय तो उपचार सफल नहीं होगा। इसलिए कृष्णभावनामृत आन्दोलन आत्मा के लिए उचित दवा तथा उचित भोजन दोनों ही दिये जाने के निमित्त है। यह भोजन *कृष्ण-प्रसाद* है और दवा है हरे कृष्ण मन्त्र।

निवृत्ततर्षैरुपगीयमानाद्
भवौषधाच्छ्रोत्रमनोऽभिरामात्।
क उत्तमश्लोकगुणानुवादात्
पुमान् विरज्येत विना पशुघ्नात्॥
(*भागवत* १०.१.४)

परीक्षित महाराज ने महामुनि शुकदेव गोस्वामी से कहा, "आप मुझसे *श्रीमद्भागवत* का जो प्रवचन कर रहे हैं वह सामान्य नहीं है। भागवत

के ये प्रवचन उन लोगों के लिए आस्वाद्य हैं जो *निवृत्ततृष्ण* हैं—लालसाओं से मुक्त हैं। इस जगत में हर व्यक्ति सुख-भोग के लिए लालायित है किन्तु जो इस लालसा से मुक्त है वह भागवत का आस्वादन कर सकता है। *भागवत* शब्द भगवान् से सम्बन्धित किसी भी वस्तु का सूचक है और हरे कृष्ण मन्त्र भी *भागवत* है। इस तरह परीक्षित महाराज ने कहा कि भागवत का आस्वादन वे ही कर सकते हैं जो भौतिक इच्छाओं को तुष्ट करने की लालसाओं से मुक्त हैं। तो इस भागवत का आस्वादन क्यों किया जाना चाहिए? *भवौषधि*—क्योंकि यह हमारे जन्म-मृत्यु के रोग की ओषधि या दवा है।

सम्प्रति हम रुग्णावस्था में हैं। भौतिकवादी यह नहीं जानते कि रोग क्या है और स्वास्थ्य क्या है। वे कुछ भी नहीं जानते। फिर भी अपने को बड़ा विज्ञानी तथा दार्शनिक मानते हैं। वे यह जिज्ञासा नहीं करते, "मैं मरना नहीं चाहता। मुझ पर मृत्यु क्यों लादी जा रही है?" न उनके पास इन समस्याओं का कोई हल रहता है। तो भी वे अपने को विज्ञानी कहते हैं। वे किस तरह के विज्ञानी हैं! विज्ञान की प्रगति के फलस्वरूप ऐसा ज्ञान प्राप्त होना चाहिए जिससे कष्ट को दूर किया जा सके। अन्यथा विज्ञान से क्या लाभ? विज्ञानी यह वादा कर सकते हैं कि भविष्य में हम आपकी सहायता कर सकते हैं, किन्तु हम पूछना चाहेंगे "आप हमें इस समय क्या दे रहे हैं?" असली विज्ञानी यह नहीं कहेगा "इसी तरह कष्ट भोगते जावो। भविष्य में हम ऐसे रासायनिक पदार्थ ढूँढ निकालेंगे जिनसे आपकी सहायता की जा सकेगी।" नहीं। *अत्यन्तिक दुःखनिवृत्तिः*। *अत्यन्तिक* का अर्थ है "चरम, परम" और *दुःख* का अर्थ है "कष्ट"। मानव जीवन का उद्देश्य चरम कष्ट का अन्त करना है, किन्तु लोगों को इतना भी पता नहीं कि ये चरम कष्ट हैं क्या? *भगवद्गीता* में इन कष्टों को *जन्ममृत्युजराव्याधि* के रूप में इंगित किया गया है। हमने इन कष्टों को दूर करने के लिए क्या किया? इस भौतिक जगत में इनका कोई इलाज नहीं है। सभी प्रकार के कष्टों को छोड़ने का आखिरी उपाय *भगवद्गीता* में (८.१५) बतलाया गया है जिसमें भगवान् कहते हैं—

मामुपेत्य पुनर्जन्म दुःखालयमशाश्वतम्।
नाप्नुवन्ति महात्मानः संसिद्धिं परमां गताः॥

"मुझे प्राप्त करके महापुरुष, जो भक्तियोगी हैं, कभी भी दुखों से पूर्ण इस अनित्य जगत में नहीं लौटते क्योंकि उन्हें परम सिद्धि प्राप्त हो चुकी होती।"

इस प्रकार भगवान् यह कहते हैं कि मनुष्य को चाहिए कि उनके पास पहुँचे अर्थात् भगवद्धाम वापस जाय। किन्तु दुर्भाग्यवश लोगों को इसका ज्ञान नहीं है कि ईश्वर क्या है, वह उनके पास तक जा सकता है या नहीं और यह व्यावहारिक है या नहीं। ज्ञान न होने से वे पशुतुल्य हैं। वे प्रार्थना करते हैं "हे ईश्वर! हमें रोजी-रोटी दीजिए।" किन्तु मान लीजिये कि हम इनसे पूछें कि "ईश्वर क्या है?" तो क्या वे बतला सकेंगे? नहीं। तब वे किसकी याचना कर रहे हैं? क्या ये हवा में प्रार्थना कर रहे हैं? यदि मैं कोई याचिका दायर करूँ तो कोई व्यक्ति होना चाहिए जिसके पास याचिका दायर की जा सके। किन्तु वे नहीं जानते कि वह व्यक्ति कौन है, अथवा वह याचिका कहाँ दायर की जानी है। वे कहते हैं कि ईश्वर आकाश में है। किन्तु आकाश में अनेक पक्षी भी तो हैं। क्या वे ईश्वर हैं? लोगों को या तो अपूर्ण ज्ञान है या है ही नहीं। फिर भी वे विज्ञानी, दार्शनिक, लेखक तथा महान चिन्तक बनते हैं, यद्यपि उनके विचार एकदम कूड़ा हैं।

वास्तव में एकमात्र उपयोगी पुस्तकें वे हैं जो *श्रीमद्भागवत* तथा *भगवद्गीता* जैसी हैं। *भागवत* में (१.५.१०-११) कहा गया है—

न यद्वचश्चित्रपदं हरेर्यशो
जगत्पवित्रं प्रगृणीत कर्हिचित्।
तद्वायसं तीर्थमुशन्ति मानसा
न यत्र हंसा निरमन्त्युषिक्षयाः॥

"जो वाणी सम्पूर्ण ब्रह्माण्ड के वायुमण्डल को पवित्र करने वाले भगवान् की महिमा का वर्णन नहीं करती उसे साधुपुरुष कौवों के तीर्थस्थान के सदृश मानते हैं। चूँकि परमहंस पुरुष दिव्यलोक के वासी होते हैं अतः

उन्हें ऐसे तीर्थस्थान में कोई आनन्द नहीं मिलता।''

तद्वाग्विसर्गो जनताघविप्लवो
यस्मिन् प्रतिश्लोकमबद्धवत्यपि।
नामान्यनन्तस्य यशोऽङ्कितानि यत्
शृण्वन्ति गायन्ति गृणन्ति साधवः॥

''दूसरी ओर, जो साहित्य असीम परमेश्वर के नाम, यश, रूपों तथा लीलाओं की दिव्य महिमा की चर्चाओं से पूर्ण है वह कुछ भिन्न ही रचना है जो इस जगत की गुमराह सभ्यता के अपवित्र जीवन में क्रान्ति लाने वाले दिव्य शब्दों से ओतप्रोत है। ऐसा साहित्य ठीक से रचा न होने पर भी नितान्त ईमानदार पवित्र व्यक्तियों द्वारा सुना, गाया तथा स्वीकार किया जाता।''

जिस साहित्य का ईश्वर से कोई सम्बन्ध न हो वह उस स्थान के तुल्य है जहाँ कौवे क्रीडा करते हैं। कौवे कहाँ क्रीडा करते हैं? गन्दे स्थान में। किन्तु श्वेत हंस उद्यानों से घिरे निर्मल जल में विहार करते हैं। अतः पशुओं में भी प्राकृतिक विभाग हैं। कौवे हंस के पास नहीं जावेंगे और हंस कौवे के पास। इसी तरह मानव समाज में कौवों तथा हंसों की तरह के व्यक्ति हैं। हंसतुल्य व्यक्ति कृष्णभावनामृत के केन्द्रों में आवेंगे जहाँ हर वस्तु स्वच्छ है, जहाँ उत्तम दर्शन, उत्तम भोजन, उत्तम शिक्षा, उत्तम बुद्धि है, किन्तु कौवे सदृश व्यक्ति क्लबों, भोजों, नग्न नृत्य प्रदर्शनों तथा ऐसी ही अन्य वस्तुओं को देखने जाएँगे।

अतः कृष्णभावनामृत आन्दोलन हंस जैसे व्यक्तियों के लिए है, कौवे सदृश व्यक्तियों के लिए नहीं है। किन्तु हम कौवों को हंसों में परिणत कर सकते हैं। यही हमारा दर्शन है। जो पहले कौवों के समान थे वे अब हंसों की तरह तैर रहे हैं। कृष्णभावनामृत का यही लाभ है।

भौतिक जगत ऐसा स्थान है जहाँ हंस कौवे बन चुके हैं। भौतिक जगत में जीव भौतिक शरीर के भीतर बन्दी रहता है और वह एक के बाद दूसरे शरीर में अपनी इन्द्रियों की तृप्ति करना चाहता है। किन्तु धर्म की पुनःस्थापना से ये कौवे क्रमशः हंसों में बदल जाएँगे। उदाहरणार्थ,

एक अशिक्षित तथा असभ्य व्यक्ति को प्रशिक्षण द्वारा शिक्षित एवं सभ्य पुरुष में बदला जा सकता है।

यह प्रशिक्षिण मनुष्य-जीवन में सम्भव है। मैं कुत्ते को भक्त बनने का प्रशिक्षण नहीं दे सकता। यह कठिन है। हाँ, ऐसा भी किया जा सकता है, यद्यपि मैं इसे कर पाने के लिए पर्याप्त बलशाली नहीं हूँ। जब श्रीचैतन्य महाप्रभु झारखंड के जंगलों से होकर यात्रा कर रहे थे तो बाघ, साँप, हिरन तथा अन्य सारे पशु भक्त बन गये। श्री चैतन्य महाप्रभु के लिए यह सम्भव था, क्योंकि वे साक्षात् ईश्वर हैं अतएव वे कुछ भी कर सकते हैं। यद्यपि हम ऐसा नहीं कर सकते, किन्तु मानव समाज में कार्य तो कर सकते हैं। इसका विचार न करके कि मनुष्य कितना पतित है, वह कृष्णभावनामृत के उपदेशों का पालन करे तो वह अपनी आदि स्थिति में लौट सकता है। निस्सन्देह ज्ञान की कोटियाँ हैं, किन्तु किसी व्यक्ति की आदि स्थिति यह है कि वह ईश्वर का अंश है। इस स्थिति की समझ ब्रह्म-साक्षात्कार या आध्यात्मिक साक्षात्कार कहलाती है और यह वही अनुभूति है कि कृष्ण इस जगत में पुनर्स्थापना करने आते हैं।

कृष्ण इस जगत में अपने भक्त वसुदेव तथा देवकी की प्रार्थना पर आये (*वसुदेवस्य देवक्यां याचितोऽभ्यगात्*)। यद्यपि अपने पहले के जन्मों में वसुदेव तथा देवकी विवाहित थे, किन्तु उनके कोई सन्तान न थी। उन्होंने घोर तपस्या की और कृष्ण ने उनके सामने आकर उनसे पूछा कि वे क्या चाहते हैं तो उन्होंने कहा, "हम आप जैसा पुत्र चाहते हैं। यही हमारी इच्छा है।" किन्तु दूसरा ईश्वर कैसे हो सकता है? कृष्ण ईश्वर हैं और ईश्वर एक है, वे दो नहीं हो सकते। अतएव वसुदेव तथा देवकी का पुत्र बनने के लिए दूसरा ईश्वर कैसे आता? इसीलिए कृष्ण ने कहा, "दूसरा ईश्वर ढूँढ पाना सम्भव नहीं, अतएव मैं स्वयं ही तुम लोगों का पुत्र बनूँगा।" इसलिए कुछ लोग कहते हैं कि चूँकि वसुदेव तथा देवकी कृष्ण को अपने पुत्र रूप में चाहा इसीलिए वे प्रकट हुए।

कृष्ण यद्यपि वसुदेव तथा देवकी जैसे अपने भक्तों को तुष्ट करने आते हैं, किन्तु जब वे आते हैं तो अन्य कार्य भी सम्पन्न करते हैं। *वधाय च सुरद्विषाम्*। *वधाय* का अर्थ है "मारने के लिए" तथा *सुरद्विषाम्* उन

असुरों का द्योतन करता है जो भक्तों से सदैव ईर्ष्या करते हैं। कृष्ण इन्हीं असुरों को मारने के लिए आते हैं।

असुर का एक उदाहरण हिरण्यकशिपु है। चूँकि प्रह्लाद महाराज भक्त थे, अतएव उनका पिता हिरण्यकशिपु इतनी ईर्ष्या करता था कि वह अपने ही पुत्र को मार डालने पर उतारू था। इस छोटे से बालक का यह दोष था कि वह हरे कृष्ण कीर्तन करता था। असुरों की ऐसी ही प्रवृत्ति है। जीसस क्राइस्ट भी *सुरद्विषाम्* द्वारा, ईर्ष्या करने वालों के द्वारा, मारे गये। आखिर उनका क्या दोष था? उनका एकमात्र दोष यही था कि वे ईश्वर के विषय में उपदेश देते थे। फिर भी उनके तमाम शत्रु थे जिन्होंने उन्हें क्रास पर चढ़ा दिया। अतएव कृष्ण ऐसे *सुरद्विषाम्* का वध करने के लिए आते हैं।

हाँ, ऐसे ईर्ष्यालु लोगों के बध का कार्य कृष्ण के बिना भी सम्पन्न किया जा सकता है। कृष्ण अकाल, बीमारी आदि के द्वारा करोडों लोगों का सफाया कर सकते है। उन्हें इन धूर्तों का वध करने के लिए आने की आवश्यकता नहीं है, क्योंकि ये लोग उनके निर्देश पर अथवा प्रकृति के नियम द्वारा ही मारे जा सकते हैं। *सृष्टिस्थितिप्रलयसाधनशक्तिरेका* (*ब्रह्म-संहिता* ५.४४)। प्रकृति में इतनी शक्ति है कि यह हर वस्तु का सृजन, पालन तथा संहार कर सकती है। यह भौतिक विराट जगत प्रकृति की कृपा से ही स्थिर है और प्रकृति की कृपा से धूप, वायु तथा वर्षा प्राप्त करता है और इस वर्षा से ही अन्न उत्पन्न होता है जिसे हम खाते हैं और बढ़ते हैं। किन्तु प्रकृति इतनी शक्तिशाली है कि एक ही प्रबल झोंके से हरवस्तु को विनष्ट कर सकती है। यह प्रकृति कृष्ण के निर्देशन में कार्य करती है (*मयाध्यक्षेण प्रकृतिः सूयते सचराचरम्*)। इसलिए यदि कृष्ण असुरों को मारना चाहें तो वायु के एक ही प्रबल झकोरे से वे करोड़ों असुरों को मार सकते हैं।

अतएव असुरों को मारने के लिए कृष्ण को आने की आवश्यकता नहीं है। जब वे आते हैं तो वसुदेव तथा देवकी जैसे अपने भक्तों की प्रार्थना पर आते हैं जैसा कि कुन्तीदेवी ने *याचितः* शब्द का प्रयोग करते हुए इंगित किया है। अतएव उनके आने का असली कारण उनके भक्तों

की प्रार्थना है, किन्तु जब वे आते हैं तो वे यह दिखलाते हैं कि वे अपने भक्तों से ईर्ष्या करने वाले किसी का भी वध कर सकते हैं। निस्सन्देह उनके द्वारा वध किया जाना तथा पालन-पोषण किया जाना एक है, क्योंकि वे परम हैं। जो लोग कृष्ण द्वारा मारे जाते हैं वे तुरन्त मोक्ष प्राप्त करते हैं जिसे पाने में सामान्यतया लाखों वर्ष लग जाते हैं।

अतएव लोग कह सकते हैं कि कृष्ण अमुक अमुक कार्यों के लिए आते हैं, किन्तु वास्वविकता तो यह है कि वे अपने भक्तों के लाभ हेतु आते हैं। वे भक्तों के कल्याण का ध्यान रखते हैं और कुन्ती की इस शिक्षा से हमें यह समझना चाहिए कि हमें इसकी चिन्ता होनी चाहिए कि हम किस तरह भक्त बनें। तब सारे सद्गुण स्वयमेव आ जाएँगे।

यस्यास्ति भक्तिर्भगवत्यकिञ्चना
सर्वैर्गुणैस्तत्र समासते सुराः॥
(*भागवत* ५.१८.१२)

यदि कोई व्यक्ति केवल अपनी सुप्त स्वाभाविक कृष्णभक्ति को विकसित कर ले तो उसमें सारे सद्गुण आ जावेंगे।

कृष्ण के प्रति हमारी भक्ति स्वाभाविक है। जिस तरह पुत्र में अपने माता-पिता के लिए स्वाभाविक भक्ति होती है उसी तरह हममें कृष्ण के लिए स्वाभाविक भक्ति होती है। जब कोई संकट आता है तो भौतिकतावादी विज्ञानी तक ईश्वर से प्रार्थना करते हैं। हाँ, जब वे संकट में नहीं होते तो ईश्वर को ललकारते हैं, अतएव इन धूर्तों को यह सिखाने के लिए कि ईश्वर है संकट आवश्यक है। *जीवेर स्वरूप हय—कृष्णेर नित्यदास*—हमारी स्वाभाविक स्थिति ईश्वर पर आश्रित है। हम कृत्रिम रूप से ईश्वर को यह कहकर देश-निकाला देना चाहते हैं कि "ईश्वर मृत है, ईश्वर नहीं है या मैं ही ईश्वर हूँ।" किन्तु जब हम यह धूर्तता त्याग देंगे तो कृष्ण हमें सारी सुरक्षा प्रदान करेंगे।

१७. संसार का भार उतारना

भारावतारणायान्ये भुवो नाव इवोदधौ।
सीदन्त्या भूरिभारेण जातो ह्यात्मभुवार्थित:॥

कुछ कहते हैं कि जब यह संसार भार से बोझिल समुद्री नाव की भाँति अत्यधिक पीड़ित हो उठा तथा आपके पुत्र ब्रह्मा ने प्रार्थना की तो आप कष्ट का शमन करने के लिए अवतरित हुए हैं।

—(*श्रीमद्भागवत १.८.३४*)

ब्रह्मा परमपिता परमेश्वर के पुत्र हैं। वे माता के गर्भ में स्थापित नहीं किये गये थे। इसीलिए वे *आत्मभू* कहलाये। यही ब्रह्मा इस ब्रह्माण्ड की सारी अगली सृष्टियों के लिए उत्तरदायी हैं जो सर्वशक्तिमान की शक्ति द्वारा गौण रूप में प्रतिबिम्बित हैं। इस ब्रह्माण्ड-मण्डल के भीतर श्वेतद्वीप नामक एक दिव्य लोक है जो क्षीरोदकशायी विष्णु या परमेश्वर के परमात्मा-रूप का धाम है। जब ब्रह्माण्ड में कोई ऐसा संकट उत्पन्न होता है जिसे अधिशासी देवता नहीं सुलझा पाते तो वे इसे दूर करने के लिए ब्रह्माजी के पास जाते हैं। यदि ब्रह्माजी भी इसे नहीं सुलझा पाते तो वे क्षीरोदकशायी विष्णु के पास परामर्श करने जाते हैं और इस समस्या का समाधान करने के लिए उनसे अवतार लेने की प्रार्थना करते हैं। ऐसी समस्या कंस के शासन काल में उत्पन्न हुई और यह पृथ्वी असुरों के दुष्कर्मों से बोझिल हो उठी। तब अनेक देवताओं सहित ब्रह्मा

ने क्षीरोदक सागर के तट पर जाकर प्रार्थना की। तब उन्हें बताया गया कि कृष्णजी वसुदेव तथा देवकी के पुत्र रूप में अवतार लेंगे। अतएव कुछ लोग कहते हैं कि भगवान् का आविर्भाव ब्रह्माजी की प्रार्थना करने पर हुआ।

कुन्तीदेवी विभिन्न व्यक्तियों के उन विभिन्न कथनों का वर्णन कर रही हैं जो बताते हैं कि कृष्ण क्यों प्रकट होते हैं। कुछ लोग कहते हैं कि कृष्ण वसुदेव तथा देवकी की प्रार्थना पर प्रकट हुए और कुछ कहते हैं कि वे ब्रह्मा की प्रार्थना पर प्रकट हुए। *भारावतारणायान्ये भुवो नाव इवोदधौ*—कुछ कहते हैं कि जब यह संसार भार से बोझिल समुद्री नाव की भाँति अत्यधिक पीड़ित हो उठा तो वे उस भार को कम करने के लिए प्रकट हुए। जब संसार बोझिल हो उठता है तो युद्ध, महामारी, अकाल आदि आते हैं। यह प्रकृति का नियम है।

यह पृथ्वी अन्तरिक्ष में करोडों अन्य ग्रहों के मध्य तैर रही है और इन सबों में विशाल पर्वत तथा सागर हैं। यह पृथ्वी इसलिए तैरती है क्योंकि कृष्ण इसके भीतर उसी तरह प्रवेश कर जाते हैं जैसे वे परमाणु के भीतर करते हैं। इसका वर्णन *भगवद्गीता* में हुआ है (*माम् आविश्य*)। यह पृथ्वी भाररहित नहीं है, यह अत्यन्त भारी है। किन्तु यह इसलिए तैरती है क्योंकि इसके भीतर परमात्मा रहते हैं।

हर वस्तु आत्मा की उपस्थिति से प्रकाशित होती है। मनुष्य का शरीर जल पर तब तक तैरता है जब तक वह जीवित रहता है, किन्तु आत्मा के निकलते ही शरीर तुरन्त डूब जाता है। जब तक बच्चा जीवित रहता है तब तक हम उसे एक हाथ से उठाये चल सकते हैं, किन्तु मरते ही वह भारी हो जाता है। अतएव यद्यपि अभी हम भारी हैं किन्तु हम आध्यात्मिक रूप से आगे बढ़ जावेंगे तो हम सारी अड़चनों से मुक्त हो जावेंगे। अभी हम वायु में नहीं उड़ सकते, किन्तु आत्मा इतनी हल्की है कि जब यह शरीर से मुक्त होती है तो क्षण भर में आध्यात्मिक जगत या वैकुण्ठलोक पहुँच सकती है (*त्यक्त्वा देहं पुनर्जन्म नैति मामेति*)।

तब यह पृथ्वी क्योंकर बोझिल होती है? यह उन असुरों की उपस्थिति के कारण बोझिल हो उठती है जो भक्ति के विरोधी हैं। जब पृथ्वी माता

को लगने लगता है कि यह भार अत्यधिक है तो पृथ्वी का भार उतारने के लिए कृष्ण आते हैं। यदि जहाज में अधिक बोझा लदा हो तो उसकी स्थिति बड़ी भयानक हो उठती है। वह किसी भी क्षण डूब सकती है। इसलिए जब असुरों से बोझिल होने के कारण माता पृथ्वी अत्यधिक बेचैन हो उठीं (*सीदन्त्या भूरिभारेण*)) तो वे इस ब्रह्माण्ड के मुख्य जीव ब्रह्माण्ड के मुख्य पुरुष ब्रह्मा के पास पहुँचीं। जब आवश्यकता पड़ती है तो ब्रह्माण्ड के मुख्य पुरुष ब्रह्मा के पास पहुँचते हैं जो भार कम कराने के लिए विष्णु के पास जाते हैं। तब विष्णु या कृष्ण अवतार के रूप में प्रकट होते हैं जैसा कि *भगवद्गीता* में (४.७) कहा गया है—

यदा यदा हि धर्मस्य ग्लानिर्भवति भारत।
अभ्युत्थानमधर्मस्य तदात्मानं सृजाम्यहम्॥

"हे भरतवंशी! जब भी, जहाँ भी धर्म का पतन होता है और अधर्म की प्रधानता होने लगती है तब तब मैं अवतार लेता हूँ।"

जब राज्य में अत्यधिक अनाचार होने लगता है और अनेक अपराधी हो जाते हैं तो राज्य बोझिल और व्यग्र हो उठता है और राज्य के अधिशासकों की समझ में नहीं आता कि वे क्या करें। इसी तरह जब पृथ्वी पर असुरों तथा नास्तिकों का बोलबाला रहता है तो उसका भार बढ़ता है और ब्रह्माण्ड के पवित्र अधिशासक देवतागण चिन्तित हो उठते हैं। जब राज्य के लोग नियमों का पालन करते हैं तो शासन सरलता से चलता है, किन्तु यदि लोग अपराधी हैं तो वे राज्य अधिशासकों को नाकों चने चबवाने लगते हैं। कभी कभी ऐसी ही परिस्थिति से इस भौतिक जगत का संतुलन डगमगाता है। असुर तथा देवता सदा से साथ साथ रहे हैं, किन्तु जब आसुरी शक्ति बढ़ जाती है तो जगत बोझिल हो उठता है। तभी देवतागण ब्रह्मा के पास सहायता के लिए जाते हैं।

ब्रह्माजी द्वादश महाजनों में से एक हैं (*स्वयम्भूर्नारदः शम्भुः कौमारः कपिलो मनुः। प्रह्लादो जनको भीष्मो बलिर्वैयासकिर्वयम्*, भागवत ६.३.२०)। हमें महाजनों का अर्थात् महान अधिकारियों का अनुगमन करना होगा, यदि हम दिव्य ज्ञान चाहते हैं। वैदिक आदेश है—*तद्विज्ञानार्थं स*

गुरुमेवाभिगच्छेत्—यदि कोई व्यक्ति हर वस्तु का ज्ञान प्राप्त करना चाहता है तो उसे प्रामाणिक अधिकारी अर्थात् गुरु के पास जाना चाहिए। आदि गुरु कृष्ण हैं। जिस तरह कृष्ण ने अर्जुन को शिक्षा दी उसी तरह उन्होंने ब्रह्मा को भी शिक्षा दी, जैसा कि *श्रीमद्भागवत* में कहा गया है (*तेने ब्रह्म हृदा य आदि कवये*)।

श्रीमद्भागवत में सृष्टि के आदि स्रोत का वर्णन हुआ है। हमारी शोध का असली विषय यही होना चाहिए। सृष्टि का आदि स्रोत क्या है? *जन्माद्यस्य यत:*—हर वस्तु का आदि स्रोत तो जन्म, स्थिति तथा प्रलय का स्रोत है। हमारे शरीर ने एक निश्चित तिथि में जन्म लिया, यह कुछ वर्षों तक—दस, बीस, पचास या जितने भी वर्ष हों—रहता है और फिर समाप्त हो जाता है। यह शरीर कहाँ से आया और नष्ट होने पर कहाँ जाएगा? ये ऊर्जा की अविनाशिता विषयक वैज्ञानिक नियम हैं। उस शक्ति का क्या स्रोत है? इसका स्रोत है (*यतो वा इमानि भूतानि जायन्ते*) और इस स्रोत की पहचान *श्रीमद्भागवत* में की गई है।

यह कोई अन्धा स्रोत नहीं है। धूर्त यह सोचते हैं कि हर वस्तु शून्य से आई। किन्तु कोई वस्तु शून्य से कैसे उत्पन्न हो सकती है? इसका कोई प्रमाण नहीं है कि ऐसा होता है, किन्तु मूर्ख दावा करते हैं कि ऐसा होता है इसलिए वे अन्धे हैं। उस आदि स्रोत का क्या स्वभाव है जिससे सारी वस्तुएँ निकली हैं, जिसमें वे विद्यमान हैं और जिसमें वे प्रवेश करेंगी? *भागवत* का (१.१.१) कथन है—*जन्माद्यस्य यतोऽन्वयाद् इतरतश्चार्थेष्वभिज्ञ:*। *अभिज्ञ:* शब्द सूचित करता है कि हर वस्तु का स्रोत पूर्णतया भिज्ञ है।

ज्ञ का अर्थ "ज्ञान" है और *अभि* का अर्थ "विशिष्ट" है। हमें इसका अपर्याप्त ज्ञान है कि हम कहाँ से आये और मृत्यु के बाद कहाँ जाएँगे। इसीलिए हम *अभिज्ञ* अर्थात् पूर्णतया भिज्ञ नहीं हैं। किन्तु परम स्रोत *अभिज्ञ* है। वह न तो पत्थर है न शून्य। तो वह कैसा हो सकता है? सृष्टि स्वयं ही परमेश्वर की चेतना का प्रमाण है। हर व्यक्ति इस विराट जगत की तथा इसकी कार्य-प्रणाली की प्रशंसा कर सकता है। सूर्य तथा चन्द्रमा समय से उदय होते हैं—उदय होने में एक सेकेंड के

दस हजारवें भाग का भी अन्तर नहीं पड़ता। वस्तुएँ भी उसी तरह से बदलती हैं और अपने साथ फूल-फल लाती हैं। इस तरह यह समूचा ब्रह्माण्ड अत्यन्त व्यवस्थित ढंग से चल रहा है। अतएव जब तक कोई *अभिज्ञ*—हरबात जानने वाली कोई चतुर बुद्धि—न हो तब तक यह सब कैसे उत्पन्न हुआ? कुछ लोग कहते हैं कि यह सब शून्य से उत्पन्न हुआ। यह कैसी बेहूदगी है? क्या ऐसी सृष्टि शून्य से उत्पन्न हो सकती है? क्या यह विचार अत्यन्त तर्कयुक्त है? *भागवत* का कहना है कि नहीं है।

भागवत का कहना है कि हर वस्तु ऐसे पुरुष से उद्भूत है जो *अभिज्ञ* है—अत्यन्त बुद्धिमान तथा अनुभवी है, और उस आदि बुद्धिमान पुरुष ने यह ज्ञान *आदिकवि* ब्रह्मा को दिया (*तेने ब्रह्म हृदा य आदिकवये*)। ब्रह्मा का भी आदि स्रोत है और वे उस स्रोत के सम्पर्क में रहते हैं। हम जानते हैं कि हमें ज्ञान उस दूसरे व्यक्ति से मिलता है जो हमारे सामने होता है। किन्तु जब ब्रह्मा उत्पन्न हुए तो वे अकेले थे। तो फिर उन्हें यह ज्ञान कैसे मिला? इसकी व्याख्या *भागवत* में मिलती है—*तेने ब्रह्म हृदा*। *हृदा* का अर्थ है "हृदय के माध्यम से"। परमात्मा हरजीव के हृदय में वास करता है। ब्रह्मा के भी हृदय में वास करता है। इसलिए अकेले होने पर भी ब्रह्मा को परमात्मा द्वारा दिया हुआ ज्ञान प्राप्त हुआ। *ब्रह्म* का अर्थ है "वैदिक ज्ञान"। इस तरह वैदिक ज्ञान सर्वप्रथम ब्रह्मा को प्रदान हुआ।

वैदिक ज्ञान हर एक को दिया जाता है, क्योंकि कृष्ण हर एक के हृदय के भीतर हैं (*सर्वस्य चाहं हृदि सन्निविष्ट:*) किन्तु उस ज्ञान को प्राप्त करने की योग्यता होनी चाहिए। कृष्ण हमें परमात्मा के रूप में भीतर से (*चैत्यगुरू*) तथा गुरू के रूप में बाहर से ज्ञान प्रदान करके हमारी सहायता करते हैं।

ब्रह्मा को कृष्ण से ज्ञान प्राप्त होता है और वे उस ज्ञान का वितरण करते हैं अतएव वे महाजन हैं। जिन चार सम्प्रदायों द्वारा वैज्ञानिक ज्ञान वितरित किया जाता है वे हैं—ब्रह्मा का, लक्ष्मी का, शिव का तथा कुमारों का सम्प्रदाय। हमें इन सम्प्रदायों में प्रकट होने वाले किसी कृष्ण-प्रतिनिधि

के पास जाना होता है। तभी हम असली ज्ञान प्राप्त कर सकते हैं। इस तरह साक्षात् पृथ्वी ब्रह्मा के पास पहुँची, जिन्होंने भगवान् से प्रार्थना की, "इस समय यह जगत असुरों से बोझिल हो रहा है, अतएव आपसे प्रार्थना है कि आप प्रकट हों"। इसीलिए कुछ लोग कहते हैं कि ब्रह्मा के इस अनुनय-विनय पर भगवान् प्रकट हुए जिससे कि वे पृथ्वी के भार को हल्का करें।

जब कृष्ण प्रकट होते हैं तो वे भक्तों की रक्षा करते हैं और असुरों का वध करते हैं। इसीलिए नारायण रूप में कृष्ण के चार हाथ होते हैं। वे दो हाथों में असुरों को मारने के लिए चक्र तथा गदा लिये रहते हैं और अन्य दो हाथों में भक्तों को वर देने तथा उनकी रक्षा करने के लिए शंख तथा कमल लिये रहते हैं। भगवान् कहते हैं— *कौन्तेय प्रतिजानीहि न मे भक्त: प्रणश्यति*। अत: कृष्ण अपना शंख बजाते हैं "मेरे भक्त कभी विनष्ट नहीं होंगे।" और कमल के फूल से वे अपना आशीर्वाद देते हैं। कमल का फूल, जो कभी कभी लक्ष्मी जी के भी हाथों में दिखता है, आशीर्वाद का प्रतीक है।

अब कोई यह कह सकता है कि कृष्ण अमुक अमुक कार्य के लिये प्रकट हुए, किन्तु सही निष्कर्ष यह है कि कृष्ण अपने ही आनन्द के लिए प्रकट होते हैं, किसी अन्य कारण के अधीन होकर नहीं। हम इसलिए जन्म लेते हैं, क्योंकि *कर्म* से बँधे हैं, किन्तु कृष्ण पूर्ण स्वतन्त्र होने के कारण न तो किसी के अनुरोध पर, न ही कर्मवश आते हैं। प्रत्युत वे अपनी स्वतन्त्र इच्छा से (*आत्ममायया*) आते हैं। हम कृष्ण की बहिरंगा शक्ति के कारण जन्म लेने को बाध्य होते हैं, किन्तु कृष्ण अन्य किसी की माया या शक्ति के द्वारा नियन्त्रित नहीं होते, इसलिए वे इस अवस्था में जन्म नहीं लेते। माया कृष्ण के नियन्त्रण में है अत: माया उनको कैसे नियन्त्रित कर सकती है? जो व्यक्ति सोचता है कि कृष्ण हमारी तरह माया द्वारा नियन्त्रित होते हैं उसे *भगवद्गीता* में *मूढ* अर्थात् मूर्ख कहा गया है (*अवजानन्ति मां मूढा मानुषीं तनुमाश्रितम्*)।

कृष्ण आदि नारायण हैं। सृष्टि के बाद उत्पन्न प्रथम जीव ब्रह्मा नारायण के पुत्र हैं। गर्भोदकशायी विष्णु के रूप में नारायण पहले ब्रह्माण्ड में प्रविष्ट

हुए। आध्यत्मिक स्पर्श के बिना पदार्थ सृजन नहीं कर सकता। जो लोग भौतिक सृष्टि के आदि कारण की खोज करते हैं उन्हें जान लेना चाहिए कि आत्मा के उपस्थित होने पर ही सृजन कार्य सम्भव है। आत्मा द्वारा पदार्थ सक्रियित होता है। आत्मा पदार्थ द्वारा सृजित नहीं होता।

बौद्धवाद के अनुसार प्राण की सृष्टि भौतिक अवस्थाओं द्वारा होती है। सम्प्रति सारा जगत इस बौद्धवाद से प्रभावित है। किन्तु असलियत यह है कि पदार्थ का विकास प्राण की उपस्थिति में होता है। इसे हम आसानी से समझ सकते हैं। बच्चा जन्म लेने के बाद बढ़ता है और उसका शरीर विकास करता है, किन्तु यदि मृत बच्चा जन्म ले, यदि उसमें आत्मा उपस्थित न रहे तो शरीर विकास नहीं कर सकता। इसीलिए पदार्थ के विकास हेतु आत्मा आधारभूत है। इसका विलोम सच नहीं है। आखिर मृत बालक क्यों नहीं बढ़ता? क्योंकि आत्मा नहीं रहता। वृक्ष तब तक बढ़ता है जब तक उसमें जीवन रहता है। यदि हम बरगद का छोटा सा बीज अच्छी मिट्टी में बो दें और उसे सींचें तो वह उग उठेगा, क्योंकि उसमें आत्मा उपस्थित है। किन्तु यदि इसी बीज को आग में भूनने के बाद बोवें तो वह उग नहीं सकेगा, क्योंकि उसमें आत्मा नहीं है।

पदार्थ आत्मा की उपस्थिति के कारण ही बढ़ता है। यह नियम सृष्टि के प्रारम्भ से ही चलता रहता है। सृष्टि के प्रारम्भ में परमात्मा ने ब्रह्माण्ड में प्रवेश किया और पहले जीव ब्रह्मा की उत्पत्ति विष्णु के दिव्य उदर से उगे कमल फूल पर हुई। यदि यह मान लें कि जिस कमल पर ब्रह्मा उत्पन्न हुए वह पदार्थ है तो हमें यह समझना होगा कि वह भी आत्मा से उगा है। इसलिए आत्मा सृष्टि का आधार है।

चूँकि जिस कमल के फूल पर ब्रह्मा उत्पन्न होते हैं वह विष्णु की नाभि से निकला है, इसलिए भगवान् विष्णु पद्मनाभ कहलाते हैं। ब्रह्मा *आत्म-भू* कहलाते हैं, क्योंकि वे पिता नारायण या विष्णु से उत्पन्न हुए थे। उन्होंने माता लक्ष्मी का स्पर्श नहीं किया था। लक्ष्मी जी नारायण के निकट उनकी सेवा में रत थीं फिर भी लक्ष्मीजी के सम्पर्क में आये बिना ही नारायण ने ब्रह्मा को जन्म दिया। यही भगवान् की सर्वशक्तिमत्ता है। जब हम शिशु उत्पन्न करना चाहते हैं तो हमें पत्नी की आवश्यकता

पड़ती है क्योंकि हम अकेले शिशु उत्पन्न नहीं कर सकते। किन्तु कृष्ण या कि भगवान् विष्णु ने अपनी पत्नी लक्ष्मी के बिना ही ब्रह्मा को उत्पन्न किया क्योंकि वे किसी वस्तु पर आश्रित नहीं हैं। जो व्यक्ति मूर्खतावश नारायण को अन्य जीवों के समान मानता है उसे इससे शिक्षा ग्रहण करनी चाहिए।

वैदिक वाङ्मय निषेध करता है कि अन्य जीवों को नारायण के समान स्तर पर सोचा जाय।

यस्तु नारायणं देवं ब्रह्मरुद्रादिदैवतैः।
समत्वेनैव वीक्षेत स पाषण्डी भवेद् ध्रुवम्॥

कुछ लोगों ने *दरिद्रनारायण* शब्द की खोज यह दिखाने के लिए की है कि नारायण दरिद्र हो गये हैं और जो भिखारी मेरे दरवाजे भीख माँगता है वह भी नारायण है। वैदिक साहित्य में इसे मान्यता नहीं मिली। नारायण लक्ष्मी के स्वामी हैं और जो मूर्ख हैं वे ही सोचते हैं कि नारायण दरिद्र बन जाते हैं। धूर्त लोग कहते हैं कि नारायण, ब्रह्मा, शिव, सारे देवता, आप, मैं तथा अन्य सारे लोग समान स्तर पर हैं। यह मूर्खता है। नारायण *असमौर्ध्व* हैं। इसका अर्थ यह है कि कोई न तो उनके तुल्य है, न उनसे बड़ा। इसलिए स्वयं कृष्ण या आदि नारायण *भगवद्गीता* में कहते हैं—*मत्तःपरतरं नान्यत्*—मुझसे श्रेष्ठ कोई नहीं है। न ही कोई उनके तुल्य है। *असम* का अर्थ है कि कोई उनके तुल्य नहीं है और *अनूर्ध्व* का अर्थ है कि कोई उनसे बड़ा नहीं है। भगवान् की स्थिति ऐसी है।

नारायण कोई सामान्य जीव नहीं। वे स्वयं भगवान् हैं और उनके दिव्य शरीर के सभी अंगों में सारी इन्द्रियों की शक्तियाँ होती हैं। सामान्य जीव मैथुन द्वारा शिशु को जन्म देता है और इसके अतिरिक्त सन्तान उत्पन्न करने का कोई साधन उसके पास नहीं है। किन्तु नारायण सर्वशक्तिमान हैं, अतएव वे अपनी नाभि से सन्तान उत्पन्न कर सकते हैं। उनके शरीर के अंग-प्रत्यंग में पूर्ण शक्ति होती है जैसा कि *ब्रह्म-संहिता* में (५.३२) कहा गया है—*अंगानि यस्य सकलेन्द्रियवृत्तिमन्ति*। उदाहरणार्थ, मैं अपनी आँखों से देख सकता हूँ किन्तु कृष्ण अपनी आँखों से खा भी सकते

हैं। मूर्ख धूर्त कहेंगे, "आप कृष्ण को यह भोजन अर्पित कर रहे हैं, किन्तु उन्होंने खाया कहाँ? यह तो जैसे का तैसा है। उन्होंने कुछ नहीं खाया।" ऐसे लोग यह नहीं जानते कि कृष्ण देखकर ही खा सकते हैं क्योंकि वे अपने दिव्य शरीर के किसी अंग से कोई भी कार्य कर सकते हैं। जब मथुरा में धोबी ने कृष्ण को कपड़े देने से इनकार कर दिया तो कृष्ण ने उस व्यक्ति के सिर को अपने हाथ से काट कर दिव्य शक्ति का प्रदर्शन किया। यह कैसे सम्भव हो सका? यह भगवान् की सर्वशक्तिमत्ता से सम्भव हो सका।

भगवान् पूर्ण हैं और अपनी विविध शक्तियों के द्वारा कुछ भी करने के लिए स्वतन्त्र हैं। इसकी व्याख्या *श्रीमद्भागवत* के प्रारम्भ में *अभिज्ञः स्वराट्* शब्दों द्वारा की गई है। *स्वराट्* शब्द सूचित करता है कि वे किसी पर आश्रित नहीं हैं, वे आत्म-तुष्ट या आत्माराम हैं। यही ईश्वर की योग्यता है। आजकल ईश्वर के आत्मविज्ञापित अनेकानेक अवतार हैं, किन्तु यदि उनके दाँत में भी दर्द होता है तो तुरन्त "ऊह ऊह" करके चिल्लाते हैं और डाक्टर से कहते हैं कि मुझे बचाओ। यदि आप ईश्वर हैं, तो अपनी रक्षा स्वयं कीजिये। डाक्टर के पास क्यों जाते हैं? ऐसे लोग धूर्त हैं और वे कृष्णभावनामृत के प्रसार में बाधक बनते हैं। इस समय सारा जगत ऐसे ही धूर्तों तथा असुरों से बोझिल है। अतः भगवान् की इच्छा से परमाणु बम उनकी प्रतीक्षा कर रहा है।

१८. अज्ञान तथा कष्ट से मुक्ति

भवेऽस्मिन् क्लिश्यमानानाम् अविद्याकामकर्मभिः।
श्रवणस्मरणार्हाणि करिष्यन्निति केचन॥

और कुछ कहते हैं कि आप श्रवण, स्मरण, पूजन आदि की भक्ति को जागृत करने के लिए प्रकट हुए जिससे भौतिक कष्टों को भोगने वाले बद्धजीव इसका लाभ उठाकर मुक्ति प्राप्त कर सकें।

—(*श्रीमद्भागवत १.८.३५*)

भगवद्गीता मे भगवान् जोर देकर कहते हैं कि वे प्रत्येक युग में धर्म की स्थापना करने के लिए प्रकट होते हैं। यह धर्म भगवान् द्वारा निर्मित होता है। कोई भी व्यक्ति नया धर्म निर्मित नहीं कर सकता जैसा कि कुछ महत्वाकांक्षी लोग करने लगे हैं। वास्तविक धर्म यह है कि भगवान् को परम सत्ता मानकर प्रगाढ़ प्रेम में उनकी सेवा की जाय। जीव को तो सेवा करनी है क्योंकि स्वाभाविक दृष्टि से वह इसीलिए बना है। जीव का एकमात्र कार्य भगवान् की सेवा करना है। भगवान् महान हैं और जीव उनके अधीनस्थ। अतएव जीव का कर्तव्य उनकी सेवा करना मात्र है। दुर्भाग्यवश मोहग्रस्त जीव अज्ञानवश भौतिक इच्छा के कारण इन्द्रियों के दास बन जाते हैं। यह इच्छा अज्ञान या अविद्या कहलाती है। ऐसी ही इच्छा से जीव विकृत विषयी जीवन पर केन्द्रित भौतिक भोग के लिए तरह तरह की योजनाएँ बनाता है। अतएव जीव परमेश्वर की अध्यक्षता

में विभिन्न लोकों में विभिन्न शरीरों में देहान्तर करके जन्म-मृत्यु के चक्र में बँध जाता है। अतएव जब तक कोई इस अज्ञान की सीमा से बाहर नहीं चला जाता तब तक वह जीवन के विविध तापों से मुक्त नहीं हो सकता। यही प्रकृति का नियम है।

फिर भी भगवान् कष्ट भोगने वाले जीवों पर अधिक कृपालु होने के कारण अपनी अहैतुकी कृपावश उनके समक्ष प्रकट हो कर श्रवण, कीर्तन, स्मरण, पूजन, स्तवन, आत्मनिवेदन तथा शरणागति से युक्त भक्ति के सिद्धान्तों को जागृत करते हैं। उपर्युक्त में से सारी विधियों या किसी एक विधि को ग्रहण करने से बद्धजीव अज्ञान के केन्द्र से छूट कर बहिरंगा शक्ति द्वारा मोहित किये जाने से उत्पन्न भौतिक कष्टों से मुक्त हो जाता है। जीवों पर इस प्रकार की कृपा श्रीचैतन्य महाप्रभु के रूप में भगवान् द्वारा प्रदान की जाती है।

इस महत्वपूर्ण श्लोक में *भवेऽस्मिन्* का अर्थ है ''इस भौतिक जगत में''। *भव* का एक अर्थ ''उगना'' भी है और यह जन्म ले चुकने वाले का द्योतन करता है। इस भौतिक जगत में छः प्रकार के परिवर्तन होते हैं। सर्वप्रथम जन्म, फिर वृद्धि, फिर कुछ काल तक स्थिति, कुछ उपोत्पादों का सृजन और तब अन्त। ये छः परिवर्तन *षड्विकार* कहलाते हैं। उदाहरणार्थ, शरीर एक निश्चित दिन जन्म लेता है, फिर बढ़ता है और कुछ दिन रहा आता है। शरीर से पुत्रों तथा पुत्रियों के रूप में तमाम उपोत्पाद उत्पन्न होते हैं, तब शरीर वृद्ध तथा जर्जर हो जाता है और अत्यधिक वृद्ध होने पर समाप्त जाता है।

किन्तु शरीर के अन्त होने पर मैं समाप्त नहीं होता। जब स्थूल शरीर का अन्त हो जाता है तो भी मैं मन, बुद्धि तथा अहंकार के सूक्ष्म शरीर में वर्तमान रहता हूँ और यह सूक्ष्म शरीर मुझे अन्य शरीर में ले जाता है। यद्यपि सबों को यह सूक्ष्म शरीर धारण करना पड़ता है, किन्तु विज्ञानी तथा चिकित्सक इसे नहीं देख सकते। मेरे मन है और आपके भी मन है। मेरे बुद्धि है, किन्तु आप मेरी बुद्धि को नहीं देख सकते, न मैं आपकी क्योंकि वे दोनो सूक्ष्म हैं। इसी तरह आत्मा इससे भी अधिक सूक्ष्म है तो भला भौतिकतावादी विज्ञानी इसे कैसे देख सकेंगे? वे मन, बुद्धि या अहंकार

को नहीं देख सकते तो फिर आत्मा के विषय में क्या कहा जाय? इसलिए वे कहते हैं, "शरीर ही सब कुछ है, इसके अतिरिक्त कुछ नहीं है।" किन्तु यह यथार्थ नहीं है।

यथार्थ तो यह है कि आत्मा अत्यन्त लघु है। *बालाग्रशतभागस्य शतधा कल्पितस्य च* (*श्वेताश्वतर उपनिषद्* ५.९)। आत्मा बाल के अग्रभाग के दस हजारवें भाग के बराबर आकार का होता है। मान लीजिये कि हमें एक बाल के सौ भाग करने हैं। क्या हम ऐसा कर सकते हैं? यह सम्भव नहीं। किन्तु यदि ऐसा कर लें और उसके आगे पुनः हर भाग के सौ भाग करें तो प्रत्येक भाग आत्मा के आकार का होगा।

निस्सन्देह प्रयोगात्मक ज्ञान से इसे नहीं समझा जा सकता तो फिर कैसे समझा जाय? इसे किसी महाजन से सीखना होगा। हमारा ज्ञान इतना अपूर्ण है कि हम ऐसे सूक्ष्म मामलों को निपटा नहीं सकते और चूँकि ये धूर्त ऐसा नहीं कर सकते, इसलिए सोचते हैं कि पदार्थ जीवन का कारण है। इतने पर भी वे यह दिखला नहीं सके कि पदार्थ ही जीवन का कारण है। रसायनों के बल से प्रयोगशाला में वे हाथ, पाँव तथा आँख वाला एक कीड़ा तो तैयार करके देखें! प्रत्येक रात में हमें ऐसे तमाम कीड़े दिखते हैं। ऐसे कीड़ों से लेकर ब्रह्मा तक ८४ लाख जीव-योनियाँ हैं जिनके बीच हम एक शरीर से दूसरे में घूमते रहते हैं जैसा कि कृष्ण ने *भगवद्गीता* में कहा है (*तथा देहान्तर प्राप्तिः*)। इसलिए हमें या तो कृष्ण के शब्दों का बहिष्कार करना होगा या तथाकथित उन सारे वैज्ञानिक सिद्धान्तों को जो यह बतलाते हैं कि जीवन पदार्थ से आता है। किन्तु हम तो कृष्णभावनामृत के लिए प्रतिबद्ध हैं, अतएव हम कृष्ण के शब्दों का बहिष्कार नहीं कर सकते हैं। जब कृष्ण कहते हैं कि हमें एक शरीर से दूसरे शरीर में जाना पड़ता है तो हम उसे स्वीकार करते हैं।

इस संसार के भीतर हर जीव *अविद्या* या अज्ञान के प्रभाव में है। *अविद्याकर्मसंज्ञान्या तृतीया शक्तिरिष्यते*। ईश्वर या कृष्ण के लाखों शक्तियाँ होती हैं (*परास्य शक्तिर्विविधैव श्रूयते*) और इनकी तीन कोटियाँ बताई गई हैं—बहिरंगा शक्ति, अन्तरंगा शक्ति तथा तटस्था शक्ति। तटस्था शक्ति तथा अन्तरंगा शक्ति एकजैसे आध्यात्मिक गुण वाली हैं, किन्तु बहिरंगा शक्ति

निकृष्ट है।

विष्णुशक्तिर्परा प्रोक्ता क्षेत्रज्ञाख्या तथा परा।
अविद्या कर्मसंज्ञान्या तृतीय शक्तिरिष्यते॥

(*विष्णु पुराण* ६.७.६१)

इस जगत में हर व्यक्ति अविद्या में है। यहाँ तक की ब्रह्मा भी तब तक अज्ञानी बने रहे जब तक उन्हें कृष्ण द्वारा ज्ञान प्रदान नहीं हुआ। इसलिए किसी व्यक्ति को अपने ज्ञान का गर्व नहीं होना चाहिए। इस जगत का हर व्यक्ति मूढ है। कोई व्यक्ति चाहता है कि "यदि मुझे ब्रह्मा का पद मिल जाय तो मैं विशाल ब्रह्माण्ड की सृष्टि कर दूँ।" इस तरह उसे ब्रह्मा का शरीर मिलता है। और एक कीड़ा सोचता है, "यदि मैं इस कमरे में छोटा सा छेद कर लूँ तो मैं शान्ति से रह सकता हूँ और खा-पी सकता हूँ।" इस तरह ब्रह्मा की इच्छा ब्रह्माण्ड की सृष्टि करने के लिए होती है, हम गगनचुम्बी महल बनाना चाहते हैं और एक कीड़ा छोटा सा छेद बनाना चाहता है, किन्तु कार्य की गुणता एक सी है। परन्तु हम सभी मूर्ख हैं, क्योंकि हम यह नहीं सोचते कि ये सारी वस्तुएँ भौतिक हैं, अतएव स्थायी नहीं हैं। अज्ञान के कारण हम सोचते हैं, "यह अच्छा रहेगा, वह अच्छा होग"। *काम कर्मभिः*। हम कोई इच्छा (*काम*) करते हैं और तब उसी के अनुसार कार्य करते हैं। इससे अनेक कठिनाइयाँ उत्पन्न होती हैं (*क्लिश्यन्ति*)। ब्रह्मा बनना कोई खिलवाड़ नहीं। ब्रह्मा बहुत बड़ा पद है और ऐसे योग्य व्यक्ति को प्रदान किया जाता है जो तपस्वी हो। किन्तु वह भी हम जैसा जीव होता है। अमेरिका में तमाम नागरिक हैं और राष्ट्रपति फोर्ड भी एक नागरिक है, किन्तु अपने कठिन श्रम तथा राजनैतिकता से उसने यह पद प्राप्त किया है। तो भी वह सामान्य नागरिक है। उदाहरणार्थ, राष्ट्रपति निक्सन को पदच्युत कर दिया गया है और अब वह राष्ट्रपति नहीं रहा। ऐसा इसलिए हुआ क्योंकि वह सामान्य नागरिक था। इसी तरह यदि हम चाहें तो हम भी ब्रह्मा बन सकते हैं। इसलिए भक्तिविनोद ठाकुर ने कहा है—

कीटजन्म हाओ यथा तुया दास।
बहिर्मुख ब्रह्म-जन्मे नाहि आशा॥

"मुझे उस स्थान का कीट बनने दें जहाँ आपका भक्त उपस्थित है, क्योंकि यदि मैं भक्त के चरणकमलों की धूल में मरूँ तो मेरा जीवन सफल हो जायेगा।" भक्तिविनोद ठाकुर कहते हैं—*बहिर्मुख ब्रह्म जन्मे नाहि आशा*—मैं ब्रह्मा नहीं बनना चाहूँगा यदि कृष्ण भक्त न होऊँ।

चूँकि हम अविद्या में या कि *माया* में हैं, अतएव हम किसी भी समय कृष्ण को भूल सकते हैं। इसलिए हमें कृष्णभावनामृत में सदैव लगे रहना चाहिए जिससे हम उन्हें भूल न जायँ। कुन्तीदेवी ने *श्रवणस्मरणा-र्हणि* द्वारा इसी की ओर संकेत किया है। *अर्हण* का अर्थ है कृष्ण के अर्चाविग्रह की पूजा। मनुष्य को चाहिए कि अपने को कृष्ण के विषय में सुनने, स्मरण करने तथा पूजा करने में लगाए। कृष्णभावनामृत आन्दोलन के सारे केन्द्र इसी उद्देश्य के लिए खोले जाते हैं जिससे कीर्तन, नृत्य तथा पूजन में सुविधा हो और हम कृष्ण का चिन्तन करें तो सम्भावना है कि जीवन के अन्त में हम कृष्ण का स्मरण कर सकें (*अन्ते नारायणस्मृति:*)।

हर काम के लिए अभ्यास आवश्यक है। उदाहरणार्थ, यदि कोई मंच पर नाचना चाहता है तो उसे नाचने का पूर्वाभ्यास करना होता है। जब वह दक्ष नर्तक बनकर मंच पर आता है तो लोग वाह वाह करते हैं, "कितना अच्छा नर्तक है"। किन्तु कोई यह नहीं कह सकता कि मैं मंच पर जाते ही अच्छा नर्तक बन सकता हूँ। ऐसा सम्भव नहीं। यदि कोई यह कहे, "नहीं, मैं पूर्वाभ्यास नहीं करूँगा। मुझे मंच दीजिये, मैं नाचूँगा।" तो निर्देशक इसकी अनुमति नहीं देगा क्योंकि अभ्यास के बिना अच्छा नर्तक नहीं बना जा सकता। जीवन का असली उद्देश्य जीवन के अन्त में कृष्ण का स्मरण करना है (*अन्ते नारायणस्मृति:*)। यदि मृत्यु के समय कोई व्यक्ति कृष्ण का स्मरण कर सके तो उसका जीवन सफल हो जाता है।

इस भौतिक जगत में मनुष्य को कष्ट उठाने ही होंगे, किन्तु अज्ञान में डूबे होने के कारण धूर्त (मूढ़) इसे समझने की परवाह नहीं करते। एक वञ्चक यह जानते हुए भी कि वह पकड़ा जावेगा और दण्डित होगा, अपना धंधा नहीं छोड़ता। एक चोर जांनता रहता है कि अपराध-कार्यों के लिए

वह पकड़ा तथा दण्डित किया जावेगा और हो सकता है कि इसके पूर्व कई बार दण्डित हो चुका हो, किन्तु फिर भी वह उसी अपराध को फिर फिर करता है (*पुनः पुनश्चर्वितचर्वणानाम्*)। क्यों? अज्ञानवश। वह अज्ञान में इतना डूबा रहता है कि वह यह सोचता ही नहीं कि "मैं बारम्बार चोरी करता हूँ और बारम्बार पकड़ा जाकर दण्डित होने के लिए जेलखाने भेजा जाता हूँ।" इसी तरह विषयी व्यक्ति अनेक बार रतिज रोग से पीड़ित हो सकता है और उसे उपचार करना पड़ सकता है तो भी वह वेश्या के पास फिर से जाता है। यह *अवैध स्त्रीसंग* है। किन्तु वैध स्त्रीसंग में भी नाना कठिनाइयाँ हैं। संभोग के बाद स्त्री गर्भवती बन जाती है और उसे दस मास तक कष्ट भोगना पड़ता है। फिर प्रसव के समय बहुत बड़ा खतरा रहता है। पुत्र जन्म लेने के बाद पिता को पुत्र की देखभाल करनी पड़ती है और उसकी शिक्षा के लिए धन जुटाने हेतु कठिन श्रम करना पड़ता है। इसीलिए वैदिक साहित्य का कथन है— *बहुदुःखभाजः*—वैध या अवैध-स्त्री संग के बाद अनेकानेक कष्ट आते हैं। *तृप्यन्ति नेह कृपणाः*—किन्तु जो अज्ञानी मूढ़ है वह तुष्ट नहीं होता। उल्टे, वह बारम्बार वही करेगा (*पुनः पुनश्चर्वितचर्वणानाम्*)। यह *भवरोग* कहलाता है।

यन्मैथुनादिगृहमेधिसुखं हि तुच्छं।
कण्डूयनेन करयोरिव दुःखदुःखम्॥
(*भागवत* ७.९.४५)

इसलिए वैदिक सभ्यता में छोटे छोटे बालकों को ब्रह्मचारी रहने का तथा स्त्रीसंग के कष्टों में न पड़ने का प्रशिक्षण दिया जाता है। किन्तु यदि कोई व्यक्ति ब्रह्मचारी नहीं बना रह सकता तो उसे विवाह करने की अनुमति है। प्रारम्भ में ब्रह्मचारी के रूप में प्रशिक्षित किये जाने के बाद वह गृहस्थजीवन में अधिक काल तक नहीं रह सकता बल्कि तुरन्त वानप्रस्थ बन जाता है और फिर संन्यास ग्रहण करता है।

इस जगत में हर प्राणी—पक्षी, पशु, वृक्ष—यहाँ तक कि ब्रह्मा तथा इन्द्र भी कष्ट भोग रहे हैं। इन्द्र भी अछूता नहीं। उसे तो सदैव अपने प्रतियोगियों की चिन्ता सताये रहती है।

तत्साधु मन्येऽसुरवर्य देहिनां
सदा समुद्विग्नधियामसद्ग्रहात्।
(*भागवत* ७.५.५)

इस जगत का हर व्यक्ति सदैव चिन्तित क्यों रहता है? *अविद्याकामकर्मभिः*—क्योंकि वे मूढ हैं। इसीलिए कृष्ण बलपूर्वक कहते हैं "रे मूढो! यह बकवास बन्द करके मेरी शरण में आओ।" यह तो कृष्ण की अतीव कृपा है। वे परम पिता हैं। इसीलिए वे सीधे कहते हैं—*सर्वगुह्यतमम्*—यह सर्वाधिक गुह्य ज्ञान है। *सर्वधर्मान्परित्यज्य मामेकं शरणं व्रज*—रे मूर्ख! सब कुछ त्याग कर मेरी शरण में आ।"

इसीलिए कुन्ती कहती हैं, "आप इन जैसे मूढों को शिक्षा देने तथा उन्हें श्रवण, स्मरण तथा अर्चन में लगाने के लिए आये हैं।" यही भक्ति है। *श्रवणं कीर्तनं विष्णोः*—मनुष्य को चाहिए कि विष्णु या कृष्ण के विषय में सुने और कीर्तन करे। किन्तु ज्योंही भक्तगण विष्णु के विषय में सुनना तथा कीर्तन करना प्रारम्भ करते हैं कि कुछ धूर्त स्वामी कहने लगते हैं "नाम के श्रवण या कीर्तन से कुछ नहीं होगा। विष्णु ही क्यों? काली क्यों नहीं?" बंगाल में लोगों के एक वर्ग ने "काली कीर्तन" का ईजाद किया है। यह कैसी बकवास है? वैदिक साहित्य में काली कीर्तन जैसी कोई वस्तु नहीं है। कीर्तन का अर्थ है *श्रवणं कीर्तनं विष्णोः*—विष्णु या कृष्ण के विषय में सुनना और कीर्तन करना। वैदिक साहित्य में *हरे नाम* अर्थात् हरि या कृष्ण नाम के कीर्तन की संस्तुति है, अन्य किसी नाम की नहीं।

शुकदेव गोस्वामी ने *श्रीमद्भागवत* के द्वितीय स्कंध में (२.४.१५) इस *श्रवणं कीर्तनम्* का बहुत ही सुन्दर वर्णन किया है—

यत्कीर्तनं यद्स्मरणं यदीक्षणं
यद्वन्दनं यत्श्रवणं यदर्हणम्।
लोकस्य सद्यो विधुनोति कल्मषं
तस्मै सुभद्रश्रवसे नमो नमः॥

श्रीमद्भागवत का प्रवचन करने के पूर्व शुकदेव गोस्वामी ने इस श्लोक में कृष्ण को नमस्कार किया है। वे कहते हैं, "मैं उन्हें नमस्कार करता

हूँ, क्योंकि उनके विषय में श्रवण मात्र ही सुभद्र या शुभ है।'' सम्पूर्ण *भागवत* कृष्ण का गुणगान है और यह शुकदेव गोस्वामी द्वारा गुणगान है। वे कहते हैं कि यदि कोई व्यक्ति कृष्ण का गुणगान करता है, उनका ध्यान करता है अथवा कृष्ण के अर्चाविग्रह के सामने बैठता है और यह सोचते हुए दर्शन करता है कि ''कृष्ण कितनी अच्छी तरह से वस्त्राभूषित हैं और राधारानी कितनी अच्छी तरह सजी हैं'' तो वह पूरी तरह शुद्ध बन जाता है। यदि उस व्यक्ति में कीर्तन करने की क्षमता नहीं होती या उसका मन इतना विचलित रहता कि वह कृष्ण पर अपना मन स्थिर नहीं कर पाता तो उसे यह अवसर प्रदान किया जाता है ''यह अर्चाविग्रह है। इसके दर्शन करो।'' यदि कोई अर्चाविग्रह की सेवा में लग जाता है तो उसे चौबीसों घण्टे दर्शन पाने का सुयोग प्राप्त होता रहता है। चाहे मन्दिर की फर्श बुहारते, अर्चाविग्रह का शृंगार करते, अर्चाविग्रह को स्नान कराते या उन्हें भोजन अर्पित करते समय उनका दर्शन किया जा सकता है। यह भक्ति विधि है, किन्तु लोग इतने मूढ़ हैं कि वे अर्चाविग्रह का दर्शन तक करने नहीं जाते। वे सोचते हैं ''ओह! यह अर्चाविग्रह पूजा क्या है? यह तो मूर्ति पूजा है।'' वे गान्धी या अन्य किसी की मूर्ति की पूजा कर सकते हैं किन्तु जब उनसे अर्चाविग्रह की पूजा देखने आने को कहा जाता है तो वे कहेंगे ''नहीं, यह तो मूर्ति पूजा है।''

मैंने देखा है कि कलकत्ता में चौरंगी स्कायर में आशुतोष मुकर्जी की मूर्ति है। उस पर पूरे वर्ष कौवे मल-त्याग करते हैं और यह मल सूख जाता है। अत: वर्ष में एक दिन झाड़ू लगाने वाला प्रात:काल मूर्ति की सफाई करता है और शाम को बड़े बड़े लोग आकर उस पर फूल मालाएँ चढ़ाते हैं। उस शाम के बाद वे चले जाते हैं और अगले दिन प्रात:काल कौवे आकर पुन: मूर्ति पर मल-त्याग कर जाते हैं। अत: इस प्रकार की पूजा मान्य है—आशुतोष मुकर्जी के मुख पर झाड़ू लगाने की पूजा। किन्तु यदि हम कृष्ण का अर्चाविग्रह लाकर स्थापित कर दें और ढंग से उसकी पूजा करें तो लोग कहेंगे कि यह मूर्ति पूजा है।

अत: लोग अविद्या में फँस कर उद्विग्न हैं। उन्हें जिस विधि से शिक्षा देकर इस अविद्या के चंगुल से छुड़ाना होता है वह भक्ति है। जैसा शुकदेव

गोस्वामी ने बतलाया है, मनुष्य चाहे तो कृष्णनाम का कीर्तन कर सकता है या कृष्ण का ध्यान कर सकता है या फिर ध्यान न कर सकने पर वह बैठ कर कृष्ण को देख सकता है और लाभान्वित हो सकता है या यदि वह अधिक बुद्धिमान है तो वह स्तुति कर सकता है और यदि वह दक्ष है तथा गुरु द्वारा प्रशिक्षित रहता है तो वह पूजा कर सकता है।

ईसाई तथा मुसलमान भी वैष्णव या भक्त हैं क्योंकि वे भगवान् की प्रार्थना करते हैं। वे कहते हैं, "हे ईश्वर! हमें रोजी रोटी दे।" जो लोग यह प्रार्थना करते हैं वे भले ही कम जानते हों और निम्न पद पर हों, किन्तु यह शुभारम्भ है क्योंकि वे ईश्वर के पास तक पहुँचते हैं। गिरजाघर या मसजिद में जाना भी पवित्र है (*चतुर्विधा भजन्ते मां जना: सुकृतिनोऽर्जुन*)। इसलिए जो लोग इस तरह प्रारम्भ करते हैं वे एक न एक दिन शुद्ध वैष्णव बन जाएंगे। किन्तु यह नास्तिकतावादी प्रचार कि मनुष्य को गिरजाघर, मन्दिर या मसजिद नहीं जाना चाहिए मानव समाज के लिए अत्यन्त घातक है।

कोई भले ही बहुत बढ़ा-चढ़ा न हो, किन्तु ईश्वर को समझने के लिए उसे कुछ न कुछ करना चाहिए। बच्चे को पाठशाला भेजा जाता है, और वह वहाँ चाहे क ख ग ही क्यों न पढ़े, किन्तु यदि उसमें रुचि होती है तो एक न एक दिन वह अच्छा विद्वान बन जाता है। मनुष्य अपना धर्म छोड़ कर पूर्णतया धर्मनिरपेक्ष क्यों बने और वह फैक्टरी क्यों खोले जिसमें वह पुर्जे तैयार करे तथा कठिन परिश्रम करे और शराब पिये तथा मांस खाए? यह किस प्रकार की सभ्यता है? कहीं इसी तथाकथित सभ्यता के कारण तो लोग कष्ट नहीं भोग रहे?

अविद्या के कारण ही लोग सोचते हैं कि फैक्टरियाँ खोलकर वे सुखी बन सकेंगे। वे फैक्टरियाँ क्यों खोलें? उनकी कोई आवश्यकता नहीं है। भूमि इतनी है कि मनुष्य इसमें अपना भोजन उत्पन्न करके बिना किसी फैक्टरी के अच्छी तरह खा-पी सकता है। फैक्टरी दूध या अन्न तो उपजा नहीं सकती। इस समय विश्व भर में जो खाद्य-अभाव है वह ऐसी फैक्टरियों के ही कारण है। जब हर व्यक्ति शहर में कल-पुर्जे बनाने में जुटा रहेगा तो अन्न कौन उत्पन्न करेगा? सारी आर्थिक समस्याओं का एकमात्र हल है सादा जीवन तथा उच्च विचार। इसीलिए कृष्णभावनामृत आन्दोलन भक्तों

को अपना भोजन, उपजाने तथा आत्मनिर्भर बनने में लगा रहा है जिससे ये धूर्त देख लें कि किस तरह शान्तिपूर्वक रहा जाता है, अपना उगाया अन्न खाया जाता है, दूध पिया जाता है और हरे कृष्ण कीर्तन किया जाता है।

कृष्णभावनामृत की विधि का विश्वभर में तेजी से प्रसार किया जाना चाहिए। केवल अर्चाविग्रह का दर्शन करने या केवल हरे कृष्ण मन्त्र के कीर्तन में सम्मिलित होने से लोगों को अपार लाभ प्राप्त हो सकेगा। यदि कोई व्यक्ति कीर्तन करता है तो वह कृष्ण के विषय में सोच सकेगा। वह सोचेगा, "मैं दो घण्टे तक नाचा और हरे कृष्ण कीर्तन करता रहा। इसका क्या अर्थ है?" यही *स्मरण* है—कृष्ण के विषय में सोचना। वह यह भी सोच सकता है "मैं व्यर्थ ही दो घंटे तक कृष्ण, कृष्ण का कीर्तन करता रहा।" किन्तु यह भी *स्मरण* है। चूँकि कृष्णभावनामृत आन्दोलन फैल रहा है, इसलिए लोग हमारी कृष्ण विषयक पुस्तकें खरीद रहे हैं। उत्सुक होने के कारण वे कहते हैं, "यह कृष्ण क्या बला है? चलो यह पुस्तक देखें।" तब वे तुरन्त राधा तथा कृष्ण का चित्र देखते हैं और पुस्तक खोलने पर वे और अधिक देखेंगे। इस पुस्तक में कृष्ण के गुण गाने वाली अनेक प्रार्थनाएँ हैं। इसलिए कुछ लोग इन्हें सुनेंगे। भक्ति की श्रवण,कीर्तन, स्मरण आदि विधियाँ इतनी पूर्ण हैं कि इनका अभ्यास करने से (चाहे सबों की या किसी एक विधि की) मनुष्य शुद्ध बन जाता है। इसीलिए शुकदेव गोस्वामी स्तुति करते हैं, "मैं भगवान् की पूजा करता हूँ, क्योंकि एकमात्र उनके स्मरण से, उनका गुणगान करने से या उनके दर्शन से अनेकानेक लाभ प्राप्त होते हैं।"

शुकदेव गोस्वामी बारह महाजनों में से एक हैं और हमें इन महाजनों का अनुसरण करना चाहिए (*महाजनो ये गत: स पन्था:*)। वे पुष्टि करते हैं कि भक्ति की इन विधियों को सम्पन्न करने से मनुष्य भौतिक कल्मष से रहित हो सकेगा। कब? *सद्य:*—तुरन्त, बिना प्रतीक्षा किये। कृष्णभावनामृत आन्दोलन का यही सबसे बड़ा लाभ है।

१९. माया के प्रवाह को लाँघ करके आगे बढ़ना

शृण्वन्ति गायन्ति गृणन्त्यभीक्ष्णशः
स्मरन्ति नन्दन्ति तवेहितं जनाः।
त एव पश्यन्त्यचिरेण तावकं
भवप्रवाहोपरमं पदाम्बुजम्॥

हे कृष्ण! जो आपके दिव्य कार्यकलापों का निरन्तर श्रवण, कीर्तन तथा स्मरण करते हैं या दूसरों को ऐसा करते देखकर हर्षित होते हैं वे निश्चय ही आपके चरणकमलों का दर्शन करते हैं जो जन्म-मरण के प्रवाह को रोकने वाले हैं।

—(*श्रीमद्भागवत १.८.३६*)

भगवान् कृष्ण हमारी इस भौतिक दृष्टि से नहीं देखे जा सकते। उनका दर्शन पाने के लिए मनुष्य को भगवान् के प्रगाढ़ प्रेम से युक्त भिन्न प्रकार की जीवन-अवस्था उत्पन्न करनी होगी। जब श्रीकृष्ण इस धराधाम में सशरीर विद्यमान थे तो सभी लोग उन्हें भगवान् के रूप में नहीं देखते थे। रावण, हिरण्यकशिपु, कंस, जरासंध तथा शिशुपाल जैसे भौतिकतावादी भौतिक सम्पत्ति अर्जित करके अत्यन्त योग्य महापुरुष बन गये थे, किन्तु वे भगवान् की उपस्थिति को समझ पाने में असमर्थ थे। अतएव भगवान् भले ही हमारी आँखों के सामने ही क्यों न स्थित हों, जब तक हमारे पास अपेक्षित दृष्टि नहीं होती तब तक उनको देख पाना

असम्भव है। यह अपेक्षित योग्यता एकमात्र भक्तियोग द्वारा उत्पन्न होती है जिसका शुभारम्भ भगवान् के विषय में उचित स्रोत से श्रवण करने से होता है। *भगवद्गीता* ऐसा लोकप्रिय ग्रंथ है जिसे सामान्य लोग सुनते तथा बारम्बार पढ़ते हैं। लेकिन कभी कभी अनुभव किया जाता है कि ऐसी भक्ति सम्पन्न करने वाला भगवान् का दर्शन नहीं कर पाता। इसका कारण यह है कि श्रवण नामक पहली विधि अत्यन्त महत्वपूर्ण है। यदि सही स्रोत से श्रवण किया जाय तो इसका तुरन्त प्रभाव पड़ता है। सामान्यत: लोग अवैध पुरुषों से श्रवण करते हैं। ऐसे अवैध व्यक्ति भले ही प्रकाण्ड पण्डित हों लेकिन वे भक्ति के सिद्धान्तों का पालन नहीं करते, अतएव उनसे श्रवण करना एक तरह से समय का अपव्यय होगा। कभी कभी ऐसे लोग मूल पाठ की व्याख्या अपना इष्ट साधने के लिए करते हैं। अतएव सर्वप्रथम सक्षम एवं योग्य वाचक (वक्ता) चुनकर ही श्रवण करना चाहिए। जब श्रवण विधि पूर्ण हो जाती है तो अन्य विधियाँ स्वत: पूरी हो जाती हैं।

भगवान् के अनेक दिव्य कार्यकलाप हैं और श्रवण विधि परिपूर्ण हो तो इनमें से हर विधि से वांछित फल प्राप्त हो सकता है। *भागवत* में भगवान् के कार्यकलाप पाण्डवों के साथ उनके व्यवहार से प्रारम्भ होते हैं। असुरों तथा अन्यों के साथ व्यवहार से भी सम्बन्धित भगवान् के अन्य अनेक कार्यकलाप हैं। दसवें स्कन्ध में उनकी प्रेमिका गोपिकाओं के साथ तथा द्वारका में उनकी अपनी पत्नियों के साथ व्यवहार का वर्णन है। चूँकि भगवान् सर्वश्रेष्ठ हैं, अतएव उनके प्रत्येक व्यवहार में कोई अन्तर नहीं है। लेकिन कभी कभी लोग अवैध श्रवण करते समय गोपियों के साथ भगवान् के व्यवहार (क्रीड़ाओं) में अधिक रुचि दिखाते हैं। ऐसी मनोवृत्ति श्रोता के कामुक विचारों की सूचक है। अतएव भगवान् की क्रीड़ाओं का प्रामाणिक वक्ता कभी भी ऐसी बातें नहीं सुनाता। मनुष्य को चाहिए कि प्रारम्भ से ही *श्रीमद्भागवत* या अन्य शास्त्रों से भगवान् के विषय में श्रवण करे। इससे श्रोता को उत्तरोत्तर पूर्णता प्राप्त करने में सहायता मिलेगी। अतएव किसी को यह नहीं सोचना है कि पाण्डवों के साथ भगवान् के व्यवहार गोपियों के साथ किये गये व्यवहारों (क्रीड़ाओं)

से कम महत्वपूर्ण हैं। हमें यह स्मरण रखना होगा कि भगवान् समस्त संसारी आसक्ति से परे रहते हैं। उपर्युक्त समस्त व्यवहारों में वे नायक हैं और उनके विषय में या उनके भक्तों या उनके प्रतियोधाओं के विषय में श्रवण करना आध्यात्मिक जीवन के लिए लाभप्रद है। कहा जाता है कि सारे वेद, पुराण आदि भगवान् से हमारे विस्मृत सम्बन्धों को पुनरुज्जीवित करने के लिए हैं।

पिछले श्लोको में कुन्तीदेवी ने बतलाया कि जो लोग इस भौतिक जगत में आये हैं वे गधों की तरह कठोर परिश्रम करते हैं और उनके ऊपर इतना बोझ है कि वे उसे सहन नहीं कर सकते। चूँकि उनकी कामवासनाओं ने उन पर भारी कार्य का बोझा डाल रखा है जिससे वे सदैव कष्ट में रहते हैं, इसीलिए कृष्ण ऐसी प्रणाली चलाने के लिए आते हैं जिससे मनुष्य इस निरन्तर कष्टकर जीवन से छुटकारा पा सके।

धर्म ईश्वर के नियमों से युक्त होता है। जो लोग इसे नहीं जानते वे सोचते है कि धर्म का अर्थ *श्रद्धा* है। भले ही आपकी *श्रद्धा* किसी एक वस्तु पर हो और मेरी श्रद्धा अन्य वस्तु पर और भले ही मैं आप पर विश्वास करूँ और आप मुझ पर विश्वास करें या न करें, यह धर्म नहीं है। इतना ही नहीं, एक माना हुआ धार्मिक मिशन है जिसका कहना है "आप अपना मार्ग बना सकते हैं।" *यत मत तत पथ*—आप जो सोचते हैं वही सही है। यही उनका दर्शन है। किन्तु यह विज्ञान है। मान लीजिये कि मैं पागल हूँ। तो क्या जो भी मैं सोचता हूँ वह सही है? ऐसा कैसे हो सकता है? "दो दो मिल कर चार होता है" यह विज्ञान है। किन्तु यदि मैं विश्वास करूँ कि दो दो मिलकर पाँच या तीन होता है तो क्या यह सही होगा? नहीं। इसी तरह ईश्वर के नियम हैं और जब *धर्मस्य ग्लानि:*—इन नियमों से विचलन होता है तो हम कष्ट पाते हैं। जिस तरह राज्य के नियमों का उल्लंघन करने से हम दण्ड के भागी हो सकते हैं उसी तरह ईश्वर के नियमों का उल्लंघन करते ही हम अनेकानेक दुख पाते हैं तो इन दुखों से किस तरह छूटा जाय? कृष्ण हमें *भक्तियोग* प्रदान करके हमें मुक्त कराने आते हैं। वे कहते हैं, "यह करो" और यदि हम उसे करते हैं तो हमें राहत मिलती है। प्रह्लाद

महाराज उल्लेख करते हैं कि इस भक्तियोग में नौ बातें आती हैं—

श्रवणं कीर्तनं विष्णोः स्मरणं पादसेवनम्
अर्चनं वन्दनं दास्यं सख्यमात्मनिवेदनम्।
इति पुंसार्पिता विष्णौ भक्तिश्चेन्नवलक्षणा
क्रियेत् भगवत्यद्धा तन्मन्येऽधीतमुत्तमम्॥

"भगवान् विष्णु के नाम, रूप, गुण, साजसामग्री तथा लीलाओं के विषय में श्रवण करना तथा कीर्तन करना, उन्हें स्मरण करना, भगवान् के चरणकमलों की सेवा करना, भगवान् की सादर पूजा करना, भगवान् की स्तुति करना, उनका दास बनना, भगवान् को अपना सर्वश्रेष्ठ मित्र मानना तथा उनको अपना सर्वस्व न्यौछावर करना—ये नौ विधियाँ शुद्ध भक्ति के रूप में मान्य हैं। जो व्यक्ति इन नवो विधियों से कृष्ण की सेवा में अपना जीवन समर्पित कर देता है उसे ही सबसे विद्वान पुरुष समझना चाहिए क्योंकि उसने पूर्ण ज्ञान प्राप्त कर लिया है।" (भागवत ७.५.२३-२४)

श्रवण का अर्थ है किसी के कार्यों, रूप, गुण, साज-सामग्री आदि के विषय में सुनना। यदि मैं किसी के विषय में सुनना चाहता हूँ तो उसके कुछ कार्य होने चाहिए। हम इतिहास के बारे में सुनते हैं और इतिहास है क्या? यह विभिन्न युगों में विभिन्न पुरुषों के कार्यों का रिकार्ड ही तो है। ज्योंही श्रवण का प्रश्न उठे हमें पूछना चाहिए कि हम किस विषय में सुनेंगे। *श्रवणं कीर्तनं विष्णोः*—हमें भगवान् विष्णु या कृष्ण के कार्यों के विषय में सुनना चाहिए, समाचारपत्र की खबरों के बारे में नहीं। *ब्रह्मजिज्ञासा*—हमें ब्रह्म के विषय में पूछना और सुनना चाहिए। ये वेदों के कथन हैं। हम भी अपने कृष्णभावनामृत आन्दोलन में सुनते तथा कीर्तन करते हैं, किन्तु क्या विषय रहता है? रहता है कृष्ण। हम बाजार-भाव या शेयरों के मूल्य के विषय में नहीं सुनते। हम कृष्ण के विषय में सुनते हैं।

जब श्रवण होता है तो बोलना या कीर्तन करना भी होना चाहिए। अतएव हम कृष्ण के विषय में बोलते और कीर्तन करते हैं (*श्रवणं कीर्तनं*

विष्णोः)। श्रवण तथा कीर्तन में दक्ष हो लेने के बाद अगली अवस्था *स्मरणम्* अर्थात् सोचने या ध्यान करने की आती है। सर्वप्रथम *श्रवणम्* से प्रारम्भ करना चाहिए अन्यथा ध्यान कैसे हो सकता है? यदि ध्यान की विषयवस्तु ज्ञात न हो तो ध्यान का प्रश्न ही नहीं उठता। अतएव विष्णु के विषय में श्रवण तथा कीर्तन अवश्य होना चाहिए (*श्रवणं कीर्तनं विष्णोः*)।

योग में वास्तविक ध्यान का लक्ष्य चतुर्भुजी विष्णुमूर्ति का दर्शन पाना होता है जो कि हृदय के भीतर स्थित भगवान् का स्वरूप है। यही असली ध्यान है। अब धूर्तों ने अन्य विधियाँ निकाल ली हैं जिन्हें वे ध्यान कहते हैं, किन्तु असल में ये ध्यान हैं नहीं। इन्द्रियाँ अत्यन्त चंचल होती हैं और वे मन के साथ कभी इधर जाती हैं तो कभी उधर। किन्तु अष्टांग योग पद्धति से, जिसमें आसन, श्वास आदि का नियमन किया जाता है, मनुष्य अपनी इन्द्रियों को वश में करके मन को विष्णु के रूप में एकाग्र कर सकता है। यह एकाग्रता *समाधि* कहलाती है और योग का असली लक्ष्य यही है। इस प्रकार अष्टांग योग पद्धति का लक्ष्य *स्मरणम्* तक पहुँचना है।

भक्ति की अगली विधि *अर्चनम्* अर्थात् मन्दिर में अर्चाविग्रह यानी कृष्ण के रूप की पूजा है।

श्रीविग्रहाराधननित्यनानाशृंगारतन्मन्दिरमार्जनादौ।
(*श्रीगुर्वष्टक* ३)

ऐसा नहीं होना चाहिए कि कृष्ण को सप्ताह में या मास में एक बार पूज लिया जाय। प्रत्युत कृष्ण की पूजा अहर्निश यानी चौबीसों घण्टे (*नित्य*) की जानी चाहिए। अर्चाविग्रह को प्रतिदिन या दिन में दो चार बार नवीन वस्त्र पहनाने चाहिए। यह *शृंगार* कहलाता है। कृष्ण सबसे अधिक ऐश्वर्यवान् भोक्ता हैं और हमें चाहिए कि हम उन्हें वे सारी वस्तुएँ भेंट करें जिनका वे आनन्द ले सकें। उदाहरणार्थ, यदि कोई मुझे नवीन वस्त्र दे तो मैं कहूँगा, "अरे! यह नया वस्त्र अति उत्तम है।" और यही मेरा आनन्द है। इसी तरह हमें चाहिए कि प्रतिदिन भव्य वस्त्र द्वारा कृष्ण को तुष्ट

करने का प्रयास करें। अर्चाविग्रह का वस्त्र उत्तम कोटि का होना चाहिए, उन्हें अर्पित किया जाने वाला भोजन उत्तम कोटि का होना चाहिए और जिस मन्दिर में वे स्थित हों उसे उत्तम कोटि का या उससे भी उत्तम होना चाहिए। हर व्यक्ति कहता है कि कृष्णभावनामृत आन्दोलन के मन्दिर अत्यन्त स्वच्छ रहते हैं और उन्हें अत्यन्त स्वच्छ होना भी चाहिए। जो मन्दिर को जितना ही स्वच्छ बनाता है उसका हृदय उतना ही स्वच्छ होता जाता है। यही भक्ति की विधि है। हम कृष्ण का जितना ही शृंगार करते हैं वे उतने ही तुष्ट होते हैं। सम्प्रति हम अपने ही वस्त्रों को देखने और प्रशंसा करने के आदी हैं। मैं सोचता हूँ "मेरे वस्त्र कितने कीमती हैं" और मैं इस तरह तुष्ट होता हूँ। किन्तु जब हम कृष्ण को वस्त्र पहनाते हैं तो हमें आध्यात्मिक तुष्टि का अनुभव होना चाहिए।

युक्तस्य भक्तांश्च नियुञ्जतोऽपि
वन्दे गुरोः श्रीचरणारविन्दम्।

यह गुरु का धर्म है कि अपने शिष्यों को इस तरह से अर्चाविग्रह की पूजा करने में लगावे और हम ऐसे ही गुरु की वन्दना करते हैं।

शृण्वन्ति शब्द से कुन्तीदेवी इंगित करती हैं कि हमारा पहला कर्तव्य कृष्ण के विषय में श्रवण करना होना चाहिए। मनुष्य को सुनने के लिए उत्सुक होना चाहिए। हम कालेज की फीस क्यों देते हैं और कालेज क्यों जाते हैं? सुनने के लिए। वहाँ बैठ कर विद्वान प्रोफेसर से सुनकर हम ज्ञान प्राप्त करते हैं। इसीलिए भक्त सदैव कृष्ण के विषय में सुनता रहता है। जो लोग कृष्णभावनामृत का अनुशीलन करते हैं उनका पहला कार्य सुनना है।

यदि किसी ने वास्तव में कृष्ण के विषय में सुन लिया है तो भक्तियोग में उसका अगला कार्य होगा कीर्तन करना (*गायन्ति*)। कृष्णभावनामृत आन्दोलन के प्रचारक गाँव गाँव तथा नगर नगर जाते हैं। क्यों? उनका क्या प्रयोजन है? प्रचार करना, कीर्तन करना जिससे लोगों को इस दर्शन को सुनने तथा गम्भीरता से इसे ग्रहण करने का अवसर मिल सके (*गृणन्ति*)। *अभीक्ष्णशः* शब्द सूचि करता है कि इन कार्यों को निरन्तर, चौबीसों घण्टे, बिना

रुके चलते रहना चाहिए। इसीलिए चैतन्य महाप्रभु की संस्तुति है—*कीर्तनीया सदा हरि:*—मनुष्य को चौबीसों घण्टे कीर्तन करते रहना चाहिए। यही कृष्णभावनाभावित भक्तों का कार्य है।

कोई चाहे तो भक्ति की सारी विधियाँ अपना सकता है या किसी एक को। मात्र श्रवण पर्याप्त होगा। परीक्षित महाराज और कुछ न करके शुकदेव गोस्वामी के समक्ष अपने जीवन के अन्तिम सात दिन बैठे ही रहे और सुनते रहे। यदि कोई व्यक्ति और कुछ न करके केवल सुनता है, यदि मन्दिर में केवल बैठा रहता है और जब *भगवद्गीता* का प्रवचन होता है तो सुनता रहता है तो इतना पर्याप्त है। यदि आपकी समझ में नहीं भी आए, तब भी सुनते रहें। ध्वनि या मन्त्र आपके लिए सहायक होगा। शब्द या अर्थ को समझना महत्वपूर्ण नहीं होता है। भले ही कोई संस्कृत व्याकरण न जानता हो, किन्तु भक्ति तो *अप्रतिहता* है अर्थात् रोके नहीं रुकती। भक्ति की प्रगति को कोई भी चीज रोक नहीं सकती। अतएव मनुष्य को चाहिए कि श्रवण की इस विधि को अपनाए, जिस रूप में चैतन्य महाप्रभु ने संस्तुति की है।

जब चैतन्य महाप्रभु ने संन्यास ग्रहण कर लिया तो चैतन्य महाप्रभु के पिता जगन्नाथ मिश्र के श्वसुर नीलाम्बर चक्रवर्ती के सहपाठी सार्वभौम भट्टाचार्य ने चैतन्य महाप्रभु की निन्दा की थी। इस सम्बन्ध के अनुसार सार्वभौम भट्टाचार्य चैतन्य महाप्रभु के पितामह तुल्य थे। अत: उन्होंने चैतन्य महाप्रभु से कहा, "तुम केवल चौबीस वर्ष के छोकरे हो और तुमने अभी से संन्यास ले लिया है? संन्यास को धारण करना बहुत ही कठिन है, क्योंकि नवयुवक के लिए इस जगत में अनेकानेक आकर्षण हैं। अतएव तुम *वेदान्त सूत्र* का श्रवण करो।" सार्वभौम भट्टाचार्य मायावादी विचारधारा के थे और इससे सूचित होता है कि श्रवण का महत्व मायावादियों में भी है जो *वेदान्तसूत्र* के सुनने पर बल देते हैं। वैष्णव, अर्थात् कृष्णभक्त भी वेदान्त सूत्र सुनते हैं, किन्तु इन मायावादियों से नहीं जो इसकी गलत व्याख्या करके श्रवण विधि को दूषित कर देते हैं। वैष्णव लोग वेदान्त सूत्र की व्याख्या नहीं करते, वे उसका वास्तविक श्रवण करते हैं। जब कृष्ण कहते हैं "मैं परम हूँ" तो वैष्णव जन इसे स्वीकार करते हैं और

श्रवण की यही उचित विधि है। यदि कोई *वेदान्त सूत्र* या *भगवद्गीता* की मनमानी व्याख्या यह कह कर करता है कि "कृष्ण का अर्थ अमुक है और कुरुक्षेत्र का अर्थ अमुक है" तो वह अपना समय व्यर्थ गँवाता है। मनुष्य को चाहिए कि इन ग्रन्थों का श्रवण यथारूप में करे।

इस तरह यद्यपि चैतन्य महाप्रभु सार्वभौम भट्टाचार्य से वेदान्त सूत्र सुनने के लिए सहमत हो गये, किन्तु वे कई दिनों तक सुनते ही रहे, उन्होंने कोई प्रश्न नहीं पूछा। अन्त में सार्वभौम भट्टचार्य ने उनसे कहा, "हे बालक! तुम सुनते रहे हो, किन्तु कोई प्रश्न नहीं पूछ रहे। ऐसा क्यों है? क्या तुम समझ नहीं पा रहे? तुम मौन हो, इसका क्या कारण है?" चैतन्य महाप्रभु ने उत्तर दिया, "हाँ, मैं समझ रहा हूँ, किन्तु मैं इसलिए मौन हूँ, क्योंकि आप वेदान्त सूत्र की व्याख्या मनमाने ढंग से कर रहे हैं। इसलिए मैं वेदान्त सूत्र के श्लोकों को सुन रहा हूँ, किन्तु आपको नहीं सुन रहा।" इस तरह उन्होंने परोक्ष रूप में कहा "आप मूर्खतापूर्ण अर्थ कर रहे हैं।" बाद में उन्होंने कहा, "वेदान्त सूत्र के श्लोक सूर्य प्रकाश के तुल्य हैं, किन्तु आपकी व्याख्याएँ उन बादलों के तुल्य हैं जो उन्हें ढक लेती हैं।"

सूर्य को देखने के लिए दीपक की आवश्यकता नहीं पड़ती। किन्तु यदि सूर्य बादल से ढका है तो उसे देखना बहुत कठिन होता है। इसी तरह *वेदान्त सूत्र* सूर्य के तुल्य है, किन्तु मायावादी व्याख्याएँ असली अर्थ को ढक लेती हैं। मायावादी कभी भी प्रत्यक्ष अर्थ ग्रहण नहीं करते। यहाँ तक कि बड़े बड़े राजनेता, जो मायावाद दर्शन से प्रभावित रहते हैं, वैदिक साहित्य के अर्थ को यह सोचकर कि "कुरुक्षेत्र का अमुक अर्थ है और धर्मक्षेत्र का अमुक अर्थ है" ढक देते हैं। इसलिए हमें चाहिए कि हम मूल पाठ को सुनें। तब इसका प्रभाव पड़ेगा। *श्रवणं कीर्तनं विष्णो:*—विष्णु को यथारूप में सुनना चाहिए। तब विष्णु का ध्यान किया जा सकता है और स्मरण भी (*स्मरन्ति*)। इस तरह व्यक्ति हर्षित (*नन्दन्ति*) होता है। *नन्दन* का अर्थ है "सुहाना"। इस तरह हर्ष के आगार के सम्पर्क में पहुँचा जा सकता है।

इसलिए जो लोग कृष्णभावनामृत का अनुशीलन कर रहे हैं उन्हें कृष्ण

के विषय में सुनना, बोलना तथा कृष्ण के सम्बन्ध में ही व्यवहार करना होता है। कुन्तीदेवी भगवान् कृष्ण को बताती हैं कि "इस विधि से किसी न किसी दिन आपको देखा जा सकता है।" और जब कोई व्यक्ति कृष्ण को देखता है तो क्या प्रभाव होता है? *भवप्रवाहोपरमम्*। *प्रवाह* का अर्थ "धारा" है। जब नदी में अत्यन्त वेगवती धाराएँ होती हैं उस समय यदि कोई पशु उसमें फेंक दिया जाय तो वह बह जाएगा। इसी तरह हम भौतिक प्रकृति की धाराओं द्वारा बहा ले जाये जा रहे हैं। ये धाराएँ प्रशान्त महासागर में उठने वाली विशाल तरंगों के समान हैं जो एक के पीछे एक आती रहती हैं। चूँकि हम भौतिक प्रकृति के गुणों की पकड़ में हैं (*प्रकृतेः क्रियमाणानि गुणैः कर्माणि सर्वशः*) इसलिए हम दूर बहाये लिये जा रहे हैं। इसीलिए भक्तिविनोद ठाकुर कहते हैं *मायार वशे यच्छा भेसे*—तुम प्रकृति की धाराओं द्वारा बहाये लिये जा रहे हो। ये धाराएँ भूख-प्यास की, जन्म, मृत्यु तथा बुढापे की धाराएँ हैं—मोह की धाराएँ हैं। हम आत्माएँ हैं, किन्तु भावसागर में डाल दिये जाने के कारण हमें ये धारएँ बहाये लिये जा रही हैं। किन्तु यदि हम चौबीसों घंटे कृष्ण के विषय में सुनने, कीर्तन करने तथा गम्भीरतापूर्वक सेवा करने में लगे रहें तो यह धारा रुक जावेगी।

यह धारा रुकेगी कहाँ? कुन्तीदेवी भगवान् से कहती हैं—*पादाम्बुजम्*—"यह आपके चरणकमलों में आकर रुकेगी।" मनुष्य को सीखना पड़ता है कि किस तरह कृष्ण के चरणकमलों को देखा जाय और उनपर तुलसी तथा चन्दन लेप चढ़ाया जाय। तभी भौतिक जीवन की यह धारा रुकेगी।

सागर में धाराएँ हो सकती हैं, किन्तु यदि मनुष्य को अच्छी नाव मिल जाय तो वह इन धाराओं को ढंग से पार कर सकता है। *श्रीमद्भागवत* के अन्य श्लोक में (१०.१४.५८) उल्लेख है कि *समाश्रिता ये पदपल्लवप्लवम्*। कमल की पंखडी छोटी नाव के सदृश होती है, अतएव इस श्लोक में यह कहा गया है कि यदि कोई व्यक्ति कृष्ण के चरणकमलों की पंखडी रूपी नाव में शरण लेता है तो जन्म-मृत्यु का महासागर गोखुर में भरे जल के समान नगण्य बन जाता है। भारत में बरसात के दिनों में सड़कें

कीचड़ से भर जाती हैं और जब उन पर गौवें तथा बछड़ चलते हैं तो चलने से खुर के गड्ढे बन जाते हैं जिनमें पानी भर जाता है। किन्तु ऐसे दर्जनों गड्ढों को आसानी से लाँघा जा सकता है। इसी तरह अन्यों को यद्यपि जन्म-मृत्यु का संसार महासागर की भाँति लगाता है, किन्तु भक्त के लिए वह गोखुर के समान है (*भवाम्बुधिर्वत्सपदम्*) और वह इसे आसानी से लाँघ सकता है। इस तरह भक्त को *परं पदम्* अर्थात् परम धाम प्राप्त होता है। तो फिर यह भौतिक जगत कैसा है? *पदं पदं यद् विपदाम्*—यह स्थान भक्तों के लिए नहीं अपितु उन लोगों के लिए है जो कष्ट पा रहे हैं। इसीलिए कुन्तीदेवी यह सुझाव रखती हैं, "तुम्हारे कष्ट की दवा कृष्णभावनामृत है। इसे ग्रहण करो और सुखी बनो।"

२०. पूर्ण शरणागति

अप्यद्य नस्त्वं स्वकृतेहित प्रभो
जिहाससि स्वित्सुहृदोऽनुजीविन:।
येषां न चान्यद्भवत: पदाम्बुजात्
पारयणं राजसु योजितांहसाम्॥

हे प्रभु! आपने अपना कर्तव्य पूरा कर दिया। आज जब हम आपकी कृपा पर पूरी तरह आश्रित हैं और जब हमसे सारे राजा शत्रुता किये हुए हैं तो क्या आप हमें छोड़कर चले जाएंगे?

—(*श्रीमद्भागवत १.८.३७*)

पाण्डव अत्यन्त भाग्यशाली थे, क्योंकि भाग्यवश वे भगवान् की कृपा पर पूरी तरह आश्रित थे। लेकिन भौतिक जगत में किसी पर आश्रित रहना दुर्भाग्य का चिन्ह होता है। जहाँ तक भगवान् के साथ हमारे दिव्य सम्बन्ध की बात है, जब हम भगवान् पर पूर्णतया आश्रित होते हैं तो यह हमारा परम सौभाग्य होता है। भवरोग का कारण सर्वथा स्वतन्त्र बनने का विचार है। लेकिन क्रूर प्रकृति हमें स्वतन्त्र नहीं बनने देती। प्रकृति के कठोर नियमों से स्वतन्त्र होने के मिथ्या प्रयास को विज्ञान की प्रगति माना जाता है। सारा भौतिक जगत प्रकृति के नियमों से स्वतन्त्र बनने के मिथ्या प्रयास के फलस्वरूप ही गतिशील है। रावण, जो कि स्वर्गलोक तक सीढ़ी तैयार कराना चाहता था उससे लेकर वर्तमान युग

तक सभी लोग प्रकृति के नियमों पर विजय पाने का प्रयास करते रहे हैं। अब वे लोग इलेक्ट्रानिक यान्त्रिक शक्ति से सुदूर लोकों तक पहुँचना चाह रहे हैं। लेकिन मानव सभ्यता का सर्वोच्च लक्ष्य भगवान् के निर्देशानुसार कठिन श्रम करना तथा पूर्णतया उन्हीं पर आश्रित रहना है। पूर्ण सभ्यता की चरम उपलब्धि बहादुरी के साथ कार्य करते हुए भगवान् पर पूर्णतया आश्रित रहना है। पाण्डव इस आदर्श के पालक थे। निस्सन्देह वे भगवान् श्रीकृष्ण की सदिच्छा पर पूरी तरह आश्रित रहते थे। वे सभी चारित्रिक तथा भौतिक कार्यों में परम योग्य थे। तो भी वे भगवान् के कृपाकांक्षी थे, क्योंकि उन्हें ज्ञात था कि प्रत्येक जीव अपनी स्वाभाविक स्थिति के कारण आश्रित है। अतएव जीवन की पूर्णता इसी में है कि भौतिक जगत में झूठे ही स्वतन्त्र होने के बजाय भगवदिच्छा पर आश्रित रहा जाय। जो लोग झूठे ही भगवान् से स्वतन्त्र रहना चाहते हैं वे अनाथ कहलाते हैं जिसका अर्थ है कि उनका कोई संरक्षक नहीं है। जो लोग पूरी तरह से भगवदिच्छा पर आश्रित रहते हैं वे सनाथ कहलाते हैं अर्थात् उनका कोई न कोई रक्षक होता है। अतएव हमें सनाथ बनने का प्रयत्न करना चाहिए जिससे हम इस संसार की प्रतिकूल परिस्थितियों से बच सकें। बाह्य भौतिक प्रकृति की मोहिनी शक्ति के कारण हम यह भूल जाते हैं कि जीवन की भौति दशा अत्यन्त शोचनीय है। अतएव *भगवद्गीता* हमें निर्देश देती है (७.१९) कि अनेकानेक जन्मों के पश्चात् ही कोई भाग्यशाली पुरुष इस तथ्य से अवगत हो पाता है कि वासुदेव ही सर्वेसर्वा हैं। जीवन-निर्वाह की सर्वश्रेष्ठ विधि यही होगी कि भगवान् के शरणागत हुआ जाय। यही महात्मा का लक्षण है। पाण्डवकुल के सारे सदस्य गृहस्थ जीवन बिता रहे महात्मा थे। महाराज युधिष्ठिर इन माहत्माओं में अग्रणी थे और महारानी कुन्तीदेवी उनकी माता थीं। अतएव *भगवद्गीता* की तथा समस्त पुराणों की और उनमें से विशेष रूप से *श्रीमद्भागवत* की शिक्षाएँ पाण्डव महात्माओं के इतिहास से जुड़ी हुई हैं। उनके लिए भगवान् का विछोह वैसा ही था जैसे मछली का जल से विलगाव। अतएव कुन्तीदेवी को यह विछोह वज्रपात सा लगा। इसीलिए उनकी सारी प्रार्थनाएँ भगवान् को अपने साथ रहने के लिए राजी कराने के लिए हैं। कुरुक्षेत्र-युद्ध में, यद्यपि सारे शत्रु

मारे जा चुके थे, किन्तु कुन्ती के पुत्र तथा पौत्र जीवित थे। ऐसा नहीं है कि केवल पाण्डवों को ही ऐसी शत्रुता का सामना करना पड़ा हो, हम सभी ऐसी ही स्थिति में रह रहे हैं। अतएव जीवित रहने के लिए सर्वोत्तम विधि यही है कि भगवदिच्छा पर आश्रित रहा जाय और संसार की समस्त आपदाओं पर विजय प्राप्त की जाय।

कुरुक्षेत्र युद्ध समाप्त होने के बाद तथा अपने राज्य में पाण्डवों के स्थापित हो जाने के बाद कृष्ण द्वारका जाने के पूर्व अपनी बुआ कुन्ती से विदा लेने आये थे। इसी अवसर पर कुन्ती ने यह प्रार्थना की। अब वे प्रत्यक्ष पूछती हैं, "क्या यह सच है कि आप अपना कार्य पूरा करने के बाद हमें अकेला छोड़कर जा रहे हैं?" भक्त की स्थिति ऐसी है। कुन्तीदेवी कहती हैं *येषां न चान्यद् भवत:पदाम्बुजात्*—आपके चरणकमलों के अतिरिक्त हमारा कोई दूसरा सहारा नहीं। यही पूर्ण शरणागति है।

शरणागति की विधि में छह बातें आती हैं। पहली यह कि मनुष्य को कृष्ण पर पूरी तरह आश्रित रहना चाहिए। दूसरी यह कि कृष्ण की सेवा के अनुकूल प्रत्येक बात स्वीकार की जाय (*आनुकूल्यस्य संकल्प:*)। *आनुकूल्येन कृष्णानुशीलनं भक्तिरुत्तमा*—उच्चकोटि की भक्ति का लक्षण है कि इस सेवा के लिए अनुकूल हर वस्तु को स्वीकार किया जाय। तीसरी बात यह है कि *प्रातिकूल्यविवर्जनम्*—कृष्णभावनामृत की विधि के लिए हर प्रतिकूल वस्तु का तिरस्कार किया जाय। कभी कभी गुरु कहता है, "यह मत करो।" अर्थात् प्रतिकूल का निषेध किया जाता है। जो अनुकूल है उसकी भी वह संस्तुति करता है, "यह करो। हरे कृष्ण कीर्तन करो।" अतएव पूर्ण शरणागति में प्रतिकूल बातों का परित्याग और अनुकूल की *स्वीकृति* रहती है। (*आनुकूल्यस्य संकल्प: प्रातिकूल्यविवर्जनम्*)। यही नहीं, मनुष्य को श्रद्धा समेत विश्वास करना चाहिए कि "कृष्ण मुझे संरक्षण प्रदान करेंगे" और अपने आपको कृष्ण के सेवकों में से एक मानना चाहिए। शरणागति की ये कुछ बातें हैं।

अब कुन्तीदेवी कहती हैं, "हे कृष्ण! यदि आप सोचते हैं कि हम पूरी तरह स्थापित हो चुके हैं क्योंकि हमें अपना राज्य वापस मिल गया है, इसलिए आप हमसे विदा लेना चाहते हैं तो यह बहुत अच्छा प्रस्ताव

नहीं हैं। हम अब भी स्वतन्त्र नहीं हैं। चूँकि हमने तमाम राजाओं का बध किया है, अतएव उनके सारे मित्र तथा सम्बन्धी हमसे पुनः युद्ध करने की योजना बना रहे हैं। अतएव आप यह मत सोचें कि हम सारे संकटों से मुक्त हैं। हम मुक्त नहीं हैं। हमारे पास आपके चरणकमलों के अतिरिक्त कोई अन्य संरक्षण नहीं है। हमारी स्थिति ऐसी है।'' इस तरह वे अप्रत्यक्ष रूप से कृष्ण से कह रही हैं ''आप हमसे विदा न लें। आप यह न सोचें कि हम सुरक्षित हैं। आपके संरक्षण के बिना हम सदैव असुरक्षित रहेंगे।''

भक्त की स्थिति ऐसी ही होनी चाहिए। हमें यह जानना चाहिए कि इस जगत में वास्तव में हम संकट में हैं। यह सोच कर कि ''मैंने अपना कार्य कर लिया है थोड़ा विश्राम कर लूँ'' यदि हम थोड़ा भी असावधान हुए नहीं कि माया किसी भी क्षण हमें पकड़ सकती है। अतः विश्राम नहीं करना है। हमें सदैव सतर्क रहना है।

श्रील रूप गोस्वामी ने एक श्लोक में कहा है *अव्यर्थ कालत्वम्*—भक्त को यह देखना चाहिए कि उसका समय कहीं व्यर्थ तो नहीं जा रहा। उसे अपने आपसे पूछना चाहिए ''इस समय मैं माया की सेवा में लगा हूँ या कृष्ण की सेवा में?'' यह बढ़े-चढ़े भक्त का लक्षण है। *नाम-गाने सदा रुचि:*—ऐसा भक्त कभी भी कीर्तन करने, गाने या नाचने से ऊबता नहीं। भक्त में हरे कृष्ण कीर्तन के लिए सदैव रुचि पाई जाती है। हरे कृष्ण हरे कृष्ण कृष्ण कृष्ण हरे हरे। हरे राम हरे राम राम राम हरे हरे—यही रुचि है। इस रुचि के जागृत होने में कुछ समय लगता है, किन्तु जब रूपगोस्वामी कीर्तन कर रहे थे तो वे सोच रहे थे ''मेरे तो एक जीभ तथा दो कान हैं। भला इनसे मैं कीर्तन का क्या आस्वाद कर सकता हूँ!। यदि मेरे करोड़ों जीभें तथा अरबों कान होते तब मैं कीर्तन तथा श्रवण का कुछ कुछ आस्वादन कर पाता।'' निस्सन्देह हमें उनका अनुकरण नहीं करना है किन्तु, कृष्णभावनामृत आन्दोलन के भक्तों को नियत जप के लिए सोलह माला जप तो करना ही चाहिए। *नाम-गाने सदा रुचि:*—हमें गाने तथा हरे कृष्ण कीर्तन करने के लिए अपनी रुचि में वृद्धि करनी होगी।

इतना ही नहीं, हमें उस स्थान में रहने के लिए अपनी रुचि को भी बढ़ाना है जहाँ कृष्ण रहते हैं (*प्रीतिस्तद्वसतिस्थले*)। बढ़े-चढ़े भक्तों की दृष्टि में कृष्ण सर्वत्र वास करते हैं, किन्तु हम भिन्न पद पर हैं, अतएव हमें जान लेना चाहिए कि हमारे लिए तो कृष्ण का निवास मन्दिर में है। चूँकि हम कृष्ण को सर्वत्र नहीं देखते, अतएव कृष्ण का दर्शन पाने के लिए हमें मन्दिर में जाना चाहिए क्योंकि वे अपनी कृपा से वहाँ पर इस तरह प्रकट होते हैं कि हम उन्हें देख सकते हैं।

कृष्ण का शरीर पूर्णतया आध्यात्मिक है (*सच्चिदानन्दविग्रह*) किन्तु हमारे पास वे आँखें नहीं जिससे देख सकें कि वह आध्यात्मिक शरीर है कैसा! हम तो भौतिक स्थूल वस्तुओं (*जड़*) को देखने के आदी हैं। हम पत्थर, धातु, काष्ठ तथा अन्य तत्वों को देख सकते हैं और चूँकि, कृष्ण हर वस्तु हैं अतएव हमारी अपूर्ण आँखों के लिए दृश्य बनने हेतु कृष्ण इन्हीं तत्वों के रूप में प्रकट होते हैं। ऐसा नहीं है कि कृष्ण पत्थर हैं या हम पत्थर की पूजा कर रहे हैं। हम तो कृष्ण की पूजा कर रहे हैं। और चूँकि हम पत्थर जैसे भौतिक तत्वों के अलावा और कोई वस्तु देख नहीं सकते अतएव कृष्ण पत्थर में उरेहे गये रूप में प्रकट होते हैं। इसलिए मनुष्य को चाहिए कि मन्दिर के चारों ओर के उस वातावरण में रहने के प्रति उन्मुख हो जिसमें कृष्ण के रूप की पूजा की जाती है।

इतना ही नहीं, मनुष्य को चाहिए कि अपने को सदैव कृष्ण पर आश्रित सोचे। उसे यह सोचना चाहिए "कृष्ण के बिना मेरा जीवन व्यर्थ है और मैं खतरे में हूँ।" इसीलिए कृष्ण की प्रार्थना करते समय कुन्ती कहती हैं, "हे कृष्ण! आप यह सोच रहे हैं कि अब हम सुरक्षित हैं। किन्तु मैं नहीं सोचती कि हम सुरक्षित हैं। यदि आप ही सोचेंगे कि हम सुरक्षित हैं तो फिर कौन हमें संरक्षण प्रदान करेगा? हमारे पास आपके चरणकमलों के अतिरिक्त कोई भी संरक्षण नहीं है। हम तमाम शत्रुओं से घिरे हैं क्योंकि जो लोग युद्ध में मरे हैं उनके पुत्र अब हमसे युद्ध करने की तैयारी कर रहे हैं।"

यद्यपि कृष्ण अपनी बुआ कुन्तदेवी के चरणों की धूल लेने आये थे

किन्तु कुन्तीदेवी उन्हें अपना प्रिय भतीजा न कहकर प्रभु कहती हैं। वे जानती हैं, "यद्यपि कृष्ण मेरे भाई के पुत्र के रूप में हैं फिर भी वे परमस्वामी प्रभु हैं।"

वास्तविक कृष्णभावनाभावित व्यक्ति के लक्षण हैं कि वह कृष्ण को अपना परम स्वामी मानता है, कृष्ण के बिना वह अपने को संकट में मानता है और कृष्ण के चरणकमलों की शरण लेकर वह अपने को सुरक्षित मानता है। कृष्ण कहते हैं—*कौन्तेय प्रतिजानीहि न मे भक्तः प्रणश्यति*—तुम संसार को यह बतला दो कि मेरा भक्त कभी विनष्ट नहीं होता। (*भगवद्गीता* ९.३१)। यदि मनुष्य कृष्ण का शुद्ध भक्त बन जाता है तो संकट की बात ही नहीं रह जाती। निस्सन्देह, कृष्ण हर एक को संरक्षण प्रदान करते हैं क्योंकि उनके संरक्षण के बिना कोई एक क्षण भी जीवित नहीं रह सकता। किन्तु मनुष्य को यह नहीं सोचना चाहिए कि "यदि कृष्ण हर एक को संरक्षण प्रदान करते हैं तो फिर भक्त बनने से क्या लाभ?" राजा अपने हर नागरिक को संरक्षण प्रदान करता है, किन्तु वह अपने आसपास के लोगों की विशेषरूप से रक्षा करता है। यह अस्वाभाविक नहीं है। यदि कोई व्यक्ति राष्ट्रपति की सेवा में लगा होता है तो कोई विपत्ति आने पर उसकी विशेष रूप से रक्षा होती है। यद्यपि, राष्ट्रपति सारे नागरिकों को सुरक्षा प्रदान करता है, किन्तु जो उसके सान्निध्य में रहते हैं और उसकी सेवा करते हैं उनका विशेष ध्यान रखा जाता है। वास्तव में यह पक्षपात नहीं है। यह स्वाभाविक है। यदि कोई व्यक्ति सारे बच्चों से प्रेम करता है किन्तु अपने सगे बच्चों से विशेष प्रेम दिखाता है तो कोई यह नहीं कहता, "तुम अपने बच्चों से अन्यों की अपेक्षा अधिक प्रेम क्यों करते हो?" यह स्वाभाविक है। इसी तरह *भगवद्गीता* में कृष्ण कहते हैं—*समोऽहं सर्वभूतेषु*—मैं सबों के प्रति सम हूँ। ईश्वर होने से कृष्ण सबों से प्रेम करते हैं क्योंकि हर व्यक्ति उनका अंश है। तो भी वे अपने भक्तों का विशेष ध्यान रखते हैं। इसीलिए वे कहते हैं—*कौन्तेय प्रतिजानीहि न मे भक्तः प्रणश्यति*—मेरा भक्त कभी भी विनष्ट नहीं होगा।

कृष्ण अपने भक्तों की सुविधा का ध्यान रखते हैं और भक्तगण इस

बात की चेष्टा करते रहे हैं कि कृष्ण तुष्ट रहें। भक्तगण कृष्ण को वस्त्र पहनाते हैं, उन्हें भोजन देते हैं और सदा उनकी सेवा में लगे रहते हैं। इसी तरह कृष्ण अपने भक्तों को सुखी देखना चाहते हैं। यह भक्त तथा कृष्ण के बीच का घनिष्ठ सम्बन्ध है। हर व्यक्ति का कृष्ण से सम्बन्ध है, किन्तु जब कोई व्यक्ति भक्त बन जाता है तो यह सम्बन्ध घनिष्ठ बन जाता है। इसीलिए कुन्तीदेवी कृष्ण से कहती हैं, "आप हमें कैसे छोड़ सकते हैं? हम तो आपके घनिष्ठ मित्र हैं। हम आपकी कृपा से, आपकी देखरेख से जीवित हैं। आप यह न सोचें कि हम सुरक्षित हैं, इसलिए आप हमें छोड़ कर जा सकते हैं। हमारा जीवन आपकी कृपा के अधीन है क्योंकि आपके चरणकमलों के अतिरिक्त हमारे कोई अन्य आश्रय नहीं है। आप हमें छोड़ें नहीं।" यही कुन्ती की प्रार्थना है। इसी तरह नरोत्तमदास ठाकुर गाते हैं—

हा हा प्रभु नन्द-सुत वृषभानु-सुता-युत
करुणा करह एइ-बार।

"हे नन्दसुत कृष्ण! आप वृषभानु की पुत्री राधारानी के साथ उपस्थित हैं। मैं आपकी शरण में हूँ। आप मुझ पर कृपा करें।"

कृष्णभावनामृत के बिना मनुष्य सोचता है, " मैं स्वयं अपनी रक्षा करूँगा अथवा मेरा समाज, जाति या राज्य मुझे संरक्षण प्रदान करेगा। मेरे तमाम रक्षक हैं। मैं ईश्वर की परवाह क्यों करूँ? मैं कृष्ण के पास क्यों जाऊँ? जिन मूढ़ों के पास कोई संरक्षण नहीं है, वे कृष्ण के पास जायँ।" किन्तु यथार्थ यह है कि जब तक कृष्ण संरक्षण प्रदान नहीं करते तब तक कोई व्यक्ति रक्षित नहीं हो सकता। यह बात *श्रीमद्भागवत* में (७.९.१९) कही गई है—*बालस्य नेह शरणं पितरौ नृसिंह*। नृसिंह देव के रूप में कृष्ण की प्रार्थना करते हुए प्रह्लाद महाराज ने कहा, "हे प्रभु! कोई यह न सोचे कि माता-पिता होने से उसे पूर्ण संरक्षण प्राप्त है।" यदि कृष्ण रक्षा न करते तो बालक की रक्षा न हो पाती चाहे उसके हजारों माता-पिता क्यों न होते। प्रह्लाद ने यह भी कहा—*नार्तस्य*

न ओषधि। मान लीजिये कि कोई धनी व्यक्ति किसी रोग से पीड़ित है और वह उच्चकोटि का वैद्य लगाकर उत्तम से उत्तम ओषधि का सेवन करता है। तो क्या इसका अर्थ है कि उसको जीवन-दान मिल जाएगा? नहीं। यदि कृष्ण उसे संरक्षण प्रदान नहीं करते तो वह अच्छे उपचार तथा अच्छी ओषधि के बावजूद मर जावेगा। प्रह्लाद कहते हैं "इसी प्रकार यदि किसी के पास अच्छी नाव है तो इससे इसकी गारंटी नहीं होती कि वह समुद्र में डूबेगा नहीं। यदि आप उसकी रक्षा नहीं करते तो वह किसी भी क्षण डूब सकता है।" प्रकृति भी अनेक कठिनाइयाँ लाती हैं और विज्ञानी इन कठिनाइयों को रोकने के लिए ईजाद में लगे रहते है, किन्तु जब तक कृष्ण संरक्षण प्रदान नहीं करते, इन ईजादों का कोई लाभ नहीं होता।

कुन्तीदेवी इसे जानती हैं, इसीलिए अर्जुन तथा भीम जैसे महान योद्धाओं की माता होते हुए भी वे सोचती हैं, "यद्यपि, मेरे पुत्र महान योद्धा हैं, किन्तु वे हमें संरक्षण प्रदान करने के लिए पर्याप्त नहीं हैं। आपके चरणकमलों के अतिरिक्त हमें कोई संरक्षण प्रदान नहीं कर सकता।" यह श्लोक कृष्ण का संरक्षण खोजने वाले शरणागत की स्थिति को दर्शाता है। जब हम यह जानेंगे कि कृष्ण ही हमारे एकमात्र रक्षक हैं और कृष्ण की सेवा करना हमारा एकमात्र कर्तव्य है तभी हमारा जीवन सफल होगा।

२१. हमारा वास्तविक मूल्य क्या है ?

के वयं नामरूपाभ्यां यदुभिः सह पाण्डवाः।
भवतोऽदर्शनं यर्हि हृषीकाणाम् इवेशितः॥

जिस तरह आत्मा के अदृश्य होते ही शरीर का नाम तथा यश समाप्त हो जाते हैं उसी तरह आप हमारे ऊपर कृपा-दृष्टि नहीं करेंगे तो पाण्डवों तथा यदुओं समेत हमारा यश तथा कार्य तुरन्त नष्ट हो जावेगा।

—(*श्रीमद्भागवत १.८.३८*)

कुन्तीदेवी पूरी तरह भिज्ञ हैं कि पाण्डवों का अस्तित्व एकमात्र श्रीकृष्ण के कारण है। निस्सन्देह पाण्डव अपने नाम तथा ख्याति में पूरी तरह प्रतिष्ठित थे और धर्मात्मा महाराज युधिष्ठिर द्वारा उनका मार्गदर्शन हो रहा था, यदुगण उनके मित्र थे लेकिन श्रीकृष्ण के मार्गदर्शन के बिना उन सबका कोई अस्तित्व नहीं था जिस तरह निष्प्राण शरीर की सारी इन्द्रयाँ व्यर्थ रहती हैं। किसी को अपनी प्रतिष्ठा, शक्ति तथा यश का तब तक गर्व नहीं होना चाहिए जब तक उसे परमेश्वर की कृपा प्राप्त न हो। जीव आश्रित हैं और भगवान् उनके परम आश्रय हैं। अतएव हम अपने भौतिक ज्ञान की उन्नति द्वारा कितने ही भौतिक साधन क्यों न जुटा लें लेकिन भगवान् के मार्गदर्शन के बिना सारे ईजाद, चाहे वे कितने प्रबल एवं प्रतिक्रियाकारी क्यों न हों, टायँ टायँ फिस्स हो जाते हैं।

जब कोई प्रसिद्ध व्यक्ति मरता है तो उसके नाम तथा रूप महत्वहीन हो जाते हैं भले ही वह महान विज्ञानी, राजनीतिज्ञ या दार्शनिक क्यों न हो। जब तक हम जीवित हैं तब तक हमारा नाम, रूप तथा कर्म यशस्वी है, किन्तु जीवन समाप्त होते ही यह शरीर पदार्थ का ढेर जैसा हो जाता है। जब कोई बड़ा व्यक्ति जीवित रहता है तो उसके अनेक अंगरक्षक हो सकते हैं। कोई व्यक्ति न तो उसके पास जा सकता है न उसे छू सकता है, किन्तु जब वही व्यक्ति मृत हो जाता है और भूमि पर लेटा रहता है तो कोई चाहे तो उसके सिर पर लात मार सकता है और इस पर कोई ध्यान नहीं देता। आत्मा के विलुप्त हो जाने पर बड़े आदमी के शरीर का कोई मूल्य नहीं रह जाता। तो वह आत्मा क्या है? यह कृष्ण की शक्ति है अतएव कृष्ण का अंग है। अतएव शक्ति को हटा लेने पर—अर्थात् जब कृष्ण वहाँ नहीं रहते—शरीर महत्वहीन बन जाता है।

कृष्ण की शक्ति तथा स्वयं कृष्ण भिन्न भिन्न नहीं हैं (*शक्ति शक्तिमतोरभेद:*)। उदाहरणार्थ, सूर्य शक्तिमान है और धूप उसकी शक्ति है। तब तक धूप रहती है जब तक सूर्य विद्यमान रहता है और यदि सूर्य न रहे तो सूर्य की शक्ति भी न रहे। शक्ति तथा शक्तिमान दोनों को विद्यमान होना चाहिए। यद्यपि मायावादी दार्शनिक शक्तिमान को स्वीकार नहीं करते, केवल निर्विशेष शक्ति को स्वीकार करते हैं, किन्तु हमें शक्ति तथा शक्तिमान दोनों को स्वीकार करना चाहिए।

जब शक्ति कार्य करती रहती है, शक्तिमान विलग रहा आता है जिस तरह धूप सर्वत्र फैल जाती है, किन्तु सूर्य दूर रह आता है। इसी तरह सम्पूर्ण विश्व में शक्ति कार्यशील रहती है। यह विश्व पृथ्वी, जल, अग्नि, आकाश, मन, बुद्धि तथा अहंकार से युक्त है। ये आठों भौतिक तत्व भिन्ना भौतिक शक्तियाँ हैं (*मे भिन्ना प्रकृतिरष्टधा*) और हम यह समझ सकते हैं कि अवश्य ही इन शक्तियों के पीछे शक्तिमान स्रोत होगा। उदाहरणार्थ, हम विद्युत शक्ति या बिजली का प्रयोग करते हैं, किन्तु इस शक्ति के पीछे बिजलीघर तथा इंजीनियर होते हैं। मूढ़ इसे नहीं समझ पाते। वे इस विश्व की शक्ति को ही देखते हैं, किन्तु वे यह नहीं समझते कि

हमने न जाने कितनी अद्भुत मशीनों का ईजाद किया है, किन्तु ये मशीनें बुद्धिमान नहीं हैं। यह बुद्धि चालक की होती है। इसलिए कृष्ण कहते हैं—*मयाध्यक्षेण प्रकृतिः सूयते सचराचरम्*—तुम इस विश्व के अद्भुत कार्य-कारणों में प्रदर्शित शक्ति को देख रहे हो, किन्तु यह मत सोचना कि वे स्वतन्त्र रूप से कार्य कर रही हैं। उनके पीछे कार्य करने वाला मैं हूँ।

कृष्ण आगे कहते हैं—

मया ततमिदं सर्वं जगदव्यक्तमूर्तिना।
मत्स्थानि सर्वभूतानि न चाहं तेष्ववस्थितः॥

"यह सम्पूर्ण जगत मेरे अव्यक्त रूप द्वारा व्याप्त है। समस्त जीव मुझमें हैं किन्तु मैं उनमें नहीं हूँ।" (*भगवद्गीता* ९.४)। जो *अव्यक्त* है उसके मूर्ति या स्वरूप भी होता है। उदाहरणार्थ, आकाश अव्यक्त है, किन्तु उसमें स्वरूप होता है—ब्रह्माण्ड का गोला रूप। यदि हम समुद्र तक जायँ तो पावेंगे कि उसमें बहुत बड़े गोले की तरह का स्वरूप है। स्वरूप के बिना कुछ भी नहीं होता, यहाँ तक कि वह जो निर्विशेष के रूप में मान्य है।

इसलिए यह विचार कि हर वस्तु शून्य है या निराकार है मूर्खता है। निर्विशेष रूप तथाकथित शून्य के पीछे परम रूप कृष्ण हैं। *ईश्वरः परमः कृष्णः सच्चिदानन्द विग्रहः*। *ईश्वर* शब्द का अर्थ है "नियन्ता"। प्रकृति अपने को नियन्त्रित नहीं करती। असली नियन्ता तो कृष्ण हैं। *इच्छानुरूपम् अपि यस्य च चेष्टते सा*। *ब्रह्म-संहिता* का कथन है (५.४४) कि प्रकृति या दुर्गा गोविन्द अथवा कृष्ण के निर्देश के अनुसार कार्य कर रही है। वह किस तरह कार्य करती है? वह परछाईं की भाँति है। उसकी छाया हमारे हाथ के नीचे है और ज्यों ज्यों हमारा हाथ गति करता है त्यों त्यों परछाईं भी गति करती है। इन सारी घटनाओं के पीछे गति निहित है। मैं कभी कभी रेलवे लाइन में डिब्बे की शंटिंग का उदाहरण देता हूँ। इंजिन एक डिब्बे को गति देकर धकेलता है और फिर दूसरे, तीसरे को। इसी तरह इस विश्व को गति देने वाला कौन है? आदि गतिदाता

कृष्ण हैं।

कुन्तीदेवी कहती हैं, "अब पाण्डव प्रसिद्ध हो गये हैं और लोग कहते हैं कि ये लोग सब बड़े आदमी हैं। क्यों? इसलिए कि आप हमारे मित्र हैं।" कृष्ण पाण्डवों के और विशेष रूप से अर्जुन के मित्र थे इसीलिए अर्जुन महान योद्धा थे। किन्तु कुन्तीदेवी जानती थीं "लोग कहते हैं कि "अरे! ये पाण्डव तो बहुत बड़े वीर तथा योद्धा हैं। मेरे पाण्डव पुत्रों का क्या महत्व है?" इसी तरह यदुवंश इसलिए प्रसिद्ध था, क्योंकि इस वंश में कृष्ण ने जन्म लिया था। किन्तु कुन्तीदेवी कहती हैं—*के वयम्*—हम क्या हैं? हमारा महत्व क्या है? *के वयं नामरूपाभ्याम्*—हमारा नाम तथा रूप है, किन्तु आपके बिना व्यर्थ है। इसका कोई मूल्य नहीं है।"

लोग इसे नहीं समझते। वे सुन्दर शरीर तथा अच्छा नाम पाकर गर्वित रहते हैं। वे सोचते हैं "मैं अमरीकी हूँ, मैं भारतीय हूँ, मैं जर्मन हूँ"। किन्तु यह सब क्या है? ये तो व्यर्थ के नाम तथा रूप हैं जिनका कोई महत्व नहीं है।

यदि हम कृष्ण को निकाल लें तो हर वस्तु शून्य हो जाती है। यह तथ्य है, किन्तु लोग इतने मूढ हैं कि इस तथ्य को समझ नहीं पाते। किन्तु इससे इनकार कैसे किया जा सकता है? अमरीकी शरीर या भारतीय शरीर अच्छा नाम लग सकता है, किन्तु यदि उसमें चेतना (प्राण) न हो तो उसका क्या मूल्य है? कोई मूल्य नहीं। इसीलिए कहा गया है—

भगवद्भक्तिहीनस्य जातिः शास्त्रं जपस्तपः।
अप्राणस्येव देहस्य मण्डनं लोकरञ्जनम्॥

"जो व्यक्ति कृष्ण भक्ति से रहित होता है उसका उच्च परिवार या राष्ट्र में जन्म लेना, उसका शास्त्रज्ञान, उसकी तपस्या तथा उसका वैदिक मन्त्रोच्चार—ये सभी शव के अलंकरण तुल्य हैं। ऐसे अलंकार सामान्य लोगों का मनोरंजन करने वाले होते हैं।" (*हरिभक्तिसुधोदय* ३.११)

हम सबों में चेतना है, किन्तु यह चेतना है क्या? यह कृष्ण चेतना या कृष्णभावनामृत है। हम कृष्ण को भूल चुके हैं, इसलिए हम केवल "चेतना" कहते हैं किन्तु यह "चेतना" वास्तव में कृष्णचेतना है, क्योंकि

कृष्ण के बिना हममें चेतना नहीं रह सकती। बिना सूर्य के सूर्यप्रकाश कैसे मिल सकता है? इसीलिए हम "सूर्य प्रकाश" कहते हैं केवल "प्रकाश" नहीं। इसी तरह चेतना का अर्थ कृष्णचेतना है। इसे समझने के लिए बुद्धि चाहिए और कुन्ती जैसे भक्तों में यह बुद्धि तथा ज्ञान रहता है। इसीलिए कुन्ती कहती हैं "पाण्डव तथा यदुगण इतने महत्वपूर्ण हैं, किन्तु वास्तव में हमारा मूल्य है क्या?"

चूँकि कृष्ण विदा ले रहे हैं इसीलिए कुन्ती शोक कर रही हैं "आप चले जाएँगे और हम आपको देख नहीं सकेंगे। तब हमारे नाम तथा यश का क्या मूल्य रह जाएगा?" *भवतोऽदर्शनं यर्हि हृषीकाणाम् इवेशितुः*। वे दृष्टान्त देती हैं कि कृष्ण के बिना वे सब प्राणविहीन इन्द्रियों के समान हो जाएगे। इस जगत में हम इन्द्रिय-भोग की कामना करते हैं, किन्तु कृष्ण या कृष्णचेतना के बिना इन्द्रियभोग की कोई सम्भावना नहीं है। भले ही हमारे हाथ-पाँव पुष्ट हों, किन्तु यदि उनमें चेतना न रहे—जब कृष्णचेतना न हो—तो हम उनको काम में ला नहीं सकते। इसीलिए बुद्धिमान व्यक्ति जानता है कि कृष्ण के बिना उसकी इन्द्रियाँ महत्वरहित हैं। इसीलिए वह भक्त बन जाता है। उसका यह निष्कर्ष ठीक ही है कि इन्द्रियों तथा कृष्ण में घनिष्ठ सम्बन्ध है अतः जब तक इन्द्रियाँ सक्रिय हैं तब तक उन्हें कृष्ण की सेवा में लगाये रखना उसका धर्म है। यही भक्ति है।

दृष्टान्त के रूप में मैंने कई बार कहा है कि मान लीजिये कि किसी सभा में किसी के जेब से सौ डालर का नोट गिर जाता है। यदि कोई इस नोट को पा जाता है और उसे अपनी जेब में रख लेता है तो वह चोर है, क्योंकि यह नोट उसका नहीं है। यही *भोग* कहलाता है। फिर कोई व्यक्ति यह भी सोच सकता है, "मैं इसे क्यों छुऊँ? यह तो दूसरे का है। इसे पड़ा रहने दो। इसका मुझसे कोई सम्बन्ध नहीं।" यह *त्याग* कहलाता है। इस तरह सौ डालर का नोट वही रहता है, किन्तु एक व्यक्ति इसका भोग करना चाहता है और दूसरा इसको त्यागना चाहता है। किन्तु ये दोनों ही—भोगी तथा त्यागी—मूर्ख हैं।

ये भोगी *कर्मी* हैं—वे जो प्राकृतिक साधनों का विदोहन करने के लिए कठिन परिश्रम करते हैं जैसे कि विज्ञानी जन। वास्तव में उनकी

मंशा चुराने की रहती है। दूसरी ओर *त्यागी* हैं जो चुरा नहीं सकते-उनका दर्शन "अंगूर खट्टे हैं" वाला है। अधिकांश लोग *भोगी* हैं—वे अपनी इन्द्रिय-तृप्ति हेतु हर वस्तु का भोग करना चाहते है। किन्तु इतने पर भी कुछ लोग ऐसे बच जाते हैं जो इन्द्रिय-तृप्ति से इतना ऊबे रहते हैं कि वे कहते हैं, "नहीं, नहीं। हमें ये वस्तुएँ नहीं चाहिए।"

किन्तु सौ डालर की नोट पाने वाला वह व्यक्ति सबसे अच्छा है जो उसे लेकर कहता है "किसी ने यह नोट खोया है। मैं इसके स्वामी को ढूँढता हूँ।" उस नोट को लौटा कर वह व्यक्ति असली सेवा करता है। जो व्यक्ति यह नोट अपने लिये रख लेता है तथा वह जो इस नोट को छोड़ देता है—दोनों ही व्यर्थ हैं। इसी तरह भोगी तथा त्यागी दोनों ही व्यर्थ हैं। किन्तु *भक्त* यह जानता है कि प्रत्येक वस्तु कृष्ण की है, अतएव यह कृष्ण को अर्पित होनी चाहिए। यही असली सेवा है।

हर वस्तु कृष्ण की है। यह शरीर क्या है? यह पृथ्वी, जल, अग्नि, वायु जैसे भौतिक तत्वों का संयोग है। कृष्ण कहते हैं—"ये सभी आठ तत्व मेरी भिन्ना शक्ति हैं।" तो फिर शरीर तथा मन किस तरह हमारे हैं? यद्यपि मैं दावा करता हूँ कि शरीर मेरा है किन्तु मैं इतना भी नहीं जानता कि यह किस तरह कार्य करता है। एक किरायेदार कमरे का किराया देता है और उसमें रहता तथा उसकी सुविधाओं का उपभोग करता है, भले ही वह यह न जाने कि किस तरह बिजली जलती है या किस तरह पानी का नल कार्य करता है। इसी तरह यद्यपि हम शरीर की कार्यप्रणाली को विस्तार से नहीं जानते, किन्तु इस शरीर का उपयोग करते हैं जो वास्तव में हमारा नहीं अपितु कृष्ण का है। यही असली तथ्य है। शरीर इन्द्रियों तथा मन से युक्त है, अतएव ये सब कृष्ण के भी हैं।

मैं आत्मा हूँ, किन्तु मुझे इस शरीर का उपभोग करने का अवसर मिला हुआ है। चूँकि मैंने चाहा था कि यह शरीर मिले, इसलिए कृष्ण ने मुझे इसे प्रदान किया क्योंकि वे बड़े दयालु हैं। *ये यथा मां प्रपद्यन्ते तांस्तथैव भजाम्यहम्*। यदि कोई राजा का शरीर चाहता है तो कृष्ण उसे ही प्रदान करते हैं। यदि बताई हुई विधि का पालन किया जाय तो राजा का शरीर प्राप्त किया जा सकता है। और यदि कोई सूकर का शरीर

चाहे जिससे वह मल खा सके तो कृष्ण उसे वैसा भी शरीर दे सकते हैं। किन्तु मनुष्य जन्म पाकर हमें समझना चाहिए कि "हर वस्तु कृष्ण की है तो फिर इस शरीर को, जो मेरा कहा जाता है, सन्तुष्ट करने के लिए क्यों लालायित हूँ? प्रत्युत, यह कि जब यह शरीर मेरा है तो मैं कृष्ण की सेवा क्यों न करूँ"। यह बुद्धि है। यह *भक्ति* है।

हृषीकेण हृषीकेशसेवनं भक्तिरुच्यते—भक्ति का अर्थ है *हृषीक* अर्थात् इन्द्रियों को *हृषीकेश* अर्थात् इन्द्रियों के स्वामी कृष्ण की सेवा में लगाना (*त्वया हृषीकेशेन हृदि स्थितस्य यथा करोमि*)। चूँकि मैंने यह भूल करके कि हर वस्तु वास्तव में कृष्ण की है इन्द्रियतृप्ति की चाह की, अतएव मुझे यह शरीर प्रदान किया गया जो इन्द्रियतृप्ति का साधन है। लेकिन कृष्ण के बिना इन्द्रियों का कोई महत्व नहीं है, अतएव सहज निष्कर्ष यह है कि इन्द्रियाँ कृष्ण की हैं। इसलिए जब मुझे ये इन्द्रियाँ मिली हुई हैं तो क्यों न इनका उपयोग कृष्ण की तुष्टि के लिए करूँ? यही भक्ति है।

२२. कृष्ण की उपस्थिति में शोभा

नेयं शोभिष्यते तत्र यथेदानीं गदाधर।
त्वत्पदैरङ्किता भाति स्वलक्षणविलक्षित:॥

हे गदाधर (कृष्ण) ! इस समय हमारा राज्य आपके चरणचिन्हों से अंकित है जिसके कारण यह सुन्दर लगता है लेकिन आपके चले जाने पर ऐसा नहीं रह जाएगा।

—(*श्रीमद्भागवत १.८.३९*)

भगवान् के चरणों में कुछ विशेष चिन्ह होते हैं जिनके कारण वे अन्यों से भिन्न हैं। भगवान् के चरणतल (तलवे) में ध्वजा, वज्र, अंकुश, छत्र, कमल, चक्र आदि चिन्ह बने रहते हैं। जहाँ जहाँ भगवान् चलते हैं वहाँ की मुलायम जमीन पर ये चिन्ह अंकित होते जाते हैं। अतएव जब श्रीकृष्ण पाण्डवों के साथ रह रहे थे तो हस्तिनापुर की भूमि इस प्रकार से अंकित थी और इन शुभ चिन्हों के कारण पाण्डवों का राज्य फल-फूल रहा था। कुन्तीदेवी ने इन्हीं प्रसिद्ध लक्षणों की ओर संकेत किया है और वे भयभीत थीं कि भगवान् की अनुपस्थिति में कहीं दुर्भाग्य न आ घेरे।

चाणक्य श्लोक में निम्नलिखित उत्तम श्लोक है—

पृथिवीभूषणं राजा नारीणां भूषणं पति:।
शर्वरीभूषणं चन्द्रो विद्या सर्वस्य भूषणम्॥

जब किसी वस्तु से किसी का सम्बन्ध होता है तो हर वस्तु सुन्दर

लगती है। उदाहरणार्थ, आकाश चन्द्रमा के साथ सम्बन्ध होने से सुन्दर लगता है। आकाश सदैव रहता है, किन्तु पूर्णिमा की रात में जब चन्द्रमा तथा तारे तेजी से चमकते हैं तो यह अत्यन्त सुन्दर लगता है। इसी तरह जब अच्छी सरकार होती है और उसका राजा या राष्ट्रपति अच्छा होता है तो राज्य अत्यन्त उत्तम दिखता है, तब सारे लोग सुखी रहते हैं और हर कार्य ठीक से चलता है। यही नहीं, यद्यपि युवती स्वभावतः सुन्दर होती है, किन्तु अपने पति के साथ विशेष रूप से सुन्दर लगती है। *विद्या सर्वस्य भूषणम्*—किन्तु कुरूप से कुरूप व्यक्ति यदि विद्वान हो तो यही उसकी सुन्दरता है। इसी तरह प्रत्येक वस्तु सुन्दर दिखती है यदि उसमें कृष्ण उपस्थित रहते हैं।

इसीलिए कुन्तीदेवी सोचती हैं, "जब तक कृष्ण हमारे साथ हैं तब तक हमारा राज्य तथा हमारी राजधानी हस्तिनापुर सुन्दर है। किन्तु जब कृष्ण उपस्थित नहीं रहेंगे तो हमारा राज्य सुन्दर नहीं लगेगा।" वे कहती हैं, "हे कृष्ण! आप इस समय हमारे राज्य में विचरण कर रहे हैं और अपने पदचिन्हों से हर वस्तु को सुन्दर बना रहे हैं। सर्वत्र ही पर्याप्त जल है, फल है और हर वस्तु सुन्दर लगती है, किन्तु आप हमसे विदा ले लेंगे तो ये सब वस्तुएँ सुन्दर नहीं लगेंगी।"

ऐसा नहीं है कि जब कृष्ण वर्तमान थे और कुन्ती बोल रही थीं तभी के लिए यह बात लागू होती है। हमारी सभ्यता की प्रगति के बावजूद, यदि हम कृष्ण तथा कृष्णभावनामृत को हर वस्तु के केन्द्र में नहीं लाते तो हमारी सभ्यता कभी भी सुन्दर नहीं बन पावेगी। जो लोग कृष्णभावनामृत आन्दोलन में सम्मिलित हुए हैं वे उसके पूर्व सुन्दर थे, किन्तु अब जबकि वे कृष्णभावनाभावित हो चुके हैं तो वे विशेष रूप से सुन्दर दिखते हैं। इसीलिए प्रायः समाचारपत्र इन भक्तों को "तेजवान मुखमण्डल से युक्त" बतलाते हैं। उनके देशवासी कहते हैं, "ये बालक तथा बालिकाएँ कितनी प्रसन्न तथा सुन्दर लगती हैं"। सम्प्रति अमरीका की युवा पीढ़ी संशयग्रस्त तथा निराश प्रतीत होती है, इसीलिए वे खिन्न तथा साँवले मुख वाले दिखते हैं। क्यों? क्योंकि उनके जीवन का कोई लक्ष्य नहीं है। किन्तु भक्तगण—हरे कृष्ण अनुयायी—कृष्ण की उपस्थिति के कारण अत्यन्त सुन्दर

लगते हैं।

इसलिए अब से पाँच हजार वर्ष पूर्व, पाण्डवों के काल में जो यथार्थ था वह अब भी है। कृष्ण को केन्द्र में करने से हर वस्तु सुन्दर बन जाती है और कृष्ण किसी भी समय केन्द्र बन सकते हैं। कृष्ण तो सदैव उपस्थित रहते हैं। बस, हमें उनको आमन्त्रित करना है कि "हे प्रभु! आइये और केन्द्र में हूजिये"। बस। उदाहरणार्थ, जैसा कि पहले भी कह चुका हूँ, शून्य का कोई मान नहीं होता, किन्तु यदि इसकी बगल में एक लिख दें तो शून्य दस बन जाता है। अतः कोई मनुष्य जो भी कर रहा हो, उसे बन्द नहीं करना चाहिए। हम कभी नहीं कहते "हर भौतिक कार्य को रोक दो।" अच्छा हो कि मनुष्य अपने कार्य में कृष्ण को सम्मिलित कर ले।

हाँ, जो भी बात कृष्णभावनामृत के विरुद्ध जाती हो उसे हमें छोड़ना होगा। इसलिए नहीं कि हम भौतिक कार्यों को बन्द नहीं करते, इसलिए हमें मांसाहार नहीं बन्द करना चाहिए। हमें मांसाहार इसलिए बन्द करना चाहिए, क्योंकि यह कृष्णभावनामृत में प्रगति के विरुद्ध है। कोई पाप कर्म करते हुए कृष्णभावनामृत में प्रगति नहीं कर सकता। किन्तु, कृष्ण कहते हैं *अहं त्वां सर्वपापेभ्यो मोक्षयिष्यामि*—मेरी शरण में आ जावो और मैं तुम्हें सभी प्रकार के पापों से मोक्ष दिला कर तुम्हारी रक्षा करूँगा।

हममें से हर व्यक्ति जाने-अनजाने जन्म-जन्मान्तर पापकर्म करता है। मैं जानबूझ कर किसी पशु की हत्या कर सकता हूँ जो कि निश्चय ही पापपूर्ण है, किन्तु यदि मैं अनजाने में भी ऐसा करूँ तो भी यह पापपूर्ण है। सड़क पर चलते हुए हम तमाम चींटियों को जानते हुए मारते हैं। इसी तरह अपने अन्य सामान्य व्यवहारों में—भोजन बनाते समय, जल पीते समय या मसाला कूटते हुए—हम अनेक जीवों की हत्या करते हैं। जब तक हम कृष्णभावनाभावित नहीं हो लेते हम इन अजाने में होने वाले पापकृत्यों के लिए दण्डित हो सकते हैं।

यदि कोई बच्चा अनजाने आग छू लेता है तो क्या आग उसे क्षमा कर देगी और उसे जलावेगी नहीं? प्रकृति का नियम इतना कठोर है कि क्षमा का प्रश्न ही नहीं उठता। यहाँ तक कि सामान्य कानून में अज्ञान

कोई बहाना नहीं होता। यदि हम कचहरी जाकर कहें, "मैं नहीं जानता था कि यह कार्य अपराधपूर्ण है" तो इस दलील का यह अर्थ नहीं है कि हमें क्षमा कर दिया जावेगा। इसी तरह प्रकृति के नियमों के उल्लंघन के लिए अज्ञान कोई बहाना नहीं है। इसलिए यदि हम पापमय जीवन के फलों से छुटकारा चाहते हैं तो हमें कृष्णभावनाभावित होना चाहिए, क्योंकि तब कृष्ण हमें सारे पापों के फलों से मुक्त कर देंगे। इसीलिए संस्तुति की जाती है *कीर्तनीय: सदा हरि:*—सदैव हरे कृष्ण हरे कृष्ण कृष्ण कृष्ण हरे हरे। हरे राम हरे राम राम राम हरे हरे का कीर्तन करना चाहिए जिससे कृष्ण हमें बचा सकें।

हमें सदैव कृष्ण को अपने मन में रखना चाहिए क्योंकि कृष्ण सूर्य के समान हैं। हमारी पत्रिका "बैक टु गाडहेड" का यही आदर्श वाक्य है—

कृष्ण—सूर्य सम, माया हय अन्धकार।
याहाँ कृष्ण, ताहाँ नाहि मायार अधिकार॥

(*चैतन्य चरितामृत*, मध्य २२.३१)

कृष्ण तेजस्वी सूर्य के समान हैं और माया या अज्ञान अंधकार के समान है। सूर्य के रहने पर अन्धकार नहीं रह सकता इसलिए यदि हम अपने को सदैव कृष्णभावनाभावित रखें तो हम अज्ञान के अंधकार से प्रभावित नहीं हो सकेंगे प्रत्युत हम कृष्ण के प्रखर सूर्यप्रकाश में स्वच्छन्द विचरण कर सकेंगे। इसीलिए कुन्तीदेवी स्तुति करती हैं कि कृष्ण उनके तथा पाण्डवों के साथ रहे आवें।

वस्तुत: कृष्ण पाण्डवों को छोड़ नहीं रहे थे जिस तरह कि वे कभी वृन्दावन को नहीं छोड़ते। शास्त्र में कहा गया है—*वृन्दावनं परित्यज्य नो पदमेकं गच्छति*—कृष्ण वृन्दावन से बाहर एक पग भी नहीं रखते। वे वृन्दावन से इतने अनुरक्त हैं। तो यह कैसे हो सका कि कृष्ण वृन्दावन छोड़ कर मथुरा चले गये और फिर दूरस्थ हस्तिनापुर चले गये और वर्षों तक लौटे नहीं? वस्तुत: कृष्ण गये नहीं क्योंकि कृष्ण के जाने के बाद वृन्दावन के सारे वासी सदैव उनके विषय में सोचते तथा रोते रहे। माता

यशोदा, नन्द महाराज, राधारानी तथा सारी गोपियों, गोपों, बछडों तथा ग्वालबालों के पास एकमात्र कृष्ण के विषय में सोचना तथा विलाप करना बचा था और इस तरह उन्हें कृष्ण उपस्थित प्रतीत होते थे क्योंकि कृष्ण की उपस्थिति उनसे विलग होकर अधिक प्रबलता से अनुभव की जा सकती है। विरह में कृष्ण से प्रेम करना—यही चैतन्य महाप्रभु की शिक्षा है। *शून्यायितं जगत्सर्वं गोविन्दविरहेण मे*। चैतन्य महाप्रभु सोचते थे कि गोविन्द या कृष्ण के बिना सब शून्य है। सब शून्य था किन्तु कृष्णभावनामृत उपस्थित था।

जब हम हरवस्तु को शून्य देखते हैं, किन्तु एकमात्र कृष्णभावनामृत से युक्त रहते हैं तो समझिये कि हमें सर्वोच्च सिद्धि प्राप्त हो गई। इसीलिए गोपियाँ इतनी महान हैं। इस सिद्धि को पा लेने के बाद वे कृष्ण को क्षण भर भी भुला नहीं पाईं। जब कृष्ण अपनी गौवों तथा बछडों के साथ जंगल जाते तो घर पर गोपियों के मन उद्विग्न रहते। वे सोचतीं, "ओह! कृष्ण नंगे पाँव घूम रहे हैं। रास्ते में न जाने कितने कंकड तथा काँटे हैं। वे कृष्ण के उन चरणकमलों में गड़ रहे होंगे जो इतने मुलायम हैं कि जब वे अपने चरणकमल हमारे वक्षस्थलों पर रखते हैं तो हमें अपने वक्षस्थल कठोर जान पडते हैं।" इन विचारों में मग्न होकर वे चिल्ला पड़तीं। गोपियाँ संध्या समय कृष्ण को वापस आते देखने के लिए इतनी आतुर रहतीं कि वे रास्ते पर खड़ी रहतीं और कृष्ण को अपने बछडों तथा गायों समेत लौटते हुए देखने के लिए प्रतीक्षा करती रहतीं। यह है कृष्णभावनामृत।

जब कोई भक्त कृष्ण के विचार में उत्कटतापूर्वक मग्न रहता है तो कृष्ण भक्त से दूर नहीं रह सकते। यहाँ पर कुन्तीदेवी यह सोचकर कि कृष्ण अब उपस्थित नहीं रहेंगे अत्यधिक चिन्तित हैं, किन्तु कृष्ण की शारीरिक अनुपस्थिति का वास्तविक प्रभाव यह पड़ता है कि वे भक्त के मन के भीतर अधिक उत्कटता से उपस्थित रहते हैं। इसीलिए चैतन्य महाप्रभु ने अपने वास्तविक जीवन के उदाहरण से *विप्रलम्भ सेवा* की—विरह में कृष्ण सेवा की—शिक्षा दी। उनकी आँखों से आँसुओं की झड़ी लगी रहती, क्योंकि कृष्ण के अभाव में उन्हें सब रिक्त लगता।

कृष्ण से मिलन की दो अवस्थाएँ हैं। कृष्ण के साथ साक्षात् उपस्थित होने, उनसे मिलने, उनसे बोलने तथा उनका आलिंगन करने की पहली अवस्था *सम्भोग* कहलती है। किन्तु कृष्ण के साथ रहने की दूसरी विधि भी है जो *विप्रलम्भ* कहलाती है। यह कृष्ण के वियोग की विधि है। भक्त इन दोनों विधियों से लाभान्वित हो सकता है।

अब भौतिक जगत में होने से हम कृष्ण का प्रत्यक्ष दर्शन नहीं कर सकते तो भी हम उन्हें अप्रत्यक्ष रूप से देख सकते हैं। उदाहरणार्थ, यदि कोई आध्यात्मिक जीवन में बढ़ा-चढ़ा हो तो उसे प्रशान्त महासागर को देखकर तुरन्त कृष्ण का स्मरण हो सकता है। यह ध्यान कहलाता है। वह सोच सकता है, "प्रशान्त महासागर अनेक विशाल तरंगों से युक्त विस्तृत जल राशि है और मैं इससे कुछ गज दूरी पर खड़ा हूँ तो भी आश्वस्त हूँ कि मैं सुरक्षित हूँ, भले ही यह सागर कितना शक्तिशाली क्यों न हो और इसकी तरंगें कितनी ही भयानक क्यों न हों। मुझे विश्वास है कि यह अपनी सीमा से आगे नहीं जा सकता। यह सब कैसे घटित होता है? कृष्ण के आदेश से । कृष्ण आदेश देते हैं, "प्रिय प्रशान्त महासागर! तुम कितने ही विशाल एवं शक्तिशाली क्यों न हो किन्तु तुम इस रेखा से आगे नहीं जा सकते।" इस तरह मनुष्य तुरन्त ही कृष्ण या ईश्वर का स्मरण कर सकता है जो इतने शक्तिमान हैं कि प्रशान्त महासागर तक उनके आदेश का पालन करता है। इस तरह मनुष्य कृष्ण के बारे में सोच सकता है और यही है कृष्णभावनामृत।

इसी तरह सूर्योदय देखकर तुरन्त कृष्ण का स्मरण किया जा सकता है क्योंकि *भगवद्गीता* में (७.८) कृष्ण कहते हैं—*प्रभास्मि शशिसूर्ययो:*—मैं सूर्य तथा चन्द्रमा की चमक हूँ। यदि यह सीख लिया जाय कि कृष्ण को कैसे देखना चाहिए तो मनुष्य उन्हें सूर्य की चमक में देख सकता है। हमारे विज्ञानी सूर्य की सृष्टि नहीं कर पाये, वे बातें चाहे जितनी बनाऐं, किन्तु यह जानना उनकी शक्ति के बाहर है कि सूर्य वास्तव में है क्या। किन्तु *वेदान्त सूत्र* का कथन है (१.१.३)—*शास्त्रयोनित्वात्*—शास्त्र के माध्यम से हर चीज जानी जा सकती है। उदाहरणार्थ, यदि कोई व्यक्ति शास्त्र का अध्ययन करे तो यह जान सकता है कि सूर्य क्या है, क्योंकि

ब्रह्म-संहिता में (५.५.२) सूर्य का वर्णन हुआ है—

यच्चक्षुरेष सविता सकलग्रहाणां
राजा समस्तसुरमूर्तिरशेषतेजाः।
यस्याज्ञया भ्रमति सम्भृतकालचक्रो
गोविन्दमादि पुरुषं तमहं भजामि॥

इस श्लोक में सूर्य को सारे ग्रहों की आँख कहा गया है और यदि कोई इस एक श्लोक का ध्यान करे तो वह समझ सकता है कि यह यथार्थ है, क्योंकि रात्रि में सूर्योदय से पूर्व कुछ भी नहीं दिखता। सूर्य को भगवान् की आँख के रूप में भी कहा गया है। उनकी एक आँख सूर्य है और चन्द्रमा दूसरी आँख है। इसीलिए *उपनिषदों* में कहा गया है कि जब कृष्ण देखते हैं तभी हम देख सकते हैं। सूर्य को *अशेषतेजाः*—अत्यधिक उष्ण कहा गया है। और इसका कार्य क्या है? *यस्याज्ञया भ्रमति सम्भृतकालचक्रः*। सूर्य की अपनी कक्ष्या है। ईश्वर ने सूर्य को आदेश दे रखा है, "तुम इसी कक्ष्या में यात्रा करना, अन्यत्र नहीं।" वैज्ञानिकों का कहना है कि यदि सूर्य थोड़ा सा भी एक ओर खिसके तो सारे ब्रह्माण्ड हिमाच्छादित हो जावें। किन्तु परमेश्वर के आदेश से यह अपने स्थान से रंचभर भी नहीं हटता। यह सदैव सही समय पर उदय होता है। ऐसा क्यों? कुछ अनुशासन, कुछ आज्ञापालन, कुछ व्यवस्था तो होनी ही चाहिए। इसीलिए *ब्रह्मसंहिता* में कहा गया है—*यस्याज्ञया भ्रमति सम्भृतकालचक्रो गोविन्दमादि पुरुषं तमहं भजामि*—मैं उन आदि पुरुष की पूजा करता हूँ जिसके आदेश से सूर्य अपनी कक्ष्या में चलता है। वे ही सूर्य, समुद्र तथा चन्द्रमा तक को निर्देश देते हैं। हर कार्य उनके आदेशानुसार होता है तो ईश्वर को समझने में कठिनाई कहाँ है? कोई कठिनाई नहीं है। यदि कोई सचमुच विज्ञ है, यदि उसके मस्तिष्क में कूड़ा नहीं भरा तो वह पद पद पर ईश्वर को समझ सकता है। भगवान् कहते हैं—

रसोऽहमप्सु कौन्तेय प्रभास्मि शशिसूर्ययोः।
प्रणवः सर्ववेदेषु शब्दः खे पौरुषं नृषु॥

"हे कुन्तीपुत्र! मैं जल का स्वाद हूँ, सूर्य तथा चन्द्रमा का प्रकाश हूँ, वैदिक मन्त्रों में ओंकार हूँ, मैं आकाश में ध्वनि तथा मनुष्य में सामर्थ्य हूँ। (*भगवद्गीता* ७.८)। तो फिर लोग क्यों कहते हैं कि मैंने ईश्वर को नहीं देखा। वे उस रूप में ईश्वर को क्यों नहीं देखते जिस रूप में उन्हें देखने का आदेश है? वे अपनी विधि क्यों गढ़ते हैं? कोई मनुष्य अपनी विधि से ईश्वर को नहीं देख सकता। ऐसा सम्भव नहीं। सम्प्रति तथाकथित दार्शनिक तथा विज्ञानी अपने अपने ढंग से ईश्वर को देखने के लिए प्रयत्नशील हैं, किन्तु ऐसा सम्भव नहीं। ईश्वर को ईश्वर की विधि से देखना होगा। तभी कोई उन्हें देख सकता है। यदि मैं संयुक्त राज्य के राष्ट्रपति से भेंट करना चाहूँ तो क्या मैं अपने ढंग से मिल सकता हूँ? मुझे उसके सचिव से समय निर्धारित करना होगा और अन्य उपयुक्त तैयारियाँ करनी होंगी। यद्यपि सामान्य व्यक्ति की तुलना में ईश्वर इतने महान हैं, किन्तु मूढ लोग यह मानते हैं कि मनुष्य अपने ढंग से ईश्वर को देख सकता है। वे कहते हैं कि आप चाहे जितने ढंगों का ईजाद कर लें, वे सब के सब प्रामाणिक हैं। यह तो निरी मूढता है। यह संसार मूर्खों तथा मूढों से भरा है, अतएव ईशभावनामृत या कृष्णभावनामृत एक अस्पष्ट विचार बन चुका है। अन्यथा यदि कोई ईश्वर को देखना चाहता है, यदि वह चाहता है कि ईश्वर उपस्थित हो जायँ जैसा कि कुन्ती देवी कर रही हैं, तो मनुष्य ईश्वर को सदैव अपने हृदय के भीतर रख सकता है।

हमें कृष्णभावनामृत में अपना मन और इन्द्रियाँ लगानी पड़ती हैं जैसा कि महाराज अम्बरीष ने किया था। *स वै मनः कृष्ण पदारविन्दयोर्वचांसि वैकुण्ठगुणानुवर्णने* (भागवत ९.४.१८)। सर्वप्रथम हमें अपना मन कृष्ण के चरणकमलों पर स्थिर करना चाहिए, क्योंकि मन समस्त ऐन्द्रिय कार्यों का केन्द्र है। यदि मन अनुपस्थित होता तो आँखें होते हुए भी हम देख न पाते और कान होते हुए भी हम सुन न पाते। इसलिए मन को ग्यारहवीं इन्द्रिय माना जाता है। इन्द्रियाँ दस हैं—पाँच कर्मेन्द्रियाँ तथा पाँच ज्ञानेन्द्रियाँ और इन इन्द्रियों का केन्द्र मन है। *भगवद्गीता* में (३.४२) कहा गया है—

इन्द्रियाणि पराण्याहुरिन्द्रियेभ्यः परं मनः।
मनसस्तु परा बुद्धिर्यो बुद्धेः परतस्तु सः॥

"कर्मेन्द्रियाँ जड पदार्थ की अपेक्षा श्रेष्ठ हैं, मन इन्द्रियों से बढ़कर है, बुद्धि मन से भी उच्च है और वह (आत्मा) बुद्धि से भी बढ़कर है।"

इस श्लोक में कृष्ण बतलाते हैं कि यद्यपि हम इन्द्रियों को प्रधान मानते हैं, किन्तु इनसे भी बढ़कर मन है, मन से भी बढ़कर बुद्धि है और बुद्धि से भी बढ़कर आत्मा है।

यदि हम मन की गति को भी न समझ सकें तो फिर आत्मा के अस्तित्व को कैसे महत्व दे सकते हैं? मन के परे बुद्धि है और चिन्तन द्वारा मनुष्य अधिक से अधिक बौद्धिक स्तर तक पहुँच सकता है। किन्तु आत्मा तथा ईश्वर को समझने के लिए मनुष्य को इस बौद्धिक स्तर से ऊपर जाना होगा। हर वस्तु को समझ पाना सम्भव है, किन्तु हमें सही स्रोत से यह ज्ञान प्राप्त करना होगा। इसीलिए वैदिक आदेश है—

तद्विज्ञानार्थं स गुरुमेवाभिगच्छेत
समित्पाणिः श्रोत्रियं ब्रह्मनिष्ठम्।

यदि सचमुच कोई व्यक्ति दिव्य विषयों को जानने का इच्छुक हो तो उसे प्रामाणिक गुरु के पास जाना चाहिए। (*मुण्डक उपनिषद* १.२.१२)।

२३. प्राकृतिक सम्पदा

इमे जनपदाः स्वृद्धाः सुपक्वौषधिवीरुधः।
वनाद्रिनद्युदन्वन्तो ह्येधन्ते तव वीक्षितैः॥

ये सारे नगर तथा ग्राम सब प्रकार से समृद्धि पर हैं, क्योंकि जड़ी-बूटियों तथा अन्नों की प्रचुरता है, वृक्ष फलों से लदे हैं, नदियाँ बह रही हैं, पर्वत खनिजों से तथा समुद्र सम्पदा से पूर्ण हैं। यह सब आपकी कृपा-दृष्टि का फल है।

—(*श्रीमद्भागवत* १.८.४०)

मानव सम्पन्नता प्राकृति वरदान से आती है न कि विशाल औद्योगिक उद्यमों से। ये विशाल उद्योग ईश्वरविहीन सभ्यता के प्रतिकूल हैं और ये मानव जीवन के उद्देश्यों का विनाश करने वाले हैं। मनुष्य की प्राणशक्ति को निचोड़ने वाले इन कष्टप्रद उद्योगों को जितना ही बढ़ाया जाएगा, लोगों में उतना ही असन्तोष फैलेगा, भले ही कुछ लोग इस शोषण द्वारा ठाठ-बाट से रह लें। अन्न, वस्पतियों, फलों, नदियों, रत्नों तथा खनिजों से पूर्ण पर्वत तथा शक्तियों से पूरित समुद्र—ये सब प्राकृतिक वरदान हैं जिनकी पूर्ति परमेश्वर के आदेश से होती है और उनकी इच्छानुसार प्रकृति उन्हें प्रचुर मात्रा में उत्पन्न करती है या उनका अभाव ला देती है। यह प्राकृतिक नियम है कि मनुष्य इन दैवी वरदानों का लाभ उठाएँ तथा प्रकृति पर प्रभुत्व जताने के उद्देश्य से शोषण की प्रवृत्ति छोड़ कर संतोष धारण

करके समृद्ध बने। अपनी भोग की लालसा से हम प्रकृति का जितना ही शोषण करने का प्रयास करेंगे, ऐसी शोषणकारी प्रवृत्तियों की प्रतिक्रिया द्वारा हम उतना ही फँसते जावेंगे। यदि हमारे पास प्रचुर अन्न, फल, वनस्पति तथा औषधियाँ हों तो फिर कसाई-घर चलाने एवं निरीह पशुओं का वध करने से हमें क्या मिलेगा? मनुष्य को पशु-बध करने की आवश्यकता नहीं है, क्योंकि खाने के लिए प्रचुर अन्न तथा शाक है। नदियों का जल खेतों को उर्वर बनाता है और जल हमारी आवश्यकता से अधिक उपलब्ध है। पर्वतों से खनिज तथा समुद्रों से रत्न प्राप्त होते हैं। यदि मानव सभ्यता के पास प्रचुर अन्न, खनिज, रत्न, जल, दुग्ध आदि हो तो फिर उसे क्या पड़ी है कि वह मनुष्यों के श्रम के बूते पर भयंकर औद्योगिक जोखिमों के पीछे भागती फिरे? लेकिन सारे प्राकृतिक वरदान भगवत्कृपा पर निर्भर हैं। अतएव भगवान् के नियमों के प्रति आज्ञाकारी बनकर भक्ति द्वारा मनुष्य-जीवन की पूर्णता प्राप्त की जाय। कुन्ती देवी द्वारा किये गये संकेत सटीक हैं। वे चाहती हैं कि उनपर भगवान् की कृपा-दृष्टि बनी रहे ताकि प्राकृतिक सम्पन्नता स्थापित रहे।

कुन्तीदेवी इसका उल्लेख करती हैं कि अन्न की प्रचुरता है, वृक्ष फलों से लदे हैं, नदियाँ कल-कल प्रवाहित हैं, पर्वत खनिजों से पूर्ण हैं और समुद्र सम्पदा की निधि हैं, किन्तु वे इसका उल्लेख नहीं करतीं कि उद्योग तथा कसाई-घर फल-फूल रहे हैं, क्योंकि ऐसी चीजें व्यर्थ हैं जिन्हें मनुष्यों ने विकसित करके अपने ऊपर आफत मोल ली है।

यदि हम ईश्वर की सृष्टि पर निर्भर रहें तो अभाव उत्पन्न नहीं हों, केवल *आनन्द* ही रहे। ईश्वर की सृष्टि प्रचुर अन्न तथा तृण प्रदान करती है। इस अन्न को हम खाते हैं और तृण को गौवें खाती हैं। बैल थोड़ा बहुत, जिसे हम उनके सामने डाल देंगे, खाकर अन्न उत्पन्न करेंगे। यदि हम फल खाकर छिल्के फेंक दें तो पशु इसी से सन्तुष्ट रहते हैं। इस तरह कृष्ण को केन्द्र में रखकर वृक्षों, पशुओं, मनुष्यों तथा सारे जीवों में पूरा सहयोग हो सकता है। यही वैदिक सभ्यता—कृष्णभावनामृत की सभ्यता—है।

कुन्तीदेवी भगवान् से प्रार्थना करती हैं, "यह सम्पत्ति आपकी कृपा-दृष्टि के कारण है।" जब हम कृष्ण-मन्दिर में जाकर बैठते हैं तो कृष्ण हम पर

दृष्टि फेरते हैं और हर काम उत्तम बन जाता है। जब निष्ठावान व्यक्ति कृष्ण भक्त बनना चाहते हैं तो कृष्ण अपने पूर्ण ऐश्वर्य समेत उनके समक्ष आते हैं, उन पर कृपा दृष्टि डालते हैं तो वे सुखी तथा सुन्दर बन जाते हैं।

इसी तरह, यह सारी सृष्टि कृष्ण की चितवन के परिणामस्वरूप है (*स ऐक्षत*)। वेदों में कहा गया है कि उन्होंने पदार्थ पर दृष्टिपात किया तो वह उत्तेजित हो उठा। पुरुष के सम्पर्क से स्त्री उत्तेजित हो उठती है, फिर गर्भवती होती है और शिशु को जन्म देती है। सम्पूर्ण सृष्टि भी यही विधि अपनाती है। कृष्ण के दृष्टिपात मात्र से पदार्थ उत्तेजित होता है और गर्भित होकर जीवों को जन्म देता है। कृष्ण की ही कृपादृष्टि से पौदे, पशु तथा सारे जीव उत्पन्न हुए। यह कैसे सम्भव हुआ? हममें से कोई नहीं कह सकता कि "मैं अपनी पत्नी को केवल अपने दृष्टिपात से गर्भित कर सकता हूँ"। यद्यपि यह हमारे लिए असम्भव है, किन्तु कृष्ण के लिए असम्भव नहीं है। *ब्रह्म-संहिता* का (५.३२) कथन है—*अंगानि यस्य सकलेन्द्रियवृत्तिमन्ति*—कृष्ण के शरीर के हर अंग में अन्य अंगों की कार्यक्षमता पाई जाती है। हम अपनी आँखों से केवल देखने का कार्य कर सकते हैं, किन्तु कृष्ण देखकर ही अन्यों को गर्भित कर सकते हैं। सम्भोग की आवश्यकता ही नहीं रहती क्योंकि कृष्ण मात्र दृष्टिपात से गर्भधारण करा सकते हैं।

भगवद्गीता में (९.१०) कृष्ण कहते हैं—*मयाध्यक्षेण प्रकृतिः सूयते सचराचरम्*—मेरे निरीक्षकत्व में प्रकृति सारे चर तथा अचर प्राणियों को जन्म देती है। *अक्ष* का अर्थ है "आँखें" अतः *अक्षेण* सूचित करता है कि सारे जीवों का जन्म भगवान् के दृष्टिपात से होता है। जीव दो प्रकार के हैं—चर, जैसे कि कीड़े, पशु तथा मनुष्य और अचर यथा पेड़ पौधे। संस्कृत में इन दो प्रकार के जीवों को *स्थावर-जंगम* कहते हैं और ये दोनों प्रकृति से उत्पन्न होते हैं।

निस्सन्देह प्रकृति से जो उत्पन्न होता है वह जीवन नहीं बल्कि शरीर है। सारे जीव प्रकृति से विशेष प्रकार के शरीर प्राप्त करते हैं जिस तरह शिशु अपनी माता से शरीर पाता है। दस मास तक शिशु का शरीर माता के शरीर के रक्त तथा पोषक पदार्थों से बढ़ता है, किन्तु शिशु तो जीव होता है, पदार्थ नहीं। माता के गर्भ में शरण पाने वाला जीव होता है,

जिसके शरीर के लिए माता सारे अवयव प्रदान करती है। यही प्रकृति की रीति है। भले ही माता यह न जाने कि किस तरह उसके शरीर से दूसरा शरीर उत्पन्न हुआ, किन्तु जब शिशु का शरीर पूर्ण हो जाता है तो वह जन्म लेता है।

जीव का जन्म नहीं होता। जैसा *भगवद्गीता* में (२.२०) कहा गया है—*न जायते म्रियते वा*—जीव न तो जन्मता है न मरता है। जो जन्म नहीं लेगा वह मरेगा नहीं। मृत्यु तो उसके लिए है जो उत्पन्न हुआ है। जो उत्पन्न नहीं होता उसकी मृत्यु नहीं होती। *गीता* का कथन है—*न जायते म्रियते वा कदाचित्*। *कदाचित्* का अर्थ है "किसी समय"। वास्तव में जीव कभी भी जन्म नहीं लेता। भले ही हम देखते हों कि शिशु जन्म लेता है, किन्तु वास्तव में वह जन्म नहीं लेता। *नित्यो शाश्वतोऽयं पुराण:*। जीव शाश्वत है और अत्यन्त प्राचीन (*पुराण*) है। *न हन्यते हन्यमाने शरीरे*—ऐसा मत सोचें कि शरीर के विनष्ट होने से जीव विनष्ट हो जावेगा। नहीं, जीव बना रहेगा।

मेरे एक विज्ञानी मित्र पूछने लगे, "शाश्वतता का क्या प्रमाण है?" कृष्ण कहते हैं—*न हन्यते हन्यमाने शरीरे*—शरीर के मारे जाने पर आत्मा नहीं मारा जाता। ऐसा प्रमाण *श्रुति* कहलाता है। प्रमाण का दूसरा प्रकार *न्याय प्रस्थान* है। तर्क तथा दार्शनिक खोज से यह प्रमाण प्राप्त किया जाता है। किन्तु प्रमाण का अन्य प्रकार श्रुति है जो महाजनों से सुनकर स्थापित किया जाता है। तीसरा प्रकार है *स्मृति*—जो श्रुति से प्राप्त गये कथनों पर स्थापित होता है। *भगवद्गीता* तथा अन्य पुराण *स्मृति* हैं, उपनिषदें श्रुति हैं और वेदान्त *न्याय* है। इन तीनों में से *श्रुति प्रतिष्ठान* अर्थात् श्रुति से प्राप्त प्रमाण विशेष महत्वपूर्ण है।

प्रत्यक्ष अनुभव से प्राप्त किया जाने वाला ज्ञान या *प्रत्यक्ष* का कोई मूल्य नहीं होता क्योंकि हमारी इन्द्रियाँ अपूर्ण हैं। उदाहरणार्थ, प्रतिदिन हम सूर्य को एक बिम्ब के रूप में देखते हैं जिसका व्यास लगभग बारह इंच रहता है किन्तु वास्तव में यह पृथ्वी से सैकड़ों गुना बड़ा होता है। अतएव हमारी आँखों के माध्यम से हमारी प्रत्यक्ष अनुभूति का क्या मान रहा? हमारे अनेक इन्द्रियाँ हैं जिनके माध्यम से ज्ञान का अनुभव किया जा सकता है। ये हैं

आँखें, कान, नाक आदि। किन्तु ये इन्द्रियाँ अपूर्ण हैं अतएव इनके द्वारा प्राप्त होने वाला ज्ञान भी अपूर्ण रहता है। चूँकि विज्ञानी अपनी अपूर्ण इन्द्रियों के बल पर वस्तुओं को समझने का प्रयास करते हैं, इसलिए उनके निष्कर्ष अपूर्ण होते हैं। हमारे शिष्यों में से स्वरूप दामोदर विज्ञानी हैं। उन्होंने अपने वैज्ञानिक मित्र से, जो कहता है कि जीवन पदार्थ से उत्पन्न है, पूछा, "यदि मैं तुम्हें वे सारे रासायनिक पदार्थ जिनसे जीवन उत्पन्न है, दे दूँ तो क्या तुम इसे बना सकोगे?" विज्ञानी ने उत्तर दिया, "यह मैं नहीं जानता"। यह है अपूर्ण ज्ञान। यदि आप नहीं जानते तो आपका ज्ञान अपूर्ण है। तब आप शिक्षक क्यों बने? यह तो धोखा-धडी है। हमारा कहना है कि पूर्ण बनने के लिए हमें पूर्ण से शिक्षा ग्रहण करनी चाहिए।

चूँकि कृष्ण पूर्ण हैं अतएव हम उनसे ज्ञान प्राप्त करते हैं। कृष्ण कहते हैं *न हन्यते हन्यमाने शरीरे*—जब शरीर मरता है तो आत्मा नहीं मरता। अतएव यह ज्ञान कि आत्मा शाश्वत है पूर्ण है।

कुन्तीदेवी कहती हैं—*इमे जनपदा: स्वृद्धा: सुपक्वोषधि वीरुध:*—अन्न की प्रचुरता है, वृक्ष फलों से लदे हैं, नदियाँ प्रवाहित हो रही हैं, पर्वत खनिजों से पूर्ण हैं और सागर सम्पदा से भरे-पुरे हैं। हमें और क्या चाहिए? शुक्ताओं से मोती उत्पन्न होते हैं। पहले लोग मोतियों, रत्नों, रेशम, सोने तथा चाँदी से अपने शरीरों को आभूषित करते थे। किन्तु अब कहाँ गईं वे वस्तुएँ अब, सभ्यता की प्रगति के साथ अनेकानेक सुन्दरियाँ हैं जिनके आभूषण सोने, मोती या रत्नों के नहीं होते। वे केवल प्लास्टिक की चूड़ियाँ पहनती हैं। तो फिर उद्योग तथा कसाई-घरों से क्या लाभ?

ईश्वर की व्यवस्था के द्वारा मनुष्य को पर्याप्त खाद्यान्न, पर्याप्त दूध, पर्याप्त फल तथा शाक और नदी का स्वच्छ जल उपलब्ध हो सकता है। किन्तु मैंने यूरप में यात्रा करते समय देखा है कि सारी नदियाँ गँदली हो उठी हैं। मैंने जर्मनी, फ्रांस, रूस तथा अमरीका में देखा है कि नदियाँ गँदली हो गई हैं। प्रकृति की व्यवस्था के कारण समुद्र का जल स्वच्छ रहता है और यही जल नदियों में स्थानान्तरित होता है किन्तु उसमें नमक नहीं रहता। अतएव नदी से बढ़िया जल प्राप्त किया जा सकता है। यही प्रकृति की व्यवस्था है जिसका अर्थ है कृष्ण की व्यवस्था। तो फिर जल की आपूर्ति

के लिए जलागार बनाने से क्या लाभ?

प्रकृति ने हमें पहले से सारी चीजें दे रखी हैं। यदि हम सम्पत्ति चाहते हैं तो मोती एकत्र करके धनी बन सकते हैं। किसी विशाल फैक्टरी को चालू करके धनी बनने की कोई आवश्यकता नहीं है। ऐसे उद्योगों से हम मुसीबतों को जन्म देते हैं। अन्यथा हमें कृष्ण तथा उनकी कृपा पर निर्भर रहने की आवश्यकता है, क्योंकि कृष्ण के दृष्टिपात (*तव वीक्षिते:*) से हर काम ठीक हो जाता है। अतएव यदि हम केवल कृष्ण की कृपा-दृष्टि की याचना करें तो किसी अभाव या आवश्यकता का प्रश्न ही न उठे। हर काम पूरा हो जाय। इसलिए कृष्णभावनामृत आन्दोलन का विचार है प्रकृति के उपहारों तथा कृष्ण की कृपादृष्टि पर निर्भर करना।

लोग कहते हैं कि जनसंख्या बढ़ रही है और लोग इसे कृत्रिम साधनों से रोक रहे हैं। क्यों? पक्षी तथा मक्खियाँ अपनी संख्या बढ़ा रही हैं, उनके पास गर्भ-निरोध के कोई साधन नहीं हैं, किन्तु क्या उन्हें भोजन की कमी है? क्या हम कभी पक्षियों या पशुओं को भोजन के अभाव से मरते देखते हैं? शायद शहरों में देख सकते हैं, किन्तु प्रायः ही नहीं। किन्तु यदि हम जंगल में जायँ तो देखेंगे कि सारे हाथी, शेर, बाघ तथा अन्य पशु हृष्ट-पुष्ट और बली हैं। उन्हें कौन भोजन देता है? उनमें से कुछ शाकाहारी हैं और कुछ अशाकाहारी किन्तु इनमें किसी को भोजन की कमी नहीं है।

हाँ, अशाकाहारी होने से सिंह को प्रतिदिन भोजन नहीं मिलता। कौन उसका भोजन बनना चाहेगा? सिंह से कौन कहेगा, "महाशय! मैं परोपकारी हूँ और आपको अपना शरीर देने आया हूँ?" कोई नहीं। इसीलिए सिंह को भोजन पाने में कठिनाई होती है। जब सिंह शिकार पर निकलता है तो उसके पीछे वाला पशु "होय होय" करता है जिससे अन्य पशु जान लें कि सिंह आ रहा है। अतएव प्रकृति की विधि में सिंह को कठिनाई होती है फिर भी कृष्ण उसे भोजन देते हैं। लगभग एक सप्ताह बाद सिंह किसी पशु को पकड़ पाता है और चूँकि उसे नित्य ताजा भोजन नहीं मिलता इसलिए वह लाश को किसी झाड़ी में रख देता है और थोड़ा थोड़ा करके खाता है। चूँकि सिंह बहुत बलशाली होता है, अतएव लोग सिंह जैसा बनना चाहते हैं। किन्तु यह बहुत अच्छी बात नहीं है क्योंकि सिंह जैसा

बन लेने पर उसे नित्य ही भोजन नहीं मिल पाएगा, अपितु उसे भोजन की खोज में काफी श्रम करना पड़ेगा। किन्तु यदि वह शाकाहारी बन जाय तो उसे नित्य ही भोजन मिलने लगे।

अब तो हर शहर में कसाई-घर हैं, किन्तु क्या इसका अर्थ यह है कि ये कसाई-घर इतने मांस की पूर्ति कर सकते हैं कि मनुष्य केवल मांस खाकर जीवित रह सके? नहीं, पर्याप्त आपूर्ति नहीं हो सकेगी। यहाँ तक कि मांसाहारियों तक को मांस के एक टुकड़े के साथ अन्न, फल तथा शाक खाना पड़ता है। तिस पर भी इस एक टुकडे मांस के लिए अनेक पशुओं को मारना पड़ता है। यह कितना पापमय है। यदि लोग ऐसे पापपूर्ण कर्म करते हैं तो वे सुखी कैसे हो सकेंगे? यह हत्या नहीं की जानी चाहिए इसीलिए लोग दुखी हैं। किन्तु यदि कोई कृष्णभावनाभावित होता है और कृष्ण के दृष्टिपात पर (*तव वीक्षितै:*) निर्भर करता है तो कृष्ण हर वस्तु देंगे और अभाव का प्रश्न ही नहीं उठेगा।

कभी कभी अभाव प्रतीत होता है और कभी तो इतना अन्न तथा इतने फल उत्पन्न होते हैं कि लोगों के खाये नहीं चुकते। अतएव यह कृष्ण के दृष्टिपात का प्रश्न है। यदि कृष्ण चाह लेते हैं तो वे अन्न, फल तथा शाक की प्रचुर मात्रा उत्पन्न करते हैं, किन्तु यदि कृष्ण इस आपूर्ति को कम कर दें तो मांस क्या कर पाएगा? मैं आपको खा सकता हूँ या आप मुझे। किन्तु इससे समस्या हल होने वाली नहीं है।

असली अमन-चैन तथा दूध, पानी तथा अन्य आवश्यकताओं की यथेष्ठ पूर्ति के लिए हमें कृष्ण पर निर्भर रहना होगा। यही भक्तिविनोद ठाकुर हमें शिक्षा देते हैं जब वे कहते हैं—*मारबि राखबि—जो इच्छा तोहारा*—हे प्रभु मैं आपकी शरण में हूँ और आप पर निर्भर हूँ। अब आप चाहें मुझे मारें या संरक्षण प्रदान करें। और इसके उत्तर में कृष्ण कहते हैं, "हाँ। *सर्वधर्मान्परित्यज्य मामेकं शरणं व्रज*—एकमात्र मेरी शरण में आओ।" वे यह नहीं कहते, "मुझ पर निर्भर रहो और अपने कसाई-घरों तथा फैक्टरियों पर भी।" वे ऐसा नहीं कहते। वे कहते हैं, "मुझपर निर्भर रहो। *अहं त्वां सर्वपापेभ्यो मोक्षयिष्यामि*—मैं तुम्हें तुम्हारे पापकर्मों फलों से बचा लूँगा।"

चूँकि हम इतने वर्षों तक कृष्णभावनाभावित हुए बिना रह चुके हैं, अतएव

हमने पापपूर्ण जीवन ही बिताया है किन्तु कृष्ण हमें आश्वस्त करते हैं कि ज्योंही कोई व्यक्ति उनकी शरण में जाता है तो वे उसका सारा हिसाब चुका देते हैं और उसके पापमय कार्यों का अन्त कर देते हैं जिससे वह नया जीवन शुरू कर सके। अतएव जब हम शिष्यों को दीक्षा देते हैं तो उन्हें बतलाते हैं, "अब तुम्हारा हिसाब चुकता हो गया। इसके आगे पापकर्म मत करना।"

मनुष्य को यह नहीं सोचना चाहिए कि चूँकि कृष्ण का पवित्र नाम सारे पापकर्मों को निरस्त कर देता है, अतएव वह थोड़ा पापकर्म कर ले और उसे हरे कृष्ण जप द्वारा निरस्त कर ले। यह महान अपराध है (*नाम्नो बलाद् यस्य हि पापबुद्धि:*)। कुछ धार्मिक सम्प्रदायों के लोग गिरजाघरों में जाकर अपने पापों को स्वीकार करते हैं, किन्तु वे पुनः उन्हीं पापकर्मों को दुहराते हैं। तो फिर उनके इस "स्वीकार" का क्या महत्व है? कोई कह सकता है "हे प्रभु! मैंने अज्ञानवश यह पाप किया है।" किन्तु किसी को यह योजना नहीं बना लेनी चाहिए, "मैं पापकर्म करूँगा और गिरजाघर जाकर कबूल लूँगा। इससे मेरे पाप मिट जावेंगे, और मैं फिर से पापमय जीवन का नया अध्याय शुरू करूँगा" इसी तरह पापकर्मों को निरस्त करने के लिए किसी को जान बूझ-कर हरे कृष्ण मन्त्र के जप का लाभ नहीं उठाना चाहिए जिससे वह पुनः पाप कर्म शुरू कर सके। हमें बहुत सतर्क रहना होगा। दीक्षा लेने के पूर्व यह वचन देना पड़ता है कि अवैध यौन, नशा, जुआ तथा मांसाहार से वह दूर रहेगा। इस व्रत का दृढ़ता से पालन करना चाहिए। तभी वह निष्कलुष (स्वच्छ) हो सकेगा। यदि कोई अपने को इस तरह से निष्कलुष रखे और सदैव भक्ति में लगा रहे तो उसका जीवन सफल हो जावेगा और उसे किसी भी वस्तु का अभाव नहीं होगा।

२४. स्नेह-बन्धन को काटना

अथ विश्वेश विश्वात्मन् विश्वमूर्ते स्वकेषु मे।
स्नेहपाशम् इमं छिन्धि दृढं पाण्डुषु वृष्णिषु॥

अतः हे ब्रह्माण्ड के स्वामी, ब्रह्माण्ड की आत्मा विश्वरूप! कृपा करके मेरे स्वजनों-पाण्डवों तथा वृष्णियों—के प्रति मेरे स्नेह-बन्धन को काट डालें।

—(*श्रीमद्भागवत १.८.४१*)

भगवान् का शुद्ध भक्त भगवान् से अपने लिए कुछ भी माँगने में शरमाता है। लेकिन गृहस्थों को कभी कभी वाध्य होकर भगवान् से कुछ वर माँगने पड़ते हैं, क्योंकि वे लोग पारिवारिक स्नेह की ग्रन्थि से बँधे होते हैं। श्रीमती कुन्तीदेवी इस तथ्य से अवगत थीं अतएव उन्होंने भगवान् से प्रार्थना की कि वे उनके स्वजनों—पाण्डवों तथा वृष्णियों—के स्नेह-पाश को काट दें। पाण्डव उनके निजी पुत्र हैं और वृष्णिजन उनके पितृकुल के सदस्य थे। कृष्ण इन दोनों परिवारों से समान रूप से सम्बन्धित थे। दोनों ही परिवारों को भगवान् की सहायता की आवश्यकता थी, क्योंकि दोनों ही भगवान् के आश्रित भक्त थे। श्रीमती कुन्ती की इच्छा थी कि श्रीकृष्ण उनके पुत्रों अर्थात् पाण्डवों के साथ रहें लेकिन ऐसा करने से कुन्ती के पितृकुल के लोग कृष्ण-लाभ से वंचित रह जाते। यह पक्षपात कुन्ती के मन को दुखाने वाला था अतएव उन्होंने इच्छा व्यक्त की यह स्नेह-बन्धन छिन्न हो जाय।

शुद्ध भक्त अपने परिवार के सीमित स्नेह-बन्धन को छिन्न करके समस्त आत्माओं के लिए अपने भक्ति-कार्यों का विस्तार करता है। इसके जीवन्त उदाहरण षड्गोस्वामी हैं जिन्होंने श्री चैतन्य महाप्रभु के पथ का अनुसरण किया। ये सभी अत्यन्त प्रबुद्ध एवं संस्कृत धनी सवर्ण जातियों के थे लेकिन जनता के कल्याण हेतु वे अपने सुखद घरों को त्याग कर संन्यासी बन गये। ऐसा किये बिना न तो कोई ब्राह्मण बनने योग्य हो सकता है, न राजा, न जनता का नेता, न भगवद्भक्त। भगवान् ने आदर्श राजा के रूप में यह दृष्टान्त प्रस्तुत किया। श्री रामचन्द्र ने आदर्श राजा के गुणों को प्रकट करने के लिए अपनी प्रियतमा से स्नेह-बन्धन तोड़ लिया था।

ब्राह्मण, भक्त, राजा या जन-नेता को अपने अपने कर्त्तव्यपालन में उदारचेता होना चाहिए। श्रीमती कुन्ती देवी इस तथ्य से भिज्ञ थीं और अबला होने के कारण उन्होंने स्नेह-बन्धन को छिन्न करने के लिए कृष्ण से प्रार्थना की। भगवान् को *विश्वेश* या *विश्वात्मा* कहकर सम्बोधित किया गया है—यह पारिवारिक प्रेम की कठिन ग्रंथि को काटने में भगवान् की सामर्थ्य को बताने वाला है। इसीलिए कभी कभी अनुभव किया जाता है कि निर्बल भक्त के प्रति विशेष आकर्षण के कारण भगवान् अपनी अपार शक्ति द्वारा नियोजित परिस्थितियाँ उत्पन्न करके पारिवारिक स्नेह को छिन्न करते हैं। ऐसा करके वे भक्त को अपने पूर्णतया आश्रित बनाकर उसके भगवद्धाम वापस जाने का मार्ग प्रशस्त कर देते हैं।

कुन्ती वृष्णि कुल की कन्या तथा पाण्डवकुल की पत्नी एवं माता थीं। सामान्यतया एक स्त्री अपने पितृकुल तथा पतिकुल दोनों के प्रति स्नेह रखती है इसीलिए कुन्ती भगवान् कृष्ण से प्रार्थना करती हैं "मैं एक स्त्री (अबला) हूँ अतएव आप मेरे अनुरक्ति-बन्धन को काट दें जिसमें मैं पूरी तरह से आपमें अनुरक्त हो सकूँ। आपके बिना दोनों ही कुल शून्य हैं। मैं इन कुलों से मिथ्या ही अनुरक्त हूँ किन्तु मेरे जीवन का असली लक्ष्य तो आपसे अनुरक्त होना है।" यही भक्ति है।

भक्ति में इस भौतिक जगत के बन्धन से मुक्त होना और उसके बदले कृष्ण से अनुरक्त होना निहित रहता है। कोई व्यक्ति विरक्त नहीं हो सकता

क्योंकि उसे किसी न किसी से अनुरक्त होना पड़ता है। किन्तु कृष्ण से अनुरक्त होने या भगवद्भक्ति में प्रवेश करने के लिए भौतिक स्नेह से विरक्त होना पड़ता है।

सामान्यतया लोग कृष्ण के पास इस भौतिक जगत से अपनी अनुरक्ति बनाये रखने के लिए जाते हैं। वे प्रार्थना करते हैं, "हे ईश्वर! हमें रोजी-रोटी दें।" उनकी इस जगत से अनुरक्ति रहती है अतएव इस जगत में रहने के लिए वे भौतिक वस्तुओं की पूर्ति करने के लिए प्रार्थना करते हैं जिससे वे अपनी यथास्थिति बनाये रख सकें। इसे भौतिक आसक्ति कहते हैं। एक तरह से यह अच्छी बात है कि लोग अपना भौतिक पद पाने के लिए ईश्वर के पास जाते हैं, किन्तु यह वांछनीय नहीं है। मनुष्य को चाहिए कि भौतिक जगत में अपना ऐश्वर्य बढ़ाने के लिए ईश्वर की पूजा न करके भौतिक अनुरक्ति से मुक्ति पावे। इसलिए *भक्तियोग* के लिए हमें विरक्त होना चाहिए।

हमारे कष्ट हमारी अनुरक्ति के कारण हैं। चूँकि हम भौतिक रूप से अनुरक्त रहते हैं अतः हम अनेक भौतिक वस्तुओं की कामना करते हैं। अतएव कृष्ण हमें उन सारी सुविधाओं को भोगने का अवसर देते हैं जिन्हें हम चाहते हैं। हाँ, हमें इन सुविधाओं के योग्य होना चाहिए। "पहले योग्यता लावो तब कामना करो।" मान लीजिये मैं राजा बनना चाहता हूँ तो मेरे पीछे पुण्यकर्म होने चाहिए जिससे मैं राजा बन सकूँ।

कृष्ण हमें सब दे सकते हैं यहाँ तक कि मुक्ति भी किन्तु भक्ति के मामले में वे सतर्क रहते हैं क्योंकि जिसे भक्ति प्रदान करते हैं उस भक्त के वे क्रीतदास और उसके हाथ के खिलौने बन जाते हैं भले ही वे परम शक्तिशाली हैं। भक्ति की सर्वोच्च प्रतीक राधारानी इतनी शक्तिशाली हैं कि उन्होंने कृष्ण को खरीद लिया। इसीलिए वैष्णव जन श्रीमती राधारानी के चरणकमलों की शरण ग्रहण करते हैं, क्योंकि यदि वे यह कहती हैं कि यह उत्तम भक्त है तो कृष्ण को यह स्वीकार करना पड़ता है।

भगवान् का भक्त बनने के लिए समस्त भौतिक अनुरक्ति से पूरी तरह रहित होना आवश्यक है। यह योग्यता *वैराग्य* कहलाती है। श्री चैतन्य महाप्रभु का छात्र बनने के बाद सार्वभौम भट्टाचार्य ने उनकी प्रशंसा में

एक सौ श्लोक लिखे। इनमें से दो का उल्लेख *श्रीचैतन्य-चरितामृत* में हुआ है जिनमें से एक में यह कथन पाया जाता है—

वैराग्यविद्यानिजभक्तियोगशिक्षार्थमेकः पुरुषः पुराणः।
श्रीकृष्णचैतन्यशरीरधारी कृपाम्बुधिर्यस्तमहं प्रपद्ये॥

"मैं उन भगवान् कृष्ण की शरण ग्रहण करता हूँ जो हमें असली ज्ञान, अपनी भक्ति तथा चैतन्य की शिक्षा देने के लिए श्रीचैतन्य महाप्रभु के रूप में अवतरित हुए हैं। दिव्य दया के सिन्धु होने के कारण ही वे अवतरित हुए हैं। मैं उनके चरणों की शरण ग्रहण करता हूँ।" (*श्रीचैतन्य-चरितामृत* मध्य ६.२५४)। इस तरह सार्वभौम भट्टाचार्य ने भगवान् की प्रार्थना की जिन्होंने लोगों को यह शिक्षा देने के लिए कि किस तरह ज्ञान उत्पन्न करना चाहिए, किस तरह विरक्त होना चाहिए तथा कृष्ण का शुद्ध भक्त बनना चाहिए, चैतन्य महाप्रभु का रूप धारण किया।

जब चैतन्य महाप्रभु चौबीस-पचीस वर्ष के थे तो उन्हें सुन्दर पत्नी तथा अनुरक्त एवं स्नेहमयी माता प्राप्त थी, किन्तु उन्होंने सब त्याग कर संन्यास ग्रहण कर लिया। जब चैतन्य महाप्रभु गृहस्थ थे तो उनका इतना सम्मान किया जाता था कि उनके अंगुल्यानिर्देश से हजारों लोग अवज्ञा आन्दोलन में सम्मिलित होने के लिए तैयार हो गये। नदिया में, जहाँ वे रह रहे थे, उनकी स्थिति अत्यन्त सम्माननीय थी और शारीरिक दृष्टि से वे अत्यन्त सुन्दर थे। तो भी उन्होंने अपनी युवती, आज्ञाकारिणी सुन्दर पत्नी, अपनी स्नेहिल माता, अपना पद तथा सर्वस्व त्याग दिया। यह *वैराग्य* कहलाता है।

यदि किसी के पास कुछ न हो और वह कहे "मैंने सब कुछ त्याग दिया" तो उसके इस वैराग्य का क्या अर्थ है? किन्तु जिसके पास कुछ हो और वह उसका त्याग कर सकता है तो उसका वैराग्य सार्थक है। अतः चैतन्य महाप्रभु का वैराग्य अद्वितीय है। अन्य कोई भी इस तरह से सुखी घर, ऐसा सम्मान तथा अपनी माता, पत्नी, मित्रों एवं छात्रों का ऐसा स्नेह नहीं त्याग सकता। यहाँ तक कि अद्वैत प्रभु, जिनकी आयु चैतन्य महाप्रभु के पिता की आयु जितनी थी, श्रीचैतन्य महाप्रभु का सम्मान

करते थे तो भी चैतन्य महाप्रभु ने सब त्याग दिया। क्यों? हमें शिक्षा देने के लिए (*आपनि आचरि, प्रभु जीवेरे शिखाय*)। उन्होंने सारे जगत को शिक्षा दी कि किस तक विरक्त होकर कृष्ण भक्त बना जाय। अत: जब रूप गोस्वामी सरकारी मंत्री पद से इस्तीफा देकर महाप्रभु से प्रयाग में मिले तो वे महाप्रभु के समक्ष गिर पड़े और उन्हें इस स्तुति के साथ नमस्कार किया—

नमो महावदान्याय कृष्णप्रेमप्रदाया ते।
कृष्णाय कृष्णचैतन्यनाम्ने गौरत्विषे नम: ॥

उन्होंने स्तुति की, "आप अत्यन्त वदान्य हैं, क्योंकि आप कृष्ण-प्रेम का वितरण कर रहे हैं।"

कृष्ण-प्रेम प्राप्त कर पाना आसान नहीं है, क्योंकि इस प्रेम के द्वारा कृष्ण को खरीदा जा सकता है। किन्तु श्रीचैतन्य महाप्रभु ने हरएक को यह कृष्ण-प्रेम वितरित किया। यहाँ तक कि जगाइ-माधाइ नामक दो शराबियों को भी। इसीलिए नरोत्तम दास ठाकुर ने गाया है—

दीन-हीन यत छिल, हरि-नामे उद्धरिल,
ता'र साक्षी जगाइ-मधाइ

चैतन्य महाप्रभु इतने वदान्य हैं कि उन्होंने सभी तरह के पापियों को हरे कृष्ण मन्त्र का कीर्तन करने की अनुमति देकर उनका उद्धार किया। इसका प्रमाण जगाइ तथा मधाइ हैं। हाँ, तब जगाइ-मधाइ दो जन ही थे, किन्तु सम्प्रति न जाने कितने जगाइ-मधाइयों का उद्धार किया जा रहा है। यदि चैतन्य महाप्रभु प्रसन्न हो जाते हैं तो वे किसी को भी *कृष्णप्रेम* प्रदान करते हैं चाहे उसकी योग्यता कुछ भी हो। जो व्यक्ति दान दे रहा हो वह किसी को भी दान दे सकता है।

श्रीचैतन्य महाप्रभु की कृपा के बिना कृष्ण को समझ पाना अत्यन्त कठिन है। *मनुष्याणां सहस्रेषु कश्चिद्यतति सिद्धये* (*भगवद्गीता* ७.३)—लाखों लोगों में से मुश्किल से कोई एक अपने जीवन को आध्यात्मिक दृष्टि से सफल बनाने का प्रयास करता है। लोग पशुओं की तरह कार्य करना पसन्द करते हैं। वे यह नहीं जानते कि मानव जीवन को कैसे सफल

बनाया जावे। मानव जीवन तभी सफल होता है जब मनुष्य कृष्ण को समझता हो, अन्यथा वह पशु बना रहता है। जो व्यक्ति कृष्णभावनाभावित नहीं है, जो यह नहीं जानता कि कृष्ण कौन हैं, वह पशु तुल्य है, किन्तु चैतन्य महाप्रभु इस युग के पतितात्माओं को यह छूट देते हैं "केवल हरे कृष्ण महामन्त्र का जप करो तो तुम्हारा उद्धार हो जाएगा।" यह चैतन्य महाप्रभु द्वारा दी जाने वाली विशेष छूट है (*कीर्तनादेव कृष्णस्य मुक्तसंग: परं व्रजेत*—भागवत १२.३.५१)।

कुन्ती भी कोई सामान्य भक्त न थीं। वे कृष्ण की सम्बन्धिनी बन चुकी थीं, इसीलिए कृष्ण उन्हें नमस्कार करने आये थे। किन्तु तो भी उन्होंने कहा, "हे कृष्ण! मैं अपने पितृकुल तथा अपने पतिकुल—इन दोनों कुलों के प्रति अनुरक्त हूँ। मुझे इन कुलों से विरक्त होने में मेरी मदद करें।" इस तरह उन्होंने यह दिखलाया कि मनुष्य को समाज, मैत्री तथा प्रेम से विरक्त होना चाहिए, अन्यथा ये सब हमें बन्धन में डालते हैं।

जब तक मैं यह सोचता हूँ कि "मैं इस परिवार से, इस राष्ट्र से, इस धर्म से, इस वर्ण से सम्बन्धित हूँ" तब तक कृष्णभावनाभावित होने की कोई सम्भावना नहीं रहती। जब तक मनुष्य सोचता है कि वह अमरीकी, भारतीय या अफ्रीकी है, या कि वह इस या उस परिवार से सम्बद्ध है अथवा अमुक अमुक उसके पिता, माता, पति या पत्नी हैं तब तक वह भौतिक उपाधियों के प्रति आसक्त रहता है। मैं आत्मा हूँ और ये सारी आसक्तियाँ शरीर से सम्बद्ध हैं, किन्तु मैं यह शरीर नहीं। तो मैं किसका पिता या किसकी माता हूँ? परम पिता तथा माता तो कृष्ण हैं। हम सभी पिता, माता, भाई, बहन की केवल भूमिका अदा कर रहे हैं मानो मंच पर हों। माया हमें नचा रही है और हमसे कह रही है, "तुम इस परिवार के या इस राष्ट्र के सदस्य हो।" हम सभी बन्दरों की तरह नाच रहे हैं।

भगवद्गीता में (३.२७) कहा गया है—

प्रकृते: क्रियमाणानि गुणै: कर्माणि सर्वश:।
अहंकार विमूढात्मा कर्ताहमिति मन्यते॥

यह श्लोक सूचित करता है कि चूँकि जीव प्रकृति के किसी एक गुण से सम्बद्ध रहता है, इसलिए प्रकृति उसे गुण के अनुसार नचाती है। इसीलिए वह सोचता है कि "मैं यह हूँ" या "मैं वह हूँ"। *भगवद्गीता* द्वारा प्रदत्त यह सूचना ज्ञान का मूलभूत सिद्धान्त है और यह मनुष्य को स्वतन्त्रता देने वाला है।

यद्यपि सर्वाधिक अनिवार्य शिक्षा वह है जो मनुष्य को देहात्मबुद्धि से मुक्त बनाती है, किन्तु दुर्भाग्यवश विज्ञानी, राजनीतिज्ञ तथा अन्य तथाकथित नेतागण लोगों को गुमराह करते रहते हैं जिससे वे शरीर के प्रति अधिकाधिक अनुरक्त होते रहते हैं। मानवजीवन ही कृष्णभावनाभावित होने का अवसर प्रदान कर सकता है, किन्तु ये धूर्तजन लोगों को शारीरिक उपाधियों के प्रति आकृष्ट करके इस अवसर से उन्हें रोकते रहते हैं, इसलिए वे मानव सभ्यता के सबसे बड़े शत्रु हैं।

मनुष्य चौरासी लाख जीवयोनियों को—जलचरों से पौदों फिर कीड़ों, पक्षियों, पशुओं की योनियों को—पार करते हुए मानव शरीर प्राप्त करता है। यद्यपि लोग यह नहीं जानते कि विकास में अगला चरण क्या होगा किन्तु *भगवद्गीता* में (९.२५) इसकी व्याख्या दी हुई है। *यान्ति देवव्रता देवान्*। विकास के अगले चरण में यदि कोई चाहे तो वह उच्चतर लोकों में जा सकता है। यद्यपि रात के समय लोग अनेक ग्रह तथा तारे देखते हैं, किन्तु वे नहीं जानते कि उच्चतर लोक क्या हैं। किन्तु शास्त्र से पता चलता है कि इन उच्चतर लोकों में समस्त भौतिक सुविधाएँ उपलब्ध हैं और वे भी इस लोक की अपेक्षा अनेकानेक गुनी अधिक मात्रा में हैं। इस लोक में हम अधिक से अधिक एक सौ वर्ष तक जीवित रह सकते हैं, किन्तु उच्चतर लोकों में मनुष्य इतने काल तक रह सकता है जिसकी गणना कर पाना सम्भव नहीं। उदाहरणार्थ, सर्वोच्च लोक के वासी ब्रह्मा की आयु *भगवद्गीता* में (९.१७) बताई गई है—*सहस्रयुगपर्यन्तमहर्यद् ब्रह्मणो विदुः*। *हम अपनी गणित गणना से ब्रह्मा के बारह घण्टों की भी गणना नहीं कर सकते किन्तु ब्रह्मा तक को मरना होता है। भले ही किसी की आयु काफी दीर्घ हो, किन्तु इस जगत में स्थायी रूप से कोई भी जीवित नहीं रह सकता। तो भी, यदि कोई चाहे तो उच्चतर लोकों में जा सकता*

है या इसी तरह पितृलोक जा सकता है। वहाँ उसकी भेंट पितरों से हो सकती है यदि वे वहाँ जाने के पात्र रहे होंगे। इसी तरह यदि कोई चाहता है तो वह पृथ्वी पर भी रहा आ सकता है। या फिर यान्ति मद्याजिनोऽपि माम्—कृष्णभक्त बनकर वह भगवान् के पास जा सकता है।

मनुष्य इच्छानुसार नरक या स्वर्ग या भगवद्धाम जा सकता है। इसलिए बुद्धिमान व्यक्ति को सोचना चाहिए, "यदि मुझे अगले जीवन की तैयारी करनी है तो क्यों न भगवद्धाम वापस जाया जाय?" मनुष्य का यह शरीर नष्ट हो जावेगा तब उसे दूसरा शरीर ग्रहण करना होगा। वह किस तरह का शरीर स्वीकार करेगा इसका वर्णन *भगवद्गीता* में (१४.१८) पाया जाता है। *ऊर्ध्वं गच्छन्ति सत्त्वस्था:*—जो लोग सतोगुणी हैं, जो पापमय जीवन के चार सिद्धान्तों से बचते हैं उन्हें अगले जीवन में उच्चतर लोक प्राप्त होंगे। यदि कोई व्यक्ति भगवान् का शुद्ध भक्त नहीं भी बन पाता, किन्तु वह पापमय जीवन से बचने के विधि-विधानों का पालन करता है तो वह सतोगुणी बनकर इस अवसर को प्राप्त कर सकता है। यह मनुष्य-जीवन इसी उद्देश्य के निमित्त मिला है। किन्तु यदि हम अपने जीवन को कुत्ते-बिल्लियों की तरह खाने, सोने, संभोग करने तथा अपनी रक्षा करने में ही व्यर्थ बिता देते हैं तो हम इस अवसर को हाथ से निकल जाने देंगे।

किन्तु मूढ़ लोग इसे नहीं जानते। उनको अगले जीवन में विश्वास नहीं है। रूस में वहाँ के प्रोफेसर कोतोव्स्की ने मुझसे कहा "स्वामीजी! इस शरीर के समाप्त हो जाने पर सारा खेल समाप्त हो जाता है।" वे बहुत बड़े प्रोफेसर हैं फिर भी उन्होंने ऐसा कहा। ऐसे लोग भले ही अपने को विज्ञानी तथा दार्शनिक कह लें, किन्तु वास्तव में उन्हें कोई ज्ञान नहीं होता। वे अन्यों को केवल गुमराह बनाते हैं। हमारे शोक का सबसे बड़ा स्रोत यही है। इसलिए मैंने कृष्णभावनामृत आन्दोलन के सदस्यों से अनुरोध किया है कि वे इन मूढ़ों को, जो सारे मानव समाज को गुमराह कर रहे हैं, ललकारें और पराजित करें। लोगों को यह नहीं सोचना चाहिए कि कृष्ण भक्त कोरे भावनावादी हैं। इसके विपरीत भक्तगण महानतम दार्शनिक तथा विज्ञानी हैं।

कृष्ण के दो कार्य हैं— *परित्राणाय साधूनां विनाशाय च दुष्कृताम्*—साधुओं या भक्तों को संरक्षण प्रदान करना तथा असुरों का बध करना। कृष्ण ने पाण्डवों तथा वृष्णियों को इसलिए संरक्षण प्रदान किया क्योंकि वे भक्त थे। उन्होंने कंस, अघासुर, बकासुर जैसे असुरों का बध भी किया। इन दोनों कार्यों में से असुरों का बध करना उनका मुख्य कार्य था। यदि हम इसकी परीक्षा करें कि उन्होंने बध करने और रक्षा करने में कितना कितना समय लगाया तो हम देखेंगे कि बध करने में उन्होंने अधिक समय व्यतीत किया। इसी तरह जो लोग कृष्णभावनाभावित हैं उन्हें भी बध करना चाहिए—हथियार से नहीं अपितु तर्क से तथा शिक्षा से। यदि कोई असुर है तो हम उसकी आसुरी लालसाओं को मारने के लिए तर्क का सहारा ले सकते हैं। इस कलियुग में लोग पहले से निर्धन हैं और उनका शारीरिक बध उनके लिए बहुत बड़ा दण्ड होगा। इसलिए उन्हें तर्क तथा वैज्ञानिक आध्यात्मिक ज्ञान द्वारा मारना चाहिए।

कुन्ती कृष्ण को *विश्वेश* कहकर पुकारती हैं। विश्वेश का अर्थ है "ब्रह्माण्ड का नियन्ता"। ब्रह्माण्ड के सारे कार्य सुचारु रूप से चलते रहते हैं—सूर्य समय से उदय होता है, ऋतुएँ बदलती हैं और ऋतु के अनुसार फल-फूल प्रकट होते रहते हैं। इस तरह कोई कुव्यवस्था नहीं रहती। किन्तु ये सारी बातें किस तरह सुचारु रूप से घटित होती हैं यदि कोई नियन्ता नहीं है? जब हम किसी प्रतिष्ठान को अच्छी तरह चलते देखते हैं तो यह समझ जाते हैं कि इसका मैनेजर, निर्देशक या नियन्ता दक्ष है। इसी तरह यदि हम ब्रह्माण्ड के कार्यों को सुचारु रूप से चलते देखते हैं तो हमें जान लेना चाहिए कि इसके पीछे कोई अच्छा नियन्ता है। और वह नियन्ता कौन है? वह नियन्ता कृष्ण है जैसा कि *भगवद्गीता* में कहा गया है (*मयाध्यक्षेण प्रकृतिः सूयते सचराचरम्*)। इसीलिए कुन्ती उन्हें *विश्वेश* कहकर पुकारती हैं। लोगों की रुचि तो कृष्ण द्वारा राधारानी का आलिंगन करती हुई तस्वीरों में है जिनमें राधा तथा कृष्ण के बर्तावों को सामान्य बालक-बालिकाओं जैसा चित्रित किया जाता है। ऐसी दूषित तस्वीरों से बचना चाहिए। कृष्ण परम नियन्ता हैं। अतएव कृष्ण की ऐसी तस्वीर होनी चाहिए जिनमें सम्पूर्ण ब्रह्माण्ड का नियन्त्रण करते हुए उन्हें दिखाया

गया हो। इस तरह की तस्वीरों की आवश्यकता है, इन सस्ती तस्वीरों की नहीं।

जब तक इस शरीर के भीतर जीवनीशक्ति विद्यमान नहीं रहती, यह शरीर न तो हिल-डुल सकता है, न ठीक से काम कर सकता है। इसी तरह ब्रह्माण्ड के भीतर कृष्ण जीवनीशक्ति रूप में—क्षीरोदकशायी विष्णु या परमात्मा रूप में—उपस्थित हैं। इसीलिए कुन्ती कृष्ण को *विश्वात्मा* कहकर पुकारती हैं। मूढ़ों को यह ज्ञात नहीं है कि यह विश्व किस तरह गतिमान है और यह ब्रह्माण्ड किस तरह क्रियाशील है अतएव उन्हें *श्रीमद्भागवत* से इसे सीखना चाहिए।

कुन्तीदेवी कृष्ण को विश्वमूर्ति भी कहती हैं। जब अर्जुन ने कृष्ण का विश्वरूप देखना चाहा तो कृष्ण ने तुरन्त ही प्रकट कर दिया। यह कृष्ण का अन्य ऐश्वर्य (*विभूति*) है। किन्तु भगवान् का आदि रूप द्विभुजी वंशी बजाते हुए कृष्ण का रूप है। चूँकि अर्जुन भक्त था और विश्व रूप देखना चाहता था, अतएव कृष्ण ने उसे दिखलाया किन्तु यह उनका असली रूप न था। कोई व्यक्ति राजा का वेश बना सकता है, किन्तु उसका असली रूप तो घर पर देखा जा सकता है। इसी तरह कृष्ण का असली रूप वृन्दावन में उनके घर पर देखा जा सकता है। उनके अन्य सारे रूप उनके स्वांशों के अंश हैं। जैसा कि *ब्रह्म-संहिता* में कहा गया है—*अद्वैतमच्युतदिमनन्तरूपम्*—वे करोडों रूपों में अपना विस्तार कर सकते हैं (*अनन्तरूपम्*) किन्तु वे एक (*अद्वैत*) हैं और अच्युत हैं। फिर भी उनका असली रूप *द्विभुज मुरलीधर* है। इसीलिए कुन्तीदेवी कहती हैं, "आपका विश्वरूप है किन्तु आप जिस रूप में मेरे सामने खड़े हैं वही आपका असली रूप है।"

कुन्तीदेवी प्रार्थना करती हैं, "कृपा करके मेरे सम्बन्धियों से मेरे स्नेह-बन्धन को छिन्न कर दें।" हम सोचते हैं कि "यह मेरा है, वह मेरा है" किन्तु यह *मोह* है (*जनस्य मोहोऽयमहं ममेति*)। यह मोह किस तरह उत्पन्न होता है? यह स्त्री तथा पुरुष के मध्य सहज आकर्षण से प्रारम्भ होता है। पुरुष स्त्री को ढूँढता है और स्त्री पुरुष को ढूँढती है। यह न केवल मानव समाज पर लागू होता है, अपितु पक्षी, पशु आदि समाजों पर

भी लागू होता है। भौतिक अनुरक्ति का यही सूत्रपात है। जब पुरुष किसी स्त्री को पा लेता है और उससे संभोग करता है तो यह अनुरक्ति और भी दृढ हो जाती है (*तयोर्मिथो हृदयग्रन्थिमाहुः*)। जब यह अनुरक्ति कुछ हद तक बढ़ जाती है तो पुरुष-स्त्री साथ रहने के लिए कमरे की तलाश करते हैं और तब पुरुष को कमाने की आवश्यकता पड़ती है। जब वे ठीक से व्यवस्थित हो लेते हैं तो उन्हें सन्तान चाहिए और कुछ मित्र भी चाहिए जो आवें तथा प्रशंसा करें "वाह! तुम्हारे पास कितना अच्छा मकान है और कितने सुन्दर बच्चे हैं।" इस तरह उसकी अनुरक्ति बढ़ती है।

इसीलिए विद्यार्थी की शिक्षा ब्रह्मचर्य से प्रारम्भ होनी चाहिए जिसका अर्थ है यौन आसक्ति से छुट्टी। यदि वह करने में सक्षम हो तो उसे इस सारी झंझट से बचना चाहिए। यदि नहीं, तो वह विवाह कर सकता है और कुछ काल बाद *वानप्रस्थ* आश्रम में प्रवेश करता है। उस समय वह सोचता है, "मैंने इस अनुरक्ति को काफी भोग लिया, अब मुझे घर छोड़ना चाहिए।" तब वह विरक्त बनने के लिए विविध तीर्थस्थलों की यात्रा करता है और उसकी पत्नी सहायक बनकर उसके साथ साथ रहती है। दो-तीन मास बाद वह यह देखने के लिए फिर से घर आता है कि बच्चे ठीक से तो हैं और पुनः चला जाता है। यह विरक्ति की शुरुआत होती है। जब विरक्ति पूर्ण हो जाती है तो पुरुष अपनी पत्नी से कहता है "अब तुम बच्चों के साथ रहो। मैं संन्यास लूँगा।" यह अन्तिम विरक्ति है। सम्पूर्ण *वैदिक* जीवन-शैली विरक्ति के लिए है इसीलिए कुन्ती प्रार्थना करती हैं "कृपया इस पारिवारिक आकर्षण से विलग होने में मेरी सहायता करें।" यही कुन्तीदेवी की शिक्षा है।

२५. अनन्य भक्ति

त्वयि मेऽनन्यविषया मतिर्मधुपतेऽसकृत्।
रतिमुद्वहतादद्धा गंगेवौघमुदन्वति॥

हे मधुपति! जिस प्रकार गंगा नदी बिना किसी व्यवधान के समुद्र की ओर बहती है उसी प्रकार मेरा आकर्षण अन्य किसी की ओर न बँटकर आपकी ओर निरन्तर बना रहे।

—(*श्रीमद्भागवत १.८.४२*)

शुद्ध भक्ति की सिद्धि तभी प्राप्त होती है जब सारा ध्यान भगवान् की प्रेमा भक्तिकी ओर लगा रहे। अन्य सारे स्नेह-बन्धनों को छिन्न करने का अर्थ अन्य किसी से स्नेह का पूर्ण निषेध नहीं होता। ऐसा सम्भव नहीं है। चाहे कोई भी जीव क्यों न हो उसे अन्यों के प्रति स्नेहभाव रखना चाहिए क्योंकि यह जीवन का लक्षण है। इच्छा, क्रोध, लोभ, आकर्षण, भावना जैसे जीवन-लक्षणों को विनष्ट नहीं किया जा सकता। केवल उद्देश्य बदलना होता है। इच्छा का कभी निषेध नहीं है लेकिन भक्ति योग में इच्छा को इन्द्रियतृप्ति के स्थान पर भगवान् की सेवा में लगाना होता है। परिवार, समाज, देश इत्यादि के प्रति तथाकथित स्नेह इन्द्रियतृप्ति की विभिन्न अवस्थाओं में बना हुआ है। जब इस इच्छा को भगवान् की तृप्ति के लिए बदल दिया जाता है तो यह *भक्ति* कहलाती है।

भगवद्गीता में हम देखते हैं कि अर्जुन अपने भाइयों तथा सम्बन्धियों से अपनी इच्छाओं की तुष्टि हेतु लड़ना नहीं चाह रहा था। लेकिन जब उसने भगवान् का सन्देश अर्थात् *श्रीमद्भगवद्गीता* सुना तो उसने अपना निर्णय बदल दिया और वह भगवान् की सेवा करने लगा। ऐसा करने से वह भगवान् का विख्यात भक्त बन गया, क्योंकि सारे शास्त्रों में यह घोषित किया गया है कि भगवान् की मित्रता करके अर्जुन ने भक्ति द्वारा आध्यात्मिक सिद्धि प्राप्त की। यद्यपि युद्ध, शत्रुता, अर्जुन तथा कृष्ण का प्रेम अपने अपने स्थान पर थे लेकिन अर्जुन भक्ति के कारण सर्वथा भिन्न व्यक्ति बन गया। अतएव कुन्ती की प्रार्थनाएँ भी कार्यों में वैसे ही परिवर्तन की सूचना देती हैं। श्रीमती कुन्ती एकान्तभाव से भगवान् की सेवा करना चाह रही थीं और यही उनकी प्रार्थना थी। यह अनन्य भक्ति (निष्ठा) ही जीवन का परम लक्ष्य है। सामान्यतया हमारा ध्यान ऐसी वस्तु की सेवा की ओर आकृष्ट किया जाता है जो अनीश्वरीय होती है अथवा भगवान् की योजना में नहीं होती। जब यह योजना भगवान् की सेवा में बदल जाती है अर्थात् जब भगवान् की सेवा से इन्द्रियाँ शुद्ध हो जाती हैं तो यह सेवा शुद्ध अनन्य भक्ति कहलाती है। श्रीमती कुन्तीदेवी को इसी सिद्धि की कामना थी और वे भगवान् से इसी के लिए प्रार्थना कर रही थीं।

पाण्डवों तथा वृष्णियों के प्रति उनका स्नेह भक्ति की सीमा के बाहर नहीं है क्योंकि भगवान् की सेवा तथा भक्तों की सेवा अभिन्न हैं। कभी कभी भक्त की सेवा भगवान् की सेवा से बढ़ कर होती है। लेकिन यहाँ पर पाण्डवों तथा वृष्णियों के प्रति कुन्तीदेवी का स्नेह पारिवारिक सम्बन्ध के कारण था। भौतिक सम्बन्ध के सन्दर्भ में यह स्नेह-बन्धन माया का सम्बन्ध है क्योंकि शरीर या मन के सम्बन्ध बहिरंगा शक्ति के प्रभाव के कारण होते हैं। जब आत्मा अपना सम्बन्ध परमात्मा के साथ स्थापित करता है तो वह वास्तविक सम्बन्ध होता है। कुन्तीदेवी द्वारा पारिवारिक सम्बन्ध छिन्न किये जान का अभिप्राय यह था कि वे रक्त-सम्बन्ध को छिन्न करना चाह रही थीं। यह रक्त-सम्बन्ध भव-बन्धन का कारण है, किन्तु आत्मा का सम्बन्ध स्वतन्त्रता का कारण है। आत्मा से आत्मा

का यह सम्बन्ध परमात्मा के सम्बन्ध के माध्यम से स्थापित किया जा सकता है। अंधेरे में देखना कोई देखना नहीं। लेकिन सूर्य प्रकाश में देखने का अर्थ है सूर्य को तथा न दिखने वाले अन्धकार को देखना। यही भक्तियोग की रीति है।

श्रीमद्भागवत के पिछले श्लोक में कुन्तीदेवी ने यह प्रार्थना की थी की "हे भगवान! कृपा करके पाण्डवों तथा वृष्णियों के कुलों से मेरा आकर्षण छिन्न कर दें।" किन्तु भौतिक वस्तुओं के लिए किसी को अपने आकर्षण का परित्याग ही पर्याप्त नहीं होता। मायावादी दार्शनिकों का कथन है—*ब्रह्म सत्यम् जगन्मिथ्या*—यह जगत मिथ्या है और ब्रह्म (आत्मा) सत्य है। हम इसे स्वीकार करते हैं, किन्तु इसकी विशेषता बताते हैं। जीवों के रूप में हम भोग चाहते हैं। भोग का अर्थ है विविधता। विविधता के बिना किसी वस्तु का भोग करना सम्भव नहीं है। ईश्वर ने इतने रंग तथा इतने रूप क्यों बनाये? विविधता से भोग उत्पन्न करने के लिए क्योंकि विविधता भोग की जननी है।

मायावादी दार्शनिक या निर्विशेषवादी इस विविधता का निषेध करना चाहते हैं, किन्तु परिणाम क्या निकलता है? चूँकि उन्हें भक्ति स्वीकार्य नहीं, अत: वे तपस्या करने में कठिन श्रम करते हैं जिसका कोई स्थायी परिणाम नहीं निकलता। इसी की व्याख्या *श्रीमद्भागवत* में (१०.२.३२) एक प्रार्थना में की गई है।

येऽन्येऽरविन्दाक्ष विमुक्तमानिनस्त्वय्यस्तभावादविशुद्धबुद्धय:।
आरुह्य कृच्छ्रेण परं पदं तत: पतन्त्यधोऽनादृत युष्मदङ्घ्रय:॥

"हे कमललोचन! जो लोग सोचते हैं कि वे इस जीवन में मुक्त हैं, किन्तु आपकी भक्ति नहीं करते वे अवश्य भी अशुद्ध बुद्धिवाले होंगे। यद्यपि वे कठोर तपस्या को अंगीकार करते हैं और निर्विशेष ब्रह्म को प्राप्त करते हैं, किन्तु वे पुन: नीचे गिर जाते हैं क्योंकि वे आपके चरणकमलों की पूजा की उपेक्षा करते हैं।"

यह मनुष्य जीवन ईश्वर से अपना सम्बन्ध फिर से स्थापित करने तथा उस सम्बन्ध के अनुसार कर्म करने के निमित्त है। यहाँ तक कि सामान्य

व्यवहार में भी यदि एक व्यापारी दूसरे व्यापारी से व्यापार करना चाहता है तो सर्वप्रथम उसे उसके साथ सम्बन्ध स्थापित करना होता है। उसी के बाद लेन-देन (सौदा) हो सकता है। इसी तरह पति-पत्नी विवाह के द्वारा सम्बन्ध स्थापित करते हैं और तब साथ साथ रहते हैं। ठीक ऐसे ही यह मनुष्यजीवन ईश्वर के साथ सम्बन्ध स्थापित करने के लिए है। भौतिक जगत का अर्थ है इस सम्बन्ध का विस्मरण। इस संसार में कृष्णभावनामृत का उदय होता है। जैसे ही कृष्ण को आधार मानकर कर्म किया जाता है, कि भौतिक जगत न रहकर आध्यात्मिक जगत उपस्थित हो जाता है।

स्त्री होने के नाते कुन्तीदेवी का सम्बन्ध दो कुलों से था। यही उनकी अनुरक्ति थी। इसीलिए उन्होंने इन सम्बन्धों को छिन्न करने और इनसे मुक्त करने के लिए कृष्ण से प्रार्थना की। किन्तु मुक्त होने के बाद वे क्या करेंगी? यही अहम् प्रश्न है। किसी काम में नियुक्त व्यक्ति को जब असुविधा होने लगती है तो वह त्यागपत्र देता है। यह त्यागपत्र उचित हो सकता है, किन्तु ऐसा करने से वह बेकार हो जाता है, उसके पास कार्य नहीं रहता। तो उसके त्यागपत्र का क्या महत्व रहा?

जो लोग हताश तथा उद्विग्न रहते हैं वे इस भौतिक जगत का निषेध करना चाहते हैं। वे यह तो जानते हैं कि वे क्या नहीं चाहते किन्तु यह नहीं जानते कि वे क्या चाह रहे हैं। लोग सदैव यही कहते हैं "मैं यह नहीं चाहता।" किन्तु वे चाहते क्या हैं? यह वे नहीं जानते।

मनुष्य की चाह क्या हो इसकी विवेचना कुन्तीदेवी ने की है। वे कहती हैं "मेरे सारे पारिवारिक सम्बन्ध समाप्त हो जायँ, किन्तु आपसे मेरे सम्बन्ध पुष्ट हों।" दूसरे शब्दों में, वे कृष्ण के अतिरिक्त अन्य किसी वस्तु से आकृष्ट नहीं होना चाहतीं। यही पूर्णता (सिद्धि) है और यही वांछनीय है।

अनन्यविषया का भावार्थ *अनन्य भक्ति* है—ऐसी भक्ति जो विचलित नहीं होती। हमें चौबीसों घण्टे कृष्ण के प्रति अनुरक्त रहना चाहिए। इस तरह हमारा वैराग्य पूर्ण हो सकता है। यदि हम सोचें कि एक ही साथ कृष्ण तथा भौतिक वस्तुओं से अनुरक्त रहें तो यह भारी भूल होगी। एक

ही साथ हम आग जलाने और उस पर पानी डालने का कार्य नहीं कर सकते। यदि ऐसा करते हैं तो आग काम नहीं करेगी।

मायावादी संन्यासी इस जगत को त्याग देते हैं (*ब्रह्म सत्यं जगन्मिथ्या*)। संसार से वैराग्य लेने का उपदेश देना अच्छा है, किन्तु उसी के साथ हमें किसी न किसी वस्तु के प्रति आकर्षण चाहिए अन्यथा हमारा वैराग्य टिक नहीं पावेगा। हम ऐसे अनेक संन्यासी देखते हैं जो कहते हैं *ब्रह्म सत्यं जगन्मिथ्या*, किन्तु संन्यास लेने के बद वे अस्पताल खोलने तथा उपकारी कार्य करने के लिए पुनः भौतिक जगत में लौट आते हैं। ऐसा क्यों? यदि उन्होंने संसार को *मिथ्या* मानकर इसे त्याग दिया है तो राजनीति, परोपकार तथा समाज-सेवा के लिए फिर क्यों लौटते हैं? वस्तुतः ऐसा होता ही है क्योंकि हम जीव हैं और सक्रिय हैं। यदि हताशावश हम निष्क्रिय बनने का प्रयास करते हैं तो अपने प्रयास में विफल होंगे। हमें कर्मों में लगे रहना होगा।

सर्वोच्च सक्रियता या ब्रह्म सक्रियता तो भक्ति है। दुर्भाग्यवश मायावादी इसे नहीं जानते। वे आध्यात्मिक जगत को शून्य सोचते हैं। किन्तु आध्यात्मिक जगत इस जगत के ही समान विविधतापूर्ण है। आध्यात्मिक जगत में भी घर, वृक्ष, सड़कें, रथ—सब हैं, किन्तु वे भौतिक उन्माद से रहित होते हैं। *ब्रह्म-संहिता* में (५.२९) कहा गया है—

चिन्तामणिप्रकरसद्यसु कल्पवृक्षलक्षावृतेषु सुरभीरभिपालयन्तम्।
लक्ष्मीसहस्रशतसम्भ्रमसेव्यमानं गोविन्दमादि पुरुषं तमहं भजामि॥

"मैं उन आदि भगवान् गोविन्द की पूजा करता हूँ जो आध्यात्मिक मणियों से बने हुए एवं करोड़ों कल्पवृक्षों से घिरे हुए घरों में गौवों को पालते तथा इच्छाओं को पूरा करते हैं। उनकी सेवा सदैव लाखों लक्ष्मियों या गोपियों द्वारा बड़े ही आदर तथा स्नेह से की जाती है।"

आध्यात्मिक जगत में *कल्पवृक्ष* होते हैं जो मनवांछित फल देने वाले हैं। भौतिक जगत में आम का वृक्ष अंगूर नहीं दे सकता, न अंगूर की लतर आम। किन्तु आध्यात्मिक जगत में यदि हम वृक्ष से आम तोड़ें और उसी समय अंगूर की इच्छा करें तो वह वृक्ष अंगूर दे देगा। उसे

हम कल्पवृक्ष कहते हैं। आध्यात्मिक जगत की ये कुछ वास्तविकताएँ हैं।

इस भौतिक जगत में हमें सूर्य तथा चन्द्रमा के प्रकाश की आवश्यकता पड़ती है, किन्तु आध्यात्मिक जगत में न तो सूर्यप्रकाश की आवश्यकता पड़ती है, न चन्द्र-प्रकाश की क्योंकि वहाँ की हर वस्तु प्रकाशवान् है। कृष्णलीला में कृष्ण जब मक्खन चुराते हैं तो पड़ोस के मित्र माता यशोदा से चुगली कर देते हैं। वास्तव में वे चुगली नहीं कर रहे थे वे कृष्ण के शारीरिक गुणों तथा हँसी का आनन्द ले रहे थे। उन्होंने माता यशोदा से जाकर कहा, "आपका लाडला हमारे घर में आकर माखन चुराता है। हम माखन को अँधेरे में छिपाते हैं जिससे वह देख न पावे तो भी वह उसे ढूँढ लेता है। अच्छा हो कि आप उसके आभूषण उतार लें क्योंकि हमारे विचार से इन आभूषणों के प्रकाश से उसे मटकी ढूँढने में सहायता मिलती है।" माता यशोदा ने उत्तर दिया "हाँ, मैं सारे आभूषण उतार लूँगी।" किन्तु पड़ोसी कहते "नहीं! नहीं! यह व्यर्थ है। इस बालक में ऐसा तेज है जो उससे स्वयं प्रकट होता रहता है। वह बिना आभूषणों के ही माखन ढूँढ लेता है।" इस तरह यह दिव्य बालक तेजस्वी है।

यह प्रकाश कृष्ण के दिव्य शरीर के तेज के कारण है। हम जो भी प्रकाश देखते हैं वह कृष्ण के तेज से उधार लिया हुआ रहता है। *ब्रह्म-संहिता* में (५.४०) कहा गया है—

यस्यप्रभा प्रभवतो जगदण्डकोटि-
कोटिष्वशेषवसुधादिविभूतिभिन्नम्।
तद्ब्रह्म निष्कलमनन्तमशेषभूतं
गोविन्दमादिपुरुषं तमहं भजामि॥

"करोड़ों ब्रह्माण्डों में असंख्य लोक हैं और इनमें से हर लोक अपनी विश्व रचना के कारण अन्यों से भिन्न है। ये सारे लोक ब्रह्मज्योति के भीतर स्थित हैं। यह ब्रह्मज्योति भगवान् के शरीर का तेज है जिसकी मैं पूजा करता हूँ।"

कृष्ण के शारीरिक तेज से लाखों ब्रह्माण्ड उत्पन्न होते हैं। इस सौर मण्डल में सूर्य से अनेक ग्रह उत्पन्न हैं और सूर्यप्रकाश से ये ग्रह तप्त

रहते हैं तथा ऋतुएँ बदलती हैं। सूर्य में हम जो भी देखते हैं वह कृष्ण के शारीरिक तेज के कारण है।

मायावादी केवल तेज को देखते हैं जो निर्विशेष है। इससे अधिक वे कुछ भी नहीं देखते। हम हवाईजहाज को आकाश में उड़ते देख सकते हैं, किन्तु थोड़ी देर बाद यह चकाचौंधवाली धूप के कारण हमारी दृष्टि से ओझल हो जाता है। हवाईजहाज रहता है, किन्तु हम देख नहीं पाते। इसी तरह यदि हम ब्रह्माज्योति को देखने का प्रयास करें तो उसके भीतर देख नहीं पावेंगे। इसीलिए *ईशोपनिषद* के एक मन्त्र में ईश्वर से याचना की गई है कि वे अपने तेज को हटा लें जिससे उनका ठीक से दर्शन किया जा सके।

मायावादी दार्शनिक न तो कृष्ण के साकार कार्यकलापों को देख सकते हैं, न ही उस लोक को जहाँ कृष्ण स्वयं सक्रिय हैं। *भागवत* में कहा गया है—*आरुह्य कृच्छ्रेण परं पदं ततः पतन्त्यधोऽनादृतयुष्मदङ्घ्रयः*— चूँकि उन्हें कृष्ण के चरणकमल नहीं दिखते इसलिए तमाम कठोर तपस्याओं के बावजूद उन्हें इस भौतिक जगत में लौट आना पड़ता है। अतएव मात्र वैराग्य से काम सरने वाला नहीं है। हम कृत्रिम रूप से भले ही विरक्त हो लें किन्तु हम पुनः तथाकथित भोक्ता बन जावेंगे। अतः वैराग्य तथा भोग उस लोलक की भाँति हैं जो इधर-उधर हिलता-डुलता है। एक ओर हम मिथ्या ही विरक्त बनते हैं और दूसरी ओर मिथ्या-भोक्ता। किन्तु उसका इलाज है। यदि हम सचमुच ही इस भौतिक जगत से विरक्त होना चाहते हैं तो हमें कृष्णभावनामृत के प्रति अनुरक्ति बढ़ानी होगी। मात्र विरक्ति या वैराग्य से काम नहीं चलेगा। इसीलिए कुन्तीदेवी कहती हैं—*त्वयि मेऽनन्यविषया*। वे प्रार्थना करती हैं कि उनका आकर्षण सदैव कृष्ण के प्रति बना रहे, वह अन्य किसी वस्तु की ओर न मुड़े। यही भक्ति है क्योंकि जैसा कि रूप गोस्वामी ने उल्लेख किया है भक्ति को अनन्य, अमिश्रित होना चाहिए। (*अन्याभिलषिताशून्यं ज्ञानकर्माद्यनावृतम्*)।

इस जगत में *ज्ञानी* तथा *कर्मी* हैं। *कर्मी* जन मूर्ख हैं क्योंकि वे व्यर्थ ही कठिन श्रम करते हैं और *ज्ञानी* वे लोग हैं जो तनिक ऊँचा उठने पर सोचते हैं, "इतना कठिन श्रम, इतना धन तथा भोजन क्यों

संग्रह किया जाय और इतनी मिथ्या प्रतिष्ठा?'' ज्ञानी इस तरह सोचते हैं। किन्तु भक्त ज्ञानियों तथा कर्मियो से परे होता है। कर्मियों में अनेक इच्छाएँ रहती हैं और ज्ञानी समस्त इच्छाओं से मुक्त हो लेना चाहता है। किन्तु इच्छारहित होना तभी सम्भव है जब हम कृष्ण की सेवा करने की इच्छा करें। अन्यथा इच्छाओं से पीछा छुटा पाना सम्भव नहीं है। *ज्ञानकर्माद्यनावृतम्*। भक्त के रूप में हममें ज्ञान तथा कर्म की कोई इच्छा नहीं होनी चाहिए। हममें भौतिक वस्तुओं के प्रति कोई आसक्ति नहीं होनी चाहिए किन्तु कृष्ण के प्रति आसक्ति होनी चाहिए। इस तरह हमारी विरक्ति स्थिर हो सकेगी।

हमें अनुकूल ढंग से कृष्णभावनामृत का अनुशीलन करना चाहिए (*आनुकूल्येन कृष्णानुशीलनम्*)। इसका अर्थ है कि कृष्ण किस तरह तुष्ट हों उसका चिन्तन करना चाहिए। हमें चाहिए कि गोपियों की तरह सदैव कृष्ण का ही चिन्तन करें। गोपियों का कृष्णभावनामृत परिपूर्ण था क्योंकि उनमें कृष्ण को प्रसन्न करने के प्रयास के अतिरिक्त अन्य कोई इच्छा नहीं थी। यही पूर्णता या सिद्धि है। अतएव श्रीचैतन्य महाप्रभु की संस्तुति है—*रम्या काचिदुपासना व्रजवधूवर्गेण या कल्पिता*—भगवान् की पूजा करने के लिए गोपियों द्वारा अपनाई गई विधि से उत्तम विधि नहीं है।

गोपियों में कृष्ण को तुष्ट करने के अतिरिक्त कोई अन्य इच्छा नहीं थी। सारी गोपियाँ, यहाँ तक कि वृद्धा गोपियाँ, यशोदा तथा उनकी सखियाँ उनको तुष्ट करने का प्रयास करतीं और उसी तरह वृद्ध गोप यथा नन्द महाराज तथा उनके मित्र। वृन्दावन के बालक तथा बालिकाएँ दोनों ही, जो कृष्ण के समवयस्क थे, उन्हें तुष्ट करने का प्रयास करते। हर प्राणी कृष्ण को तुष्ट करना चाहता—यहाँ तक कि वृन्दावन की गौवें, फूल, फल तथा नदियाँ भी। ऐसा इसलिए है क्योंकि वृन्दावन की हर वस्तु आध्यात्मिक है, कुछ भी भौतिक नहीं।

हमें आध्यात्मिक तथा भौतिक के अन्तर को समझना चाहिए। भौतिक वस्तु में जीवन के लक्षण नहीं रहते किन्तु जो आध्यात्मिक है उसमें जीवन के लक्षण रहते हैं। आध्यात्मिक तथा भौतिक—दोनों ही जगतों में वृक्ष जीव के रूप में हैं, किन्तु यहाँ के वृक्षों में जीवन-लक्षण अनुपस्थित

रहते हैं। मनुष्य जीव है और आध्यात्मिक जगत के भक्त भी जीव हैं, किन्तु वे मनुष्य जो कृष्णभावनाभावित नहीं हैं उनमें जीवन के लक्षण अनुपस्थित रहते हैं।

वस्तुतः कृष्णचेतना के अतिरिक्त कोई अन्य चेतना नहीं है और वह चेतना आध्यात्मिक है। इस तरह इस भौतिक जगत में भी यदि हम अपनी कृष्ण-चेतना में वृद्धि करते हैं तो हम आध्यात्मिक जगत में रह रहे होंगे। यदि हम मन्दिर में रहते हैं तो हम आध्यात्मिक जगत में रहते हैं, क्योंकि मन्दिर में कृष्णचेतना के अतिरिक्त कोई अन्य कार्य नहीं रहता। कृष्ण के लिए और ढेर सारे कार्य रहते हैं। जो लोग कृष्णभावनामृत के विधि-विधानों का कठोरता से पालन करते हैं वे भौतिक जगत में नहीं प्रत्युत आध्यात्मिक जगत में रहते हैं। हम अपने को न्यूयार्क, लासऐंजिलिस या अन्यत्र कहीं रहता सोच सकते हैं किन्तु वास्तव में हम वैकुण्ठ में होते हैं।

यह चेतना का प्रश्न है। एक खटमल तथा गुरु, दोनों एक ही आसन पर बैठे हो सकते हैं, किन्तु गुरु में चेतना विकसित है और खटमल में नहीं, इसलिए दोनों भिन्न भिन्न हैं। दोनों एक ही आसन पर क्यों न हों किन्तु खटमल खटमल रहता है और गुरु गुरु। भले ही दिशाकाश में उनकी स्थिति एक हो जिस तरह हम भौतिक जगत या आध्यात्मिक जगत में होते हैं किन्तु यदि हमारी कृष्णचेतना प्रबल है तो हम भौतिक जगत में नहीं होते।

इस तरह केवल सांसारिक वस्तुओं का त्याग या वैराग्य अपने में पर्याप्त नहीं। वैराग्य सहायक हो सकता है, किन्तु पूरी तरह से नहीं। जब हम कृष्ण के लिए आसक्ति बढ़ा लेंगे तो हमारा वैराग्य पूर्ण होगा। जब हम कृष्ण के प्रति अनुरक्ति बढ़ाते हैं तो भौतिक जगत के लिए आसक्ति में स्वतः ह्रास आता है। कृष्ण तथा भौतिक जगत दोनों के प्रति आसक्ति साथ साथ नहीं चल सकती। यदि कोई स्त्री दो पुरुषों—अपने पति तथा जारपति—के प्रति आसक्त रहती है तो वह उस दोनों के प्रति अपनी आसक्ति को स्थिर नहीं रख सकती। जारपति के लिए उसकी आसक्ति बढ़ जावेगी। यद्यपि वह पति के घर में अच्छी तरह से कार्य करती रहती है, किन्तु उसका मन जारपति पर लगा रहता है और वह सोचेगी, "मैं

आज रात में उससे कब मिल पाऊँगी?'' इसी तरह यदि हम कृष्ण के लिए अपनी आसक्ति को बढ़ा लें तो इस जगत से वैराग्य स्वत: ही हो जावेगा। (*भक्ति: परेशानुभवो विरक्तिरन्यत्र च*—भागवत ११.२.४२)।

इस तरह कुन्तीदेवी कृष्ण से प्रार्थना करती हैं कि वे उनपर कृपा करें जिससे वे उनके प्रति अनुरक्त बनें। हम कृष्णकृपा के बिना कृष्ण के प्रति अपनी अनुरक्ति नहीं बढ़ा सकते। हम कृष्णकृपा के बिना भक्त नहीं बन सकते। इसलिए हमें कृष्ण की सेवा करनी होगी, क्योंकि वे सेवा से तुष्ट होते हैं।

कृष्ण को किसी की सेवा नहीं चाहिए क्योंकि वे अपने में पूर्ण हैं। किन्तु यदि हम प्राणापण से तथा निष्ठापूर्वक उनकी सेवा करते हैं तो उनकी कृपा से हम प्रगति कर सकते हैं। *सेवोन्मुखे हि जिह्वादौ स्वयमेव स्फुरत्यद:*। ईश्वर स्वयं हमारे समक्ष प्रकट होंगे। हम ईश्वर को इन भोथरी आँखों से नहीं देख सकते। तो फिर उन्हें कैसे देख सकते हैं? *प्रेमाञ्जनच्छुरित भक्तिविलोचनेन सन्त: सदैव हृदयेषु विलोकयन्ति* (*ब्रह्म-संहिता* ५.३८)। हमें अपनी आँखों में प्रेम का अंजन लगाना होता है। तब कृष्ण अपने को प्रकट करेंगे। कृष्ण हमारे समक्ष आऐंगे।

जब ध्रुव महाराज तपस्या कर रहे थे और अपने हृदय में विष्णु के स्वरूप का ध्यान कर रहे थे तो सहसा विष्णु अन्तर्धान हो गये जिससे उनका ध्यान टूट गया। आँख खोलने पर ध्रुव महाराज ने विष्णु को अपने समक्ष देखा। ध्रुव महाराज की ही तरह हमें सदैव कृष्ण का चिन्तन करना चाहि। जब हमें सिद्धि प्राप्त हो जावेगी तो हम अपने समक्ष कृष्ण को देख सकेंगे। यही विधि है। हमें जल्दबाजी नहीं करनी है। हमें उपयुक्त समय की प्रतीक्षा करनी होगी। कृष्ण का दर्शन पाने के लिए उत्सुक होना अच्छी बात है, किन्तु यदि वे तुरन्त नहीं दिखें तो हमें निरुत्साहित नहीं होना होगा। यदि कोई स्त्री विवाहित होने के बाद तुरन्त बच्चा चाहे तो उसे निराश होना पड़ेगा। तुरन्त बच्चा पा लेना सम्भव नहीं। उसे प्रतीक्षा करनी होगी। इसी तरह हम यह आशा नहीं कर सकते कि हम कृष्णभावनामृत में लगे हैं तो हमें तुरन्त कृष्ण दिख जायँ। हमें विश्वास रखना होगा कि वे हमें दिखेंगे। हममें दृढ विश्वास होना चाहिए कि चूँकि हम कृष्णभावनामृत

में लगे हुए हैं अतएव हमें कृष्ण का साक्षात्कार होगा। हमें निराश नहीं होना है। हमें अपनी कृष्णभावनाभावित गतिविधियाँ चालू रखनी चाहिए। एक ऐसा समय आवेगा जब हम कृष्ण को उसी तरह देख सकेंगे जिस तरह कुन्तीदेवी अपने समक्ष देख रही थीं। इसमें कोई संशय नहीं है।

भगवद्गीता में कहा गया है कि यदि कभी कोई व्यक्ति दुराचरण करता पाया जाय, किन्तु यदि वह स्थिर भाव से कृष्ण की सेवा करता हो तो उसे सन्त पुरुष ही मानना चाहिए। कभी कभी अमरीका या यूरोपीय भक्तों की निन्दा की जा सकती है, क्योंकि वे कभी कभी भद्दी भूलें कर सकते हैं जो भारत में प्रचलित अर्चाविग्रह की पूजाविधि से भिन्न हो किन्तु तो भी *भगवद्गीता* के अनुसार उन्हें सन्त रूप ही मानना चाहिए। हमें कृष्ण की निष्ठापूर्वक सेवा करने में अपने मन को एकाग्र करना चाहिए। तब, यदि कुछ त्रुटि भी होगी तो कृष्ण उसे क्षमा कर देंगे। रूपगोस्वामी कहते है—*तस्मात् केनाप्युपायेन मन: कृष्णे निवेशयेत्*—सर्वप्रथम हमें अपने मन को कृष्ण पर स्थिर करना चाहिए। तब अन्य विधि-विधानों का पालन करने की क्षमता स्वत: आ जावेगी। प्रारम्भ में हमें कृष्ण के चरणकमलों पर अपने मनों को स्थिर करने का भरसक प्रयत्न करना चाहिए। तब अन्य सारी बातें अपने आप ठीक हो लेंगी।

कुन्तीदेवी कृष्ण को *मधुपति* कहकर सम्बोधित करती हैं। कृष्ण के सहस्रों नाम हैं। मधुपति नाम यह बताता है कि उन्होंने मधु नामक असुर का संहार किया था। कृष्णभावनामृत नदी के तुल्य है किन्तु यह कोई साधारण नदी नहीं है। यह गंगानदी के समान है जो अत्यन्त शुद्ध है, कृष्ण से सीधे सम्बद्ध है। कुन्तीदेवी प्रार्थना करती हैं कि जिस प्रकार गंगा नदी समुद्र की ओर प्रवाहित होती है, उसी तरह उनका आकर्षण कृष्ण के चरणकमलों की ओर सतत प्रवाहित होता रहे। यह *अनन्य भक्ति* कहलाती है। इस तरह कुन्तीदेवी प्रार्थना करती हैं कि कृष्ण के प्रति उनका आकर्षण (आसक्ति) निर्विरोध प्रवाहित होता रहे।

२६. कृष्ण की महिमा से सम्मोहन

श्रीकृष्ण कृष्णसख वृष्ण्यृषभावनिध्रुग्
राजन्यवंशदहनानपवर्गवीर्य।
गोविन्द गोद्विजसुरातिहरावतार
योगेश्वराखिलगुरो भगवन्नमस्ते॥

हे श्रीकृष्ण, हे अर्जुनमित्र, हे वृष्णिकुल के प्रमुख! आप उन समस्त राजनीतिक दलों के ध्वंसक हैं जो इस धरा पर उपद्रव फैलाने वाले हैं। आपका शौर्य कभी घटता नहीं। आप परमधाम के स्वामी हैं और आप गायों, ब्राह्मणों तथा भक्तों के कष्टों को दूर करने के लिए अवतार लेते हैं। आपमें सारी योगशक्तियाँ हैं और आप समस्त विश्व के उपदेशक (गुरु) हैं। आप सर्वशक्तिमान ईश्वर हैं। मैं आपको सादर प्रणाम करती हूँ।

—(*श्रीमद्भागवत १.८.४३*)

यहाँ पर श्रीमती कुन्तीदेवी ने भगवान् श्रीकृष्ण को सार रूप में प्रस्तुत किया है। सर्वशक्तिमान भगवान् का अपना नित्य दिव्य धाम है जहाँ वे सुरभी गायों के पालन में व्यस्त रहते हैं। उनकी सेवा में लाखों लक्ष्मियाँ लगी रहती हैं। वे इस जगत में अपने भक्तों को उबारने तथा राजनीतिक दलों के उपद्रवकारी तत्वों एवं शासकों को विनष्ट करने के लिए अवतरित होते हैं। वे अपनी असीम शक्तियों से सृजन, पालन तथा संहार करते हैं, फिर भी वे सदैव शौर्य से पूर्ण रहते हैं और उनकी शक्ति कभी क्षीण नहीं होती। वे गायों, ब्राह्मणों तथा भगवद्भक्तों पर विशेष ध्यान रखते हैं क्योंकि जीवों के सामान्य कल्याण के लिए ये महत्वपूर्ण

कारक हैं।

कुन्ती कृष्ण को *कृष्ण-सख* कहकर पुकारती हैं, क्योंकि वे जानती हैं कि यद्यपि अर्जुन उनका पुत्र है अतएव वह उनके अधीन है, किन्तु कृष्ण अर्जुन से उनकी अपेक्षा अधिक घनिष्ठतापूर्वक जुड़े हुए हैं। *कृष्णा* द्रौपदी का भी नाम है, अतएव *कृष्ण-सख* शब्द द्रौपदी से कृष्ण के सम्बन्ध को भी बताता है। कृष्ण ने द्रौपदी की उस समय रक्षा की थी जब दुर्योधन तथा कर्ण उन्हें नंगी करना चाह रहे थे। कुन्ती ने कृष्ण को *वृष्णि-ऋषभ* भी कहा है जिसका अर्थ है वृष्णिकुल की सन्तान। चूँकि कृष्ण वृष्णि कुल में उत्पन्न हुए थे, इसीलिए यह कुल प्रसिद्ध बना जिस तरह मलेशिया तथा मलय पर्वत मलय (चन्दन) उत्पन्न करने के कारण प्रसिद्ध हुए।

कुन्तीदेवी ने कृष्ण को पृथ्वी को विचलित करनेवाले राजनीतिक दलों या राजकुलों का विध्वंसक भी कहा है। प्रत्येक राजतन्त्र में राजा का अत्यधिक सम्मान किया जाता है। क्यों? जब राजा मनुष्य है और अन्य नागरिक भी मनुष्य हैं तो फिर उसका इतना सम्मान क्यों? इसका उत्तर यह है कि गुरु की ही तरह राजा ईश्वर का प्रतिनिधि होता है। वैदिक वाङ्मय में कहा गया है—*आचार्यं मां विजानीयान् नावमन्येत कर्हिचित्* (भागवत ११.१७.२७)—गुरु को सामान्य व्यक्ति नहीं मानना चाहिए। इसी तरह राजा या राष्ट्रपति भी सामान्य व्यक्ति नहीं होता।

संस्कृत भाषा में राजा को *नरदेव* कहा जाता है जिसका अर्थ है "मनुष्य के रूप में ईश्वर"। उसका कर्तव्य कृष्ण के ही जैसा होता है। जिस तरह ईश्वर ब्रह्माण्ड में सर्वोच्च जीव है और अन्य जीवों का पालनकर्ता है उसी तरह राजा राज्य में सर्वोच्च नागरिक होता है और अन्यों के कल्याण के लिए उत्तरदायी होता है।

जिस तरह हम जीव हैं उसी तरह कृष्ण या ईश्वर भी जीव हैं। कृष्ण निर्विशेष या निराकार नहीं हैं। चूँकि हम सभी व्यष्टि हैं और हमारा ज्ञान तथा ऐश्वर्य सीमित है, अतएव निर्विशेषवादी इस विचार से सहमत नहीं हो पाते कि सर्व कारणों के कारण रूप आदि ब्रह्म भी पुरुष हो सकता है। चूँकि हम सीमित हैं और ईश्वर असीम है, अतएव मायावादी या निर्विशेषवादी अपने अल्पज्ञान के कारण सोचते हैं कि ईश्वर को निर्विशेष होना चाहिए। वे भौतिक उपमा का सहारा लेते हैं। जिस तरह आकाश, जिसे हम असीम मानते हैं, निर्विशेष है उसी तरह यदि ईश्वर असीम है तो उसे भी निर्विशेष होना चाहिए।

किन्तु यह वैदिक शिक्षा नहीं है। वेद यह शिक्षा देते हैं कि ईश्वर पुरुष है। कृष्ण पुरुष हैं और हम भी पुरुष हैं, किन्तु अन्तर यह है कि वे पूज्य हैं और हम पूजक हैं। राजा या राष्ट्रपति पुरुष होता है और नागरिक भी पुरुष होते हैं, किन्तु अन्तर इतना ही रहता है कि राष्ट्रपति या राजा महापुरुष होता है जिसका सम्मान किया जाना चाहिए तो इतने लोग किसी एक व्यक्ति की पूजा क्यों करें? क्योंकि वह एक व्यक्ति अन्यों का भरण करता है। *एको बहूनां यो विदधाति कामान्*। ईश्वर एक है और हम अनेक हैं, किन्तु उसकी पूजा की जाती है, क्योंकि वह सबों का भरण करता है—भोजन तथा जीवन की अन्य आवश्यकताओं की पूर्ति करने वाला होता है। हमें जल चाहिए अत: ईश्वर ने जल के सागरों की व्यवस्था की जिनमें लवण मिला रहता है जिससे जल का संरक्षण होता है। फिर हमें पेय जल चाहिए अत: ईश्वर की व्यवस्था से समुद्र का जल सूर्य की धूप से भाप बनकर उड़ता है। जरा देखें कि किस तरह ईश्वर हर एक की आवश्यक वस्तुएँ प्रदान करता है।

सामान्य जीवन में भी राज्य के पास ऊर्जा विभाग, बिजली विभाग, नलकारी विभाग होते हैं। क्यों? क्योंकि हमें इन्ही सुविधाओं की आवश्यकता पड़ती है। किन्तु ये व्यवस्थाएँ गौण हैं, सर्वोपरि व्यवस्था तो ईश्वर की है। ईश्वर ही मूलत: उष्मा, प्रकाश तथा जल प्रदान करता है। हमारे कुँओं तथा जलाशयों को पूरित करने वाला वर्षाजल ईश्वर द्वारा ही प्रदत्त है। अतएव ईश्वर आदि-पूर्तिकर्ता है।

ईश्वर बुद्धिमान पुरुष है जो जानता है कि हमें ऊर्जा, प्रकाश, जल आदि की आवश्यकता होती है। जल के बिना हम अन्न नहीं उपजा सकते। यहाँ तक कि जो लोग मांस खाते हैं वे भी ईश्वर की व्यवस्था के बिना ऐसा नहीं कर सकते, क्योंकि यह मांस पशुओं से मिलता है जिन्हें घास की जरूरत होती है। इस तरह भोजन प्रदान करने वाला ईश्वर ही है फिर भी हम उनके प्रति विद्रोह करते रहते हैं। *द्रुक्* शब्द विद्रोह का सूचक है। जो मूढ़जन ईश्वर के नियम के विरुद्ध जाते हैं वे विद्रोही हैं।

राजा का कर्तव्य है कि वह कृष्ण या ईश्वर के प्रतिनिधि के रूप में भूमिका निभावे। अन्यथा नागरिकों से इतना सम्मान पाने का उसे अधिकार कहाँ है? पहले हर देश में राजतन्त्र था, किन्तु जब राजाओं ने ईश्वर के विरुद्ध विद्रोह किया और उनके नियमों का उल्लंघन किया तो संसार के सारे राजतन्त्र प्राय: लुप्त हो गये। राजाओं ने सोचा कि उनके साम्राज्य उनकी निजी सम्पत्ति हैं। उन्होंने सोचा "मेरे पास इतनी सम्पत्ति, इतना

विशाल साम्राज्य है। मैं ईश्वर हूँ, सर्वेसर्वा हूँ।" किन्तु वास्तविकता यह नहीं है। यथार्थ तो यह है कि हरवस्तु ईश्वर की है (*ईशावास्यमिदं सर्वम्*)। अतएव ईश्वर के प्रतिनिधि को ईश्वर का अत्यन्त आज्ञाकारी होना चाहिए। तभी उसका पद वैध होगा।

लोभी, स्वार्थी राजा उन झूठे गुरुओं के समान होते हैं जो अपने को ईश्वर घोषित करते हैं। चूँकि ऐसे झूठे गुरु विद्रोही होते हैं, अतएव उनका कोई सम्मान (पद) नहीं होता। गुरु से आशा की जाती है कि वह ईश्वर न बने अपितु ईशभावनामृत या कृष्णभावनामृत का विस्तार करके ईश्वर के अत्यन्त विश्वस्त सेवक की तरह कार्य करे। विश्वनाथ चक्रवर्ती ठाकुर कहते हैं—*साक्षाद्धरित्वेन समस्त शास्त्रैरुक्तः*—सारे शास्त्रों का कहना है कि गुरु का सम्मान भगवान् के ही समान किया जाना चाहिए। इस तरह यह विचार कि गुरु ईश्वर तुल्य होता है भोंडा नहीं है। इसका वर्णन शास्त्रों में मिलता है, अतएव जो लोग आध्यात्मिक जीवन में अग्रणी हैं वे इस आध्यात्मिक आदेश को स्वीकार करते हैं (*उक्तस्तथा भाव्यत एव सद्भिः*)। तो क्या गुरु ईश्वर तुल्य होता है? *किन्तु प्रभोर्यः प्रिय एव तस्य*—गुरु ईश्वर नहीं है, किन्तु ईश्वर का विश्वस्त प्रतिनिधि है। अन्तर उतना ही है जितना *सेव्य भगवान्* तथा *सेवक-भगवान्* में होता है। गुरु ईश्वर है और कृष्ण ईश्वर हैं, किन्तु कृष्ण सेव्य भगवान् हैं और गुरु सेवक भगवान् होता है।

मायावादी जन इसे नहीं समझ सकते। वे सोचते हैं "चूँकि गुरु को ईश्वर के रूप में स्वीकार किया जाना है और चूँकि मैं गुरु हूँ, अतएव मैं ईश्वर बन चुका हूँ।" यह विद्रोहपरक है। जिन्हें ईश्वर ने पद दिया है किन्तु जो उन्हीं की शक्ति को छीन लेना चाहते हैं, जो उनके वश में नहीं हैं वे विद्रोही मूढ तथा धूर्त हैं जिन्हें दण्डित होना चाहिए। इसीलिए कुन्तीदेवी कहती हैं—*अवनि-ध्रुग्-राजन्यवंश-दहन*—आप उन धूर्तों का वध करने आते हैं जो विद्रोह करके आपके पद के दावेदार बनते हैं। जब विविध राजा या जमींदार किसी सम्राट के अधीन होते हैं तो कभी कभी वे बगावत (विद्रोह) कर देते हैं और कर चुकाने से इनकार करते हैं। इसी तरह से विद्रोही व्यक्ति हैं जो ईश्वर की सर्वश्रेष्ठता से इनकार करते हैं और अपने को ईश्वर घोषित करते हैं। इनका बध करना ही कृष्ण का कार्य है।

अनपवर्ग शब्द सूचित करता है कि कृष्ण का शौर्य क्षीण नहीं होता। यह शब्द *पवर्ग* का विलोम है, जो भौतिक कष्ट के मार्ग का द्योतन

करता है। पवर्ग प, फ, ब, भ तथा म अक्षरों का भी सूचक है। जब पवर्ग का प्रयोग भौतिक कष्टों के मार्ग के द्योतन के लिए किया जाता है इसका अर्थ इन पाँचों अक्षरों से प्रारम्भ होने वाले शब्दों के रूप में समझा जाता है। प *परिश्रम* के लिए आता है। इस जगत में अपने भरणपोषण के लिए मनुष्य को परिश्रम करना पड़ता है। *भगवद्गीता* में (३.८) कहा गया है—*शरीरयात्रापि च ते न प्रसिद्ध्येदकर्मण:*—काम किये बिना मनुष्य अपने शरीर तक का पालन नहीं कर सकता। कृष्ण ने कभी अर्जुन को यह सलाह नहीं दी, "मैं तुम्हारा मित्र हूँ। मैं सारा काम कर दूँगा। तुम बैठो और गाँजा फूँको।" कृष्ण हर काम कर रहे थे फिर भी उन्होंने अर्जुन से कहा, "तुम्हें लड़ना चाहिए।" न ही अर्जुन ने कृष्ण से यह कहा, "आप मेरे महान मित्र हैं। अच्छा हो कि आप युद्ध करें और मुझे बैठकर गाँजा फूँकने दें।" नहीं। यह कृष्णभावनामृत नहीं है। ईशभावनाभावित व्यक्ति यह नहीं कहता कि, "हे ईश्वर! आप मेरे लिए हर कार्य कर दें और मुझे गाँजा फूँकने दें।" उल्टे, ईशभावनाभावित व्यक्ति को ईश्वर के लिए कार्य करना चाहिए। यदि वह ईश्वर के निमित्त कार्य न भी करे तो उसे कार्य करते रहना चाहिए, क्योंकि कार्य के बिना अपने शरीर का भी पालन-पोषण सम्भव नहीं है। इसलिए यह संसार *परिश्रम* करने के लिए बना है।

पशुओं का राजा होते हुए भी सिंह को जंगल में अपने शिकार की खोज करनी पड़ती है। कहा जाता है—*न हि सुप्तस्य सिंहस्य प्रविशन्ति मुखे मृगा:*। सिंह को यह नहीं सोचना "चूँकि मैं जंगल का राजा हूँ, अत: मैं तो सोने जा रहा हूँ। सारे पशु मेरे मुँह के भीतर चले आऐंगे।" यह सम्भव नहीं—"आप भले ही सिंह हों, किन्तु आपको अपना भोजना खोजना होगा।" इस तरह अत्यन्त शक्तिशाली होते हुए भी सिंह को अपने भोजन के लिए दूसरा पशु पाने के लिए उद्योग करना होता है। इसी तरह इस जगत के हर व्यक्ति को अपना जीवन बनाये रखने के लिए कठिन परिश्रम करनी चाहिए।

फ *फेनिल* को बताने वाला है जिसका अर्थ "फेन" है। कठोर परिश्रम करते समय घोड़े के मुख से फेन निकलता है। इसी तरह, मनुष्यों को भी कठिन परिश्रम करना चाहिए। किन्तु ऐसा श्रम *व्यर्थ* है। ब शब्द से यही सूचित होता है। भ *भय* का सूचक है। इतने कठिन परिश्रम के बाद भी मनुष्य डरता रहता है कि हो सकता है उसकी इच्छानुकूल बातें न बनें। शरीर का स्वभाव है कि वह खाने, सोने, संभोग करने

तथा भयभीत रहने में व्यस्त रहता है (*आहारनिद्राभयमैथुनञ्च*)। यद्यपि मनुष्य को उत्तम भोजन मिल सकता है, किन्तु उसे विचार करना चाहिए कि कहीं अधिक तो नहीं खा रहा जिससे वह बीमार पड़ जाय। इस तरह भोजन करने में भी भय लगा रहता है। पक्षी भी खाते समय इधर उधर ताकता है और भयभीत रहता है कि कहीं कोई शत्रु न आ रहा हो। और सारे जीवों के लिए हर वस्तु का अन्त *मृत्यु* में है जो *म* अक्षर से सूचित होता है।

इस तरह *पवर्ग* तथा इसके घटक अक्षर प, फ, ब, भ, म परिश्रम, फेनिल, व्यर्थ (हताश), भय तथा मृत्यु को सूचित करते हैं। इसे ही पवर्ग अर्थात् भौतिक कष्ट का मार्ग कहते हैं। किन्तु *अपवर्ग* इसका विलोमार्थी है—आध्यात्मिक जगत का जहाँ न परिश्रम है, न फेन, न हताशा, न भय, न मृत्यु। इस तरह कृष्ण *अनपवर्ग वीर्य* कहलाते हैं क्योंकि वे आध्यात्मिक जगत का मार्ग दिखलाते हैं।

लोग इन पाँच-प्रकार के कष्टों को क्यों भोगते हैं? क्योंकि उन्हें भौतिक शरीर मिला है। शरीर ग्रहण करते ही, चाहे वह राष्ट्रपति हो या सामान्य व्यक्ति, देवता या मनुष्य, कीट या ब्रह्मा—उसे कष्ट झेलना पड़ेगा। यही संसार (भव) है। इसलिए कृष्ण मनुष्य को अपवर्ग का मार्ग—इन कष्टों से छुटकारा—दिखाने के लिए आते हैं और जब कृष्ण यह मार्ग दिखावें तो हमें स्वीकार कर लेना चाहिए। कृष्ण स्पष्ट शब्दों में कहते हैं—मेरी शरण में आओ तो मैं तुम्हें अपवर्ग प्रदान करूँगा। *अहं त्वां सर्वपापेभ्यो मोक्षयिष्यामि*—मैं तुम्हें संरक्षण प्रदान करूँगा। कृष्ण के पास वह शक्ति है जिससे वे इस गारंटी को पूरा कर सकते हैं।

कुन्तीदेवी कृष्ण को गोविन्द कहकर पुकारती हैं, क्योंकि वे गौवों तथा इन्द्रियों दोनों को आनन्द प्रदान करने वाले हैं। *गोविन्दमादिपुरुषं तमहं भजामि*। गोविन्द या कृष्ण कहते हैं—लोगों को यह नहीं सोचना चाहिए कि ब्रह्मा, विष्णु तथा शिव सभी वस्तओं के उद्गम हैं। कृष्ण कहते हैं—*अहमादिर्हि देवानाम्*—मैं देवताओं का भी उद्गम हूँ। इसीलिए हम बारम्बार कहते हैं कि हम अन्य किसी की नहीं बल्कि आदि पुरुष की पूजा करते हैं (*गोविन्दमादि पुरुषं तमहं भजामि*)।

जब कुन्ती *गोद्विजसुरार्तिहरावतार* कहकर प्रार्थना करती हैं तो गोविन्द या कृष्ण गौवों, ब्राह्मणों तथा भक्तों की रक्षा करने के निमित्त इस जगत में अवतरित होते हैं। इस जगत के आसुरी लोग गौवों के सबसे बड़े शत्रु हैं क्योंकि वे हजारों कसाईघर चलाते हैं। यद्यपि निर्दोष गौवें सबसे

महत्वपूर्ण भोजन, दूध, देती हैं, यद्यपि वे मरने के बाद भी जूतों के लिए चमड़ा प्रदान करतीं हैं, किन्तु लोग इतने धूर्त हैं कि वे इन गौवों का बध करते हैं और इतने पर भी वे इस जगत में सुखी रहना चाहते हैं। वे कितने पापी हैं!

गो-रक्षा के लिए इतनी दलील क्यों दी जाती है? क्योंकि गाय सबसे महत्वपूर्ण पशु है। ऐसा कोई आदेश नहीं कि मनुष्य बाघों या अन्य ऐसे ही पशुओं का मांस न खावे। वैदिक संस्कृति में उन लोगों के लिए जो मांसाहारी हैं, संस्तुति की जाती है कि वे बकरे, कुत्ते, सुअर या अन्य छोटे पशुओं का मांस खावें। गौवों का मांस न खायँ क्योंकि यह सबसे महत्वपूर्ण पशु है। जीवित रहते हुए गौवें दूध देकर महत्वपूर्ण सेवा करती हैं और मरने पर भी अपना चाम, खुर, सींग प्रदान करती हैं जिनका उपयोग नाना प्रकार से किया जा सकता है। तिस पर भी वर्तमान मानव समाज इतना कृतघ्न है कि वह निर्दोष गौवों का बध करता है। इसीलिए कृष्ण उन्हें दण्ड देने आते हैं।

कृष्ण की पूजा इस श्लोक से की जाती है—

नमो ब्रह्मण्यदेवाय गोब्राह्मणहिताय च।
जगद्धिताय कृष्णाय गोविन्दाय नमो नमः॥

"हे प्रभु! आप गौवों तथा ब्राह्मणों के हितैषी हैं। आप समस्त मानव समाज तथा जगत के हितैषी हैं।" पूर्ण मानव समाज के लिए *गो-द्विज* अर्थात् गौवों तथा ब्राह्मणों की रक्षा होनी चाहिए। *द्विज* से ब्राह्मण या ब्रह्म जानने वाले का बोध होता है। जब आसुरी लोग ब्राह्मणों तथा गौवों को अत्यधिक सताते हैं तो धर्म की पुनःस्थापना करने के लिए कृष्ण अवतरित होते हैं। *भगवद्गीता* में (४.७) भगवान् कहते हैं—

यदा यदा हि धर्मस्य ग्लानिर्भवति भारत।
अभ्युत्थानमधर्मस्य तदात्मानं सृजाम्यहम्॥

"हे भरतवंशी! जब भी और जहाँ भी धर्म का ह्रास होता है तथा अधर्म की प्रधानता होती है तब मैं अवतार लेता हूँ।" वर्तमान युग कलियुग है जिसमें लोग अत्यन्त पापी हैं जिसके फलस्वरूप वे अत्यधिक कष्ट उठा रहे हैं। इसीलिए कृष्ण ने अपने नाम के रूप में अवतार लिया है। यह नाम हरे कृष्ण महामन्त्र में पाया जाता है।

महारानी कुन्ती ने भगवान् से निज यश की आंशिक व्याख्या करने

के लिए प्रार्थना की। उनकी प्रार्थना सुनकर भगवान् हँसने लगे। उनकी यह हँसी उनकी योग शक्ति जैसी ही मोहक थी। बद्धजीव जो इस जगत पर अपना प्रभुत्व जताने के लिए प्रयत्नशील हैं वे भी भगवान् की योगशक्ति से मोहित हैं किन्तु उनके भक्तगण भगवान् के यश द्वारा विभिन्न प्रकार से मोहित रहते हैं। इस तरह सारे भक्त चुने हुए शब्दों से भगवान् की पूजा करते हैं। भगवान् के यश की गणना करने के लिए चुने शब्द अपर्याप्त हैं फिर भी वे ऐसी प्रार्थनाओं से संतुष्ट होते हैं जिस तरह पिता अपने शिशु की तोतली बोली से ही तुष्ट रहता है। अतः भगवान् मुसकाने लगे और उन्होंने महारानी कुन्ती की प्रार्थनाएँ स्वीकार कर लीं।

लेखक-परिचय

कृष्णकृपाश्रीमूर्ति श्री श्रीमद् ए.सी. भक्तिवेदान्त स्वामी प्रभुपाद का जन्म १८९६ ई. में भारत के कलकत्ता नगर में हुआ था। अपने गुरु महाराज श्रील भक्तिसिद्धान्त सरस्वती गोस्वामी से १९२२ में कलकत्ता में उनकी प्रथम भेंट हुई। एक सुप्रसिद्ध धर्म तत्त्ववेत्ता, अनुपम प्रचारक, विद्वान् -भक्त, आचार्य एवं चौसठ गौड़ीय मठों के संस्थापक श्रील भक्तिसिद्धान्त सरस्वती को ये सुशिक्षित नवयुवक प्रिय लगे और उन्होंने वैदिक ज्ञान के प्रचार के लिए अपना जीवन उत्सर्ग करने की इनको प्रेरणा दी। श्रील प्रभुपाद उनके छात्र बने और ग्यारह वर्ष बाद (१९३३ ई.) प्रयाग (इलाहाबाद) में उनके विधिवत् दीक्षा- प्राप्त शिष्य हो गये।

अपनी प्रथम भेंट, १९२२ ई. में ही श्रील भक्तिसिद्धान्त सरस्वती ठाकुर ने श्रील प्रभुपाद से निवेदन किया था कि वे अंग्रेजी भाषा के माध्यम से वैदिक ज्ञान का प्रसार करें। आगामी वर्षों में श्रील प्रभुपाद ने श्रीमद्भगवद्गीता पर एक टीका लिखी, गौड़ीय मठ के कार्य में सहयोग दिया तथा १९४४ ई. में बिना किसी की सहायता के एक अंग्रेजी पाक्षिक पत्रिका आरम्भ की जिसका सम्पादन, पाण्डुलिपि का टंकण और मुद्रित सामग्री के प्रूफ शोधन का सारा कार्य वे स्वयं करते थे। उन्होंने एक एक प्रति निःशुल्क बाँटकर भी इसके प्रकाशन को बनाये रखने के लिए संघर्ष किया। एक बार आरम्भ होकर फिर यह पत्रिका कभी बन्द नहीं हुई। अब यह उनके शिष्यों द्वारा पश्चिमी देशों में भी चलाई जा रही है और तीस से अधिक भाषाओं में छप रही है।

श्रील प्रभुपाद के दार्शनिक ज्ञान एवं भक्ति की महत्ता पहचान कर "गौड़ीय वैष्णव समाज" ने १९४७ ई. में उन्हें भक्तिवेदान्त की उपाधि से सम्मानित किया। १९५० ई. में चौवन वर्ष की अवस्था में श्रील प्रभुपाद ने गृहस्थ जीवन से अवकाश

लेकर वानप्रस्थ ले लिया जिससे वे अपने अध्ययन और लेखन के लिए अधिक समय दे सकें। तदनन्तर श्रील प्रभुपाद ने श्री वृन्दावन धाम की यात्रा की, जहाँ वे बड़ी ही सात्त्विक परिस्थितियों में मध्यकालीन ऐतिहासिक श्रीराधा-दामोदर मन्दिर में रहे। वहाँ वे अनेक वर्षों तक गम्भीर अध्ययन एवं लेखन में संलग्न रहे। १९५९ ई. में उन्होंने संन्यास ग्रहण कर लिया। श्रीराधा-दामोदर मन्दिर में ही श्रील प्रभुपाद ने अपने जीवन के सबसे श्रेष्ठ और महत्त्वपूर्ण ग्रंथ का आरम्भ किया था। यह ग्रन्थ था अठारह हजार श्लोक संख्या के श्रीमद्भागवत पुराण का अनेक खण्डों में अंग्रेजी में अनुवाद और व्याख्या। वहीं उन्होंने "अन्य लोकों की सुगम यात्रा" नामक पुस्तिका भी लिखी थी।

श्रीमद्भागवत के प्रारम्भ के तीन खण्ड प्रकाशित करने के बाद श्रील प्रभुपाद सितम्बर १९६५ ई. में अपने गुरुदेव का धर्मानुष्ठान पूरा करने के लिए संयुक्त राज्य अमेरिका गये। तद्पश्चात् श्रील प्रभुपाद ने भारतवर्ष के श्रेष्ठ दार्शनिक और धार्मिक ग्रन्थों के प्रामाणिक अनुवाद, टीकाएँ एवं संक्षिप्त अध्ययन-सार के रूप में साठ से अधिक ग्रन्थ-रत्न प्रस्तुत किये।

१९६५ ई. में जब श्रील प्रभुपाद एक मालवाहक जलयान द्वारा प्रथम बार न्यूयार्क नगर में आये तो उनके पास एक पैसा भी नहीं था। अत्यन्त कठिनाई भरे लगभग एक वर्ष के बाद जुलाई १९६६ ई. में उन्होंने, "अन्तर्राष्ट्रीय कृष्णभावनामृत संघ" की स्थापना की। १४ नवम्बर १९७७ ई. को, कृष्ण-बलराम मन्दिर, श्रीवृन्दावन धाम में अप्रकट होने के पूर्व तक श्रील प्रभुपाद ने अपने कुशल मार्ग-निर्देशन के कारण इस संघ को विश्वभर में सौ से अधिक मन्दिरों के रूप में आश्रमों, विद्यालयों, मन्दिरों, संस्थाओं और कृषि-समुदायों का वृहद् संगठन बना दिया।

१९६८ ई. में श्रील प्रभुपाद ने प्रयोग के रूप में, वैदिक समाज के आधार पर पश्चिमी वर्जीनिया की पहाड़ियों में एक नव-वृन्दावन की स्थापना की। दो हजार एकड़ से भी अधिक के इस समृद्ध नव-वृन्दावन के कृषि-क्षेत्र से प्रोत्साहित होकर उनके शिष्यों ने संयुक्त राज्य अमेरिका तथा अन्य देशों में भी ऐसे अनेक समुदायों की स्थापना की।

१९७२ ई. में श्रील प्रभुपाद ने डल्लास, टेक्सास में गुरुकुल विद्यालय की

स्थापना द्वारा पश्चिमी देशों में प्राथमिक और माध्यमिक शिक्षा की वैदिक प्रणाली का सूत्रपात किया। तब से, उनके निर्देशन के अनुसार श्रील प्रभुपाद के शिष्यों ने सम्पूर्ण विश्व में दस से अधिक गुरुकुल खोले हैं। श्रीवृन्दावन धाम का भक्तिवेदान्त स्वामी गुरुकुल इनमें सर्वप्रमुख है।

श्रील प्रभुपाद ने श्रीधाम-मायापुर, पश्चिम बंगाल में एक विशाल अन्तर्राष्ट्रीय केन्द्र के निर्माण की प्रेरणा दी। यहीं पर वैदिक साहित्य के अध्ययनार्थ सुनियोजित संस्थान की योजना है, जो अगले दस वर्ष तक पूर्ण हो जाएगा। इसी प्रकार श्रीवृन्दावन धाम में भव्य कृष्ण-बलराम मन्दिर और अन्तर्राष्ट्रीय अतिथि भवन तथा श्रील प्रभुपाद-स्मृति संग्रहालय का निर्माण हुआ है। ये वे केन्द्र हैं जहाँ पाश्चात्य लोग वैदिक संस्कृति का मूल रूप से प्रत्यक्ष अनुभव प्राप्त कर सकते हैं। मुंबई में भी श्रीराधारासबिहारीजी मन्दिर के रूप में एक विशाल सांस्कृतिक एवं शैक्षणिक केन्द्र का विकास हो चुका है। इसके अतिरिक्त भारत में बारह अन्य महत्त्वपूर्ण स्थानों में हरे कृष्ण मन्दिर खोलने की योजना कार्याधीन है।

किन्तु, श्रील प्रभुपाद का सबसे बड़ा योगदान उनके ग्रन्थ हैं। ये ग्रन्थ विद्वानों द्वारा अपनी प्रामाणिकता, गम्भीरता और स्पष्टता के कारण अत्यन्त मान्य हैं और अनेक महाविद्यालयों में उच्चस्तरीय पाठ्यग्रन्थों के रूप में प्रयुक्त होते हैं। श्रील प्रभुपाद की रचनाएँ ५० से अधिक भाषाओं में अनूदित हैं। १९७२ ई. में केवल श्रील प्रभुपाद के ग्रन्थों के प्रकाशन के लिए स्थापित भक्तिवेदान्त बुक ट्रस्ट, भारतीय धर्म और दर्शन के क्षेत्र में विश्व का सबसे बड़ा प्रकाशक हो गया है। इस ट्रस्ट का एक अत्यधिक आकर्षक प्रकाशन श्रील प्रभुपाद द्वारा केवल अठारह मास में पूर्ण की गई उनकी एक अभिनव कृति है जो बंगाली धार्मिक महाग्रन्थ श्रीचैतन्यचरितामृत का सत्रह खण्डों में अनुवाद और टीका है।

बारह वर्षों में, अपनी वृद्धावस्था की चिन्ता न करते हुए परिव्राजक (व्याख्यान-पर्यटक) के रूप में श्रील प्रभुपाद ने विश्व के छहों महाद्वीपों की चौदह परिक्रमाएँ कीं। इतने व्यस्त कार्यक्रम के रहते हुए भी श्रील प्रभुपाद की उर्वरा लेखनी अविरत चलती रहती थी। उनकी रचनाएँ वैदिक दर्शन, धर्म, साहित्य और संस्कृति के एक यथार्थ पुस्तकालय का निर्माण करती हैं। ✳

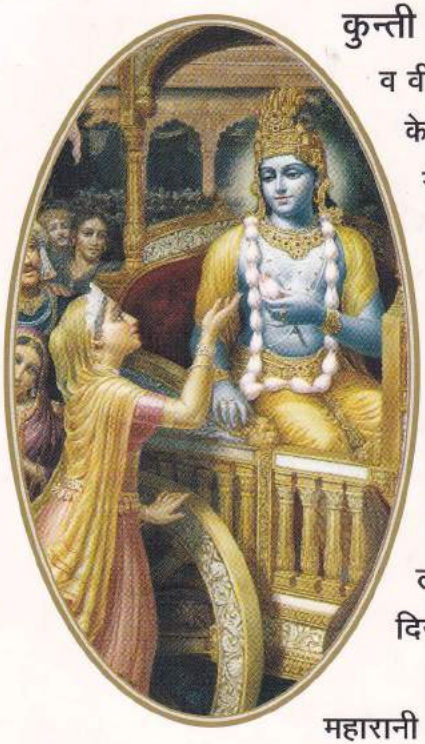

कुन्ती महारानी, यह एक करुणरसप्रधान व वीरतापूर्ण व्यक्तित्व है, जो प्राचीन भारत के इतिहास के एक स्फोटक पर्व में दृष्टिगोचर होता है। वे विश्व साम्राज्यपद के लिए लड़े गए एक रक्तरंजित भ्रातृ-घातक युद्ध के प्रवर्त्तक एक जटिल राजनीतिक नाटक की एक प्रमुख पात्र हैं। तथापि उनके सम्पूर्ण क्लेशों में उन्हें एक आंतरिक प्रबोध तथा शक्ति का अनुभव होता है, जो उन्हें तथा उनके लोगों को संकट की घड़ियों में मार्ग दिखाता है।

महारानी कुन्ती की शिक्षाएँ उनके महान् तथा साध्वी व्यक्तित्व के सरलतापूर्ण तथा प्रकाश-सज्जित भावोद्‌गार हैं, जो हृदय की गहनतम दिव्य भावनाओं को प्रकट करते हुए बुद्धि के सूक्ष्मतम दार्शनिक तथा आध्यात्मिक तरंगों को भी प्रकट करते हैं।

यहाँ पर वैदिक संस्कृति तथा दर्शन के विश्व के सबसे प्रसिद्ध आचार्य कृष्णकृपामूर्ति श्री श्रीमद् ए.सी. भक्तिवेदान्त स्वामी प्रभुपाद "महारानी कुन्ती की शिक्षाएँ" प्रस्तुत करते हैं जो अपनी स्पष्टता तथा शक्ति से वाचकों को विस्मित कर देते हैं।